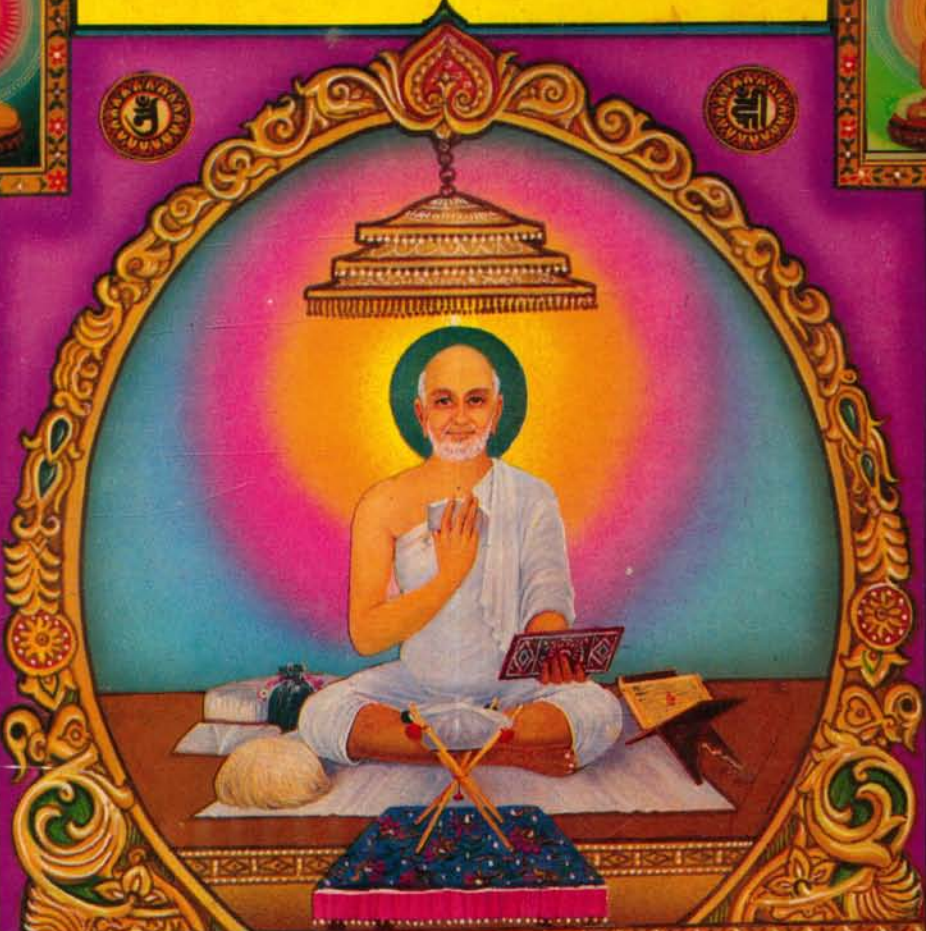


श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्रम्



श्री उमास्वातिजी

३

तस्योपरि

४

सुबोधिका टीका तथा हिन्दी विवेचनामृतम्

कर्ता

आचार्य विजय सुशील सूरिः



जन्म- वि. स. १९७३, भाद्रपद शुक्ला द्वादशी,
चाणम्मा (उत्तर गुजरात) २८-६-१७

दोसा- वि. सं. १६८८, कार्तिक (मृगशीर्ष) कृष्ण २,
उदयपुर (राज. मैवाड़) २७-११-३१

गणि पदवी- वि. सं. २००७, कार्तिक (मृगशीर्ष)
कृष्णा ६, वैरावल (गुजरात) १-१२-५०

પન્યાસ પદવી- વિ. સં. ૨૦૦૭, વૈશાખ શુક્લા ૩
(અક્ષય તૃતીયા) અહમદાબાદ (ગુજરાત) ૬-૪-૫

उपाध्याय पद- वि. सं. २०२१, माघ शुक्ला ३,
मंडारा (राजस्थान) ४-२-६५

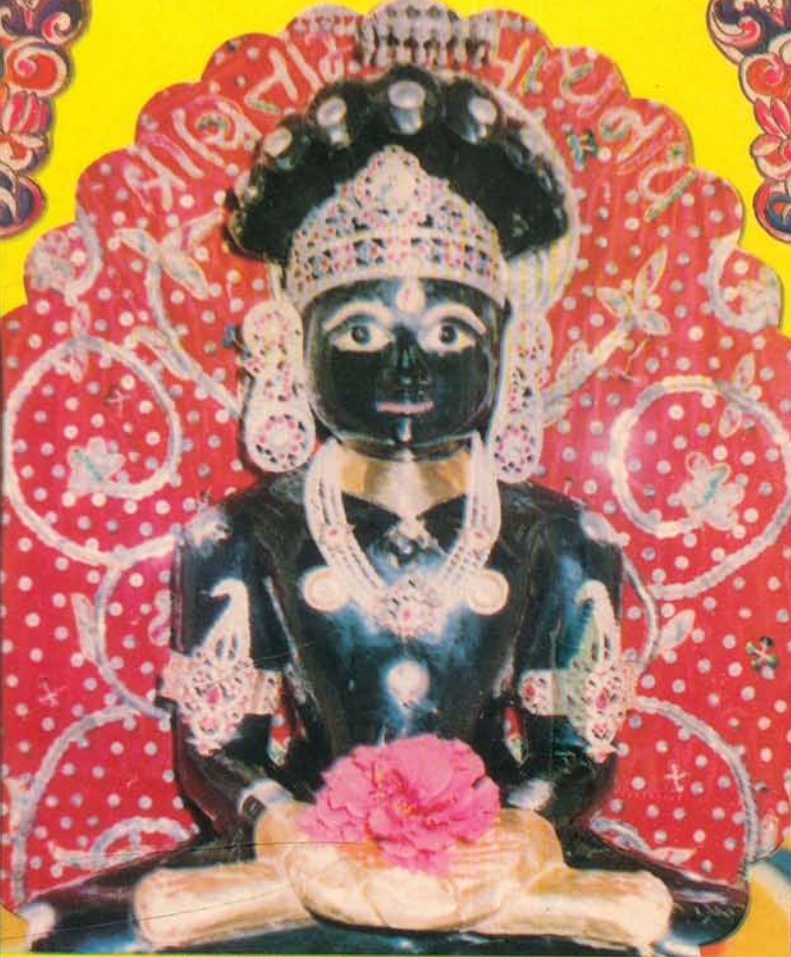
प्राचार्य पद - वि. सं. २०२१, माघ शुक्ला ५
(वसन्त पंचमी) मुंडारा ६-२-६५

पुत्रपाद श्री प.पु. सुरिचक्रचक्रवर्ती आचार्यदेव श्रीमद् विजय नेमिसुरीश्वरजी म.सा. के पट्टालकार साहित्य-सम्राट आचार्यप्रवर श्रीमद् विजय लावण्यसुरीश्वरजी म.सा. के पट्टविपुषण कति-दिवाकर आचार्यवर्य श्रीमद् विजय दक्षसुरीश्वरजी म.सा. के पट्टधर हैं जो परम तपस्वी, महाकवि तथा लोकनायक हैं। जगत्-कल्याण के लिए सदा जागृक हैं। आप भगवान् महावीर के अहिंसामत की पिलाने हेतु ६० वर्षों से घर-घर, नगर-नगर और ग्राम-ग्राम पैदल विहार कर रहे हैं। आपकी सौम्यता की उपमा अमृत निर्झर से दी जाती है। शीतलता के तो मानो आप हिमसमुद्र हैं और विराट्ता की तुलना हिमगिरि से करना उपयुक्त होगा। आपने राजस्थान की महर्भूमि को ज्ञान-पंगा से प्रवाहित करने हेतु इसे ही अपनी कर्मभूमि बनाया है। आपने लगभग १२७ से भी अधिक पुस्तकों की रचना की है। साहित्य-सृजन का आपका उद्देश्य है मानवीय मूल्यों-प्रेम, सौंदर्य, करुणा, प्रभुभक्ति और परमाध्यत्यों को जगृत् करना। आपकी लघुता में विन्य की पराक्राम्य झलकी है। ज्ञान-गरिमा

(शेष अन्तिम पन्थि पर)

[illegible]

श्री बिजोवा नगर-मंडण
प्रगटप्रभावी - पुरुषादानीय - महाचमत्कारिक
श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ भगवान्



ॐ ह्रीं श्रीं धरणेन्द्र - पद्मावती-परिपूजिताय
श्रीचिन्तामणिपार्श्वनाथाय नमो नमः

卐 श्रीनेमि-सावण्य-वक्ष-सुशील-ग्रन्थमालारत्न ८५ वां 卐

पूर्वधर-परमर्षि-सुप्रसिद्ध
श्रीउमास्वातिवाचक-प्रवरेण
विरचितम्

卐 श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् 卐

[तृतीयश्चतुर्थोऽध्यायः]

— तस्योपरि —

शासनसम्राट्-सूरिचक्रचक्रवर्ति-तपोगच्छाधिपति-महाप्रभावशालि-परम-
पूज्याचार्यमहाराजाधिराज श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वराणां दिव्यपट्टालंकार-
साहित्यसम्राट्-व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्न-परमपूज्याचार्यप्रवर
श्रीमद्विजयलावण्यसूरीश्वराणां प्रधानपट्टधर-शास्त्रविशारद -- कविदिवाकर-
व्याकरणरत्न-परमपूज्याचार्यवर्य श्रीमद्विजयवक्षसूरीश्वराणां सुप्रसिद्धपट्टधर-
शास्त्रविशारद-साहित्यरत्न-कविभूषणोत्तिपदसमलङ्कृतेन
आचार्यश्रीमद्विजयसुशीलसूरिणा

— विरचिता —

‘सुबोधिका टीका’ एवं तस्य सरलहिन्दीभाषायां विवेचनामृतम्



❀ प्रकाशक ❀

श्री सुशील साहित्य-प्रकाशन समिति

C/o संघवी श्री गुणदयालचन्द भण्डारी

राइका बाग, मु. जोधपुर (राजस्थान)

❀ सम्पादक: ❀

जैनधर्मदिवाकर-शासनरत्न-सीर्थप्रभावक-
राजस्थानदीपक-मरुधरदेशोद्धारक-
परमपूज्य आचार्यदेव
श्रीमद्विजयसुशीलसूरि:



❀ सत्प्रेरक: ❀

पूज्यवाचकश्रीविनोदविजयगणिवर्य:-
तथा
पूज्यपण्यासश्रीजिनोत्तम-
विजय-गणिवर्य: ।



श्रीवीर सं. २५२१
प्रतियाँ १०००

विक्रम सं. २०५१
प्रथमावृत्ति:

नेमि सं. ४६
मूल्यम्—

卐 द्रव्यसहायक: 卐

श्रीजैनशासनशरणगर-प्रतिष्ठाशिरोमणि-शास्त्रविशारद-साहित्यरत्न-कवि-
भूषण-परमपूज्याचार्यदेव श्रीमद्विजयसुशीलसूरीश्वराणां सदुपदेशात् सुमधुरप्रवचन-
कारक-कार्यदक्षपूज्यपण्यास - श्रीजिनोत्तमविजयगणिवर्य - प्रेरणायाश्च द्रव्यसहायक:
श्रीश्वेताम्बर वीसा ओसवाल श्रीजैनसंघ: बिजोवा राजस्थान-मरुधर: ।

卐 प्राप्ति-स्थानम् 卐

[१]

आचार्यश्री सुशीलसूरि जैनज्ञानमन्दिर
शान्तिनगर, मु. सिरोही 307001 (राजस्थान)

[२]

श्री सुशील साहित्य प्रकाशन समिति
C/o श्री गुरुदेयालचन्दजी भंडारी,
राइका बाग, पुरानी पुलिस लाइन के पास, मु. जोधपुर (राज.)
S.T.D. 0291 22091

[३]

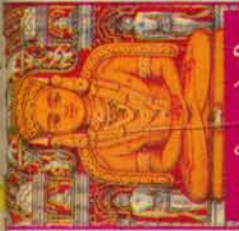
श्री श्वेताम्बर वीसा ओसवाल जैन संघ
मु. पो. बिजोवा-306601 जि. पाली (राजस्थान)

❀ मुद्रक ❀

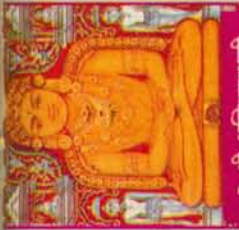
ताज प्रिन्टर्स, जोधपुर (राजस्थान)



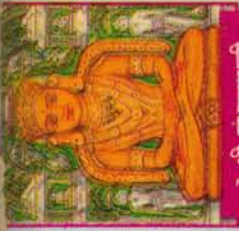
भावपूर्ण कोटिशः वन्दना हो !



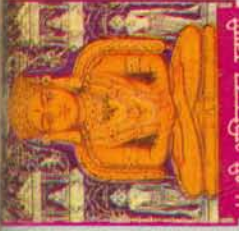
१. श्री ऋषभदेवजी



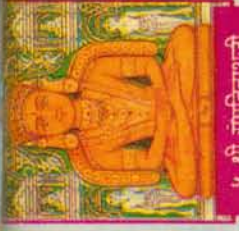
२. श्री अजितनाथजी



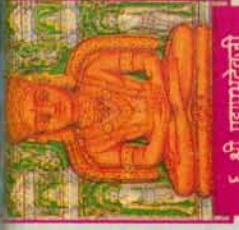
३. श्री समनाथजी



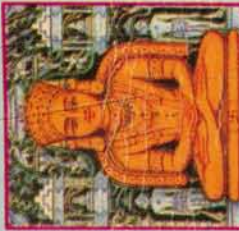
४. श्री अभिनन्दन स्वामी



५. श्री सुमतिनाथजी



६. श्री प्रद्युम्नदेवजी



७. श्री सुपार्श्वनाथजी



८. श्री चन्द्रप्रभु स्वामी



९. श्री सुविधिनाथजी



१०. श्री शीतलनाथजी



११. श्री भैयालनाथजी



१२. श्री वासुपूज्यजी



१३. श्री विमलनाथजी



१४. श्री अनन्तनाथजी



१५. श्री धर्मनाथजी



१६. श्री शांतिनाथजी



१७. श्री कश्यपनाथजी



१८. श्री अरुनाथजी



१९. श्री मल्लिनाथजी



२०. श्री मुनिस्वरूपस्वामी



२१. श्री नमीनाथजी



२२. श्री नेमीनाथजी

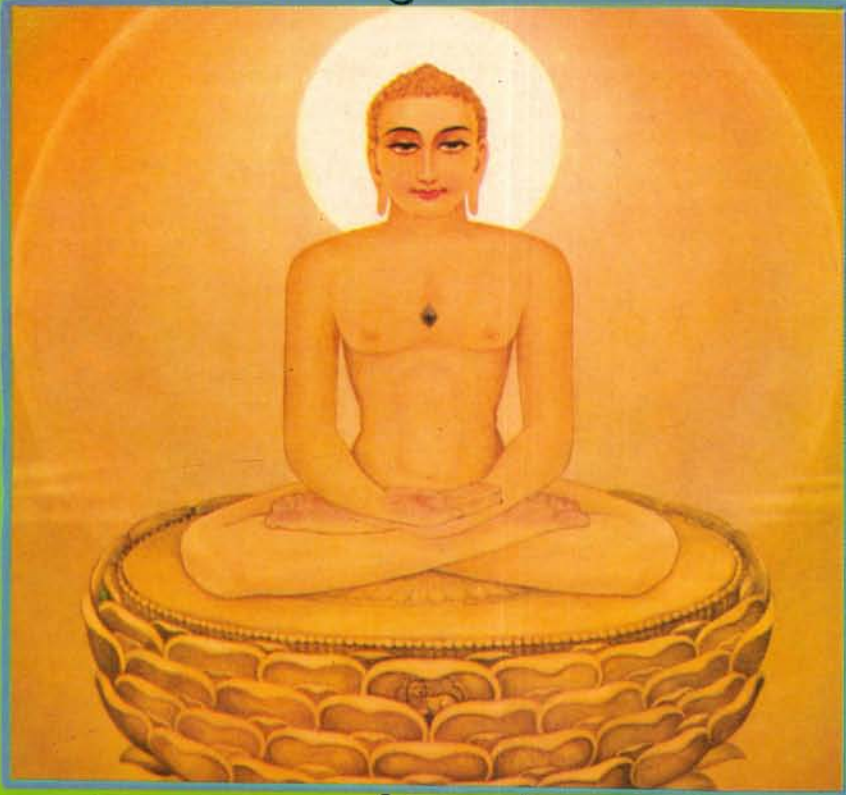


२३. श्री पार्श्वनाथजी



२४. श्री महावीर स्वामी

विश्ववंद्य - विश्वविभु - वर्तमानशासनाधिपति



श्रमणभगवान श्री महावीर परमात्मा
अनन्तलब्धिनिधान प्रथम गणधर



श्री गौतम स्वामी जी महाराजा

卐 पंचम गणधर – गणनायक 卐
श्री सुधर्मास्वामीजी महाराज



श्री सुधर्मास्वामीजी गणधर महाराजा के
२५०० वें निर्वाण-वर्ष की पावन स्मृति में
भावपूर्ण वन्दना हो !

२५०० वें
निर्वाण
वर्ष में



स...म...र्प...ण



श्री जैनशासन के चरमतीर्थाधिपति श्रमण भगवान
महावीर परमात्मा के पंचम गणधर श्रीसुधर्मास्वामी महाराज

- ❖ जन्म - प्रभु श्रीमहावीर भगवान के जन्म से आठ वर्ष पहले अर्थात् श्रीवीरनिर्वाण से ८० वर्ष पूर्व लिच्छवी गणराज्य की राजधानी वैशाली कोल्लाग सन्निवेश में आपका जन्म हुआ था।
- ❖ जन्मनक्षत्र - उत्तरा फाल्गुनी।
- ❖ पिताश्री का नाम - अग्निवैशायन गोत्रीय धम्मिल विप्र।
- ❖ माताजी का नाम - भद्रिला।
- ❖ ज्ञानाभ्यास - संसारी अवस्था में चौदह विद्या के पारंगत।
- ❖ संशय - इस भव में जो जीव जैसा है, वैसा परभव में होता है या भिन्न स्वरूप में?
- ❖ दीक्षा - श्रीवीरनिर्वाण संवत् ३० वर्ष पूर्व, वैशाख सुद ११ के दिन पचास वर्ष की अवस्था में।
- ❖ केवलज्ञान - जब श्रीमहावीरस्वामी भगवान का निर्वाण (मोक्ष) हुआ उस समय श्रीसुधर्मास्वामी गणधर की आयु ८० वर्ष की थी। आपको ६२वें वर्ष में, श्रीवीरसंवत् १२वें वर्ष में पंचम केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।
- ❖ मोक्ष - पंचम केवलज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् श्रीसुधर्मास्वामीजी ने चतुर्विध संघ की जवाबदारी अपने शिष्यरत्न श्री जम्बूस्वामी महाराज को सौंपी। तत्पश्चात् ८ वर्ष पर्यन्त केवली पर्याय पूर्ण कर के श्री वीरनिर्वाण संवत् २० में आयुष्य के अन्त में एक मास का अनशन कर के १०० वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर श्रीराजगृही नगर के गुणशील चैत्य में निर्वाण (मोक्ष) को प्राप्त हुए।

जिस समय प्रभु श्रीमहावीर भगवान मध्यम अपावापुरी में पधारें, वहाँ पर प्रभु ने श्रीइन्द्रभूति आदि ११ मुख्य विप्रों-ब्राह्मणों युक्त ४४०० मानवों को दीक्षा प्रदान की। श्री इन्द्रभूति ग्यारह गणधरों को लब्धि प्राप्त हुई। अन्तर्मुहूर्त में उन सभी ग्यारह गणधरों ने द्वादशांगी यानी बारह अंगसूत्रों की रचना की।

उस समय प्रभु श्री महावीर भगवान ने उसकी अनुज्ञा प्रदान की। मुख्य गणधर श्री इन्द्रभूति-गौतमस्वामी को संघनायक के रूप में विभूषित किया। 'द्रव्य-गुण-पर्याय' द्वारा समस्त शासन सौंपने में आता है। पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी महाराज को

गणनायक के सम्माननीय पद से समलंकृत किया गया। सभी गणधरों में श्रीसुधर्मास्वामीजी का आयुष्य विशेष था। ग्यारह गणधरों में से नव गणधरों ने भगवान महावीर की

विद्यमानता में निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त किया था।



२५०० वें
निर्वाण
वर्ष में

卐 पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामीजी 卐 का जीवनचरित्र युक्त स्तवन

卐 रचयिता - पूज्य आचार्य श्रीज्ञानविमलसूरि म. 卐

(देशी - नायकानी)



सोहम गणधर पांचमा रे लाल, अग्निवैशायन गोत्र सुखकारी रे;
कोल्लाग सन्निवेशे थयो रे लाल, भद्रिला धम्मिल पुत्र सुखकारी रे.
सोहम. ॥१॥

उत्तरा फाल्गुनी ए जण्यो रे लाल, पंचसया परिवार सुखकारी रे;
वरस पचास घरे रह्या रे लाल, व्रत बेतालीस सार सुखकारी रे.
सोहम. ॥२॥

आठ वरस केवलीपणे रे लाल, एक शत वरस तुं आय सुखकारी रे;
वाधे पट्ट परम्परा रे लाल, आज लगे जस थाय (यावत् दुप्पसहराय) सुखकारी रे.
सोहम. ॥३॥

सम्पूरण श्रुतनो धणी रे लाल, सर्वलब्धि भण्डार सुखकारी रे;
बीस वरस जिनथी पछी रे लाल, शिव पाम्या जयकार सुखकारी रे.
सोहम. ॥४॥
उदय अधिक कंचन बने रे लाल, शत शाखा विस्तार सुखकारी रे;
नाम धकी नवनिधि लहे रे लाल, ज्ञानविमल गणधर सुखकारी रे.
सोहम. ॥५॥

आज की मुनिवृन्द की पट्टपरम्परा श्री सुधर्मास्वामी की पट्टपरम्परा कहलाती है। अर्थात् - अभी के सभी मुनिवृन्द श्रीसुधर्मास्वामी के संतानीय हैं। हम भी उन्हीं के परम्परागत संतानीय हैं।

उन्हीं के निर्वाण के चल रहे २५०० वें वर्ष की पावन स्मृति में

प्रस्तुत यह सुबोधिका टीका तथा हिन्दी विवेचनामृत युक्त

श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र के तीसरे - चौथे अध्याय का यह 'अनुपम ग्रन्थ'

परम पूज्य श्रुतकेवली पंचमगणधर श्री सुधर्मास्वामीजी म.,

को मैं कृतज्ञभाव से सविनय... सादर... सबहुमानपूर्वक समर्पित करता हुआ विशेष हर्ष-आनन्द पाता हूँ।

अभी विश्ववन्द्य-विश्वविभु-देवाधिदेव श्री महावीर परमात्मा के पंचम गणधर

श्री सुधर्मास्वामीजी का यह २५०० वाँ निर्वाण-वर्ष चल रहा है।

- आचार्य विजयसुशीलसूरि



* पट्टावली *

(श्री सुधर्मास्वामी जी से पूज्य गुरुदेव तक)

निर्ग्रन्थ गच्छ	स्वर्गवास वीर सं.
१. पंचम गणधर श्री सुधर्मा स्वामी जी	२०
२. चरम केवली श्री जम्बुस्वामी जी	६४
३. श्रुतधरों की परम्परा में सर्वप्रथम श्री प्रभवस्वामी जी	७५
४. चौदह विद्याओं के पारगामी श्री शय्यंभव सूरि जी	८८
५. चौदह पूर्वधारी श्री यशोभद्र सूरि जी (प्रथम)	१४८
६. श्रुतकेवली श्री सम्भूति विजय सूरि जी	१५६
७. आगमरचनाकार श्री भद्रबाहु सूरि जी व दृष्टिवाद के अनुपम लब्धिकार श्री स्थूलिभद्र स्वामी जी	१७० २१५
८. विशुद्धतमचारित्रपालक आर्यश्री महागिरिजी व साम्राट् सम्प्रति प्रतिबोधक आर्यश्री सुहस्ति सूरि जी	२४५ २६१
९. कोटिकगच्छ प्रारम्भ करने वाले आर्यश्री सुस्थित-सुप्रतिबद्ध सूरि जी	३३६

कोटिकगच्छ

१०. सद्गुणों के स्वामी स्थविर श्री इन्द्रदिन सूरि जी	३७८
११. शासनप्रभावक स्थविर श्री दिन सूरि जी	४५८
१२. ज्ञानसम्पन्न स्थविर श्री सिंहगिरि सूरि जी	५२३
१३. लब्धिप्रभावक स्थविर श्री वज्रस्वामी जी	५८४
१४. धर्मप्रभावक स्थविर श्री वज्रसेन सूरि जी	६२०

चन्द्रगच्छ

१५. चन्द्रगच्छ स्थापक स्थविर श्री चन्द्रसूरि जी	६४३
---	-----

વનવાસી ગચ્છ

૧૬.	વનવાસી ગચ્છ સ્થાપક આચાર્ય શ્રી સમન્તભદ્ર સૂરિ જી	૬૫૩
૧૭.	શાસનપ્રભાવક આચાર્ય શ્રી વૃદ્ધદેવ સૂરિ જી	૬૬૩
૧૮.	શાસનપ્રભાવક આચાર્ય શ્રી પ્રદ્યોતન સૂરિ જી	૬૬૮
૧૯.	લઘુશાન્તિ રચયિતા આચાર્ય શ્રી માનદેવ સૂરિ જી (પ્રથમ)	૭૩૧
૨૦.	ભક્તામરસ્તોત્ર-રચયિતા આચાર્ય શ્રી માનતુંગ સૂરિ જી	૭૫૮
૨૧.	આચાર્ય શ્રી વીર (સેન) સૂરિ જી	૭૬૩
૨૨.	આચાર્ય શ્રી જયદેવ સૂરિ જી	૮૩૩
૨૩.	આચાર્ય શ્રી દેવાનન્દ સૂરિ જી	૯૦૦
૨૪.	આચાર્ય શ્રી વિક્રમ સૂરિ જી	૯૫૫
૨૫.	આચાર્ય શ્રી નરસિંહ સૂરિ જી	૧૦૦૫
૨૬.	આચાર્ય શ્રી સમુદ્ર સૂરિ જી	૧૦૩૨
૨૭.	આચાર્ય શ્રી માનદેવ સૂરિ જી (દ્વિતીય)	૧૦૮૦
૨૮.	આચાર્ય શ્રી વિબુધપ્રભ સૂરિ જી	૧૧૩૦
૨૯.	આચાર્ય શ્રી જયાનન્દ સૂરિ જી	૧૧૬૬
૩૦.	આચાર્ય શ્રી રવિપ્રભ સૂરિ જી	૧૨૪૫
૩૧.	આચાર્ય શ્રી યશોદેવ સૂરિ જી	૧૩૨૦
૩૨.	આચાર્ય શ્રી પ્રદ્યુમ્ન સૂરિ જી	૧૩૪૪
૩૩.	આચાર્ય શ્રી માનદેવ સૂરિ જી (તૃતીય)	૧૩૬૫
૩૪.	આચાર્ય શ્રી વિમલચન્દ્ર સૂરિ જી	૧૪૧૦
૩૫.	આચાર્ય શ્રી ઉદ્યોતન સૂરિ જી	૧૪૬૫

બડગચ્છ

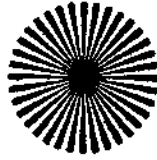
૩૬.	બડગચ્છભૂષણ આચાર્ય શ્રી સર્વદેવ સૂરિ જી (પ્રથમ)	૧૫૨૫
૩૭.	આચાર્ય શ્રી દેવ સૂરિ જી	૧૫૬૫
૩૮.	આચાર્ય શ્રી સર્વદેવ સૂરિ જી (દ્વિતીય)	૧૬૦૭

३९.	आचार्य श्री यशोभद्र सूरि जी (द्वितीय)	१६१८
४०.	आचार्य श्री मुनिचन्द्र सूरि जी	१६४८
४१.	आचार्य श्री अजितचन्द्र (देव) सूरि जी	१६६५
४२.	आचार्य श्री सिंह सूरि जी	१६७८
४३.	आचार्य श्री सोमप्रभ सूरिजी तथा आचार्य श्री मणिरत्न सूरिजी (प्रथम)	१७११

तपगच्छ

४४.	तपगच्छस्थापक तपस्वी हीरला आचार्य श्री जगच्चन्द्र सूरि जी	१७५५
४५.	कर्मग्रन्थ रचनाकार आचार्य श्री देवेन्द्र सूरि जी	१७६७
४६.	पेथड़शाह प्रतिबोधक आचार्य श्री धर्मघोष सूरि जी	१८२७
४७.	ग्यारह अंग कण्ठस्थ करने वाले आचार्य श्री सोमप्रभ सूरि जी (द्वितीय)	१८४३
४८.	शासनप्रभावक आचार्य श्री सोमतिलक सूरि जी	१८६४
४९.	मंत्र-तंत्र-निमित्तज्ञाता आचार्य श्री देवसुन्दर सूरि जी	१९३८
५०.	राणकपुर तीर्थ प्रतिष्ठाकारक आचार्य श्री सोमसुन्दर सूरि जी	१९६९
५१.	'संतिकरं' स्तोत्र रचयिता आचार्य श्री मुनिसुन्दर सूरि जी	१९७३
५२.	बाल सरस्वती विरुद प्राप्त-श्राद्धविधि कर्त्ता आचार्य श्री रत्नशेखर सूरि जी	१९८७
५३.	शासनप्रभावक आचार्य श्री लक्ष्मीसागर सूरि जी	२००७
५४.	शासनप्रभावक आचार्य श्री सुमतिसाधु सूरि जी	२०२१
५५.	शुद्ध धर्म संरक्षक आचार्य श्री हेम विमल सूरि जी	२०५३
५६.	शासनप्रभावक आचार्य श्री आनन्द विमल सूरि जी	२०६६
५७.	प्रतिभासम्पन्न आचार्य श्री दान सूरि जी	२०६२
५८.	जगद्गुरु अकबर-प्रतिबोधक आचार्य श्री विजय हीर सूरि जी	२११२
५९.	शासनप्रभावक आचार्य श्री विजय सेन सूरि जी	२१४२
६०.	देवसूरगच्छभूषण आचार्य श्री विजयदेव सूरि जी	२१७३
६१.	शासन शरागार आचार्य श्री विजय सिंह सूरि जी (द्वितीय)	२१७९

६२.	पंन्यास श्री सत्य विजय जी गरिण	२२२६
६३.	पंन्यास श्री कर्पूर विजय जी गरिण	२२४५
६४.	पंन्यास श्री क्षमा विजय जी गरिण	२२५६
६५.	पंन्यास श्री जिन विजय जी गरिण	२२६६
६६.	पंन्यास श्री उत्तम विजय जी गरिण	२२६७
६७.	पंन्यास श्री पद्म विजय जी गरिण	२३३२
६८.	पंन्यास श्री रूप विजय जी गरिण	२३७५
६९.	पंन्यास श्री कीर्ति विजय जी गरिण	२३८५
७०.	पंन्यास श्री कस्तूर विजय जी गरिण	२३९०
७१.	पंन्यास श्री मणि विजय जी गरिण	२४०५
७२.	पंन्यास श्री बुद्धि विजय जी गरिण	२४०८
७३.	पूज्य श्री वृद्धि विजय जी महाराज	२४१६
७४.	शासनसम्राट् आचार्य श्री विजय नेमि सूरि जी	वि. सं. २००५
७५.	साहित्यसम्राट् आचार्य श्री विजय लावण्य सूरि जी	वि. सं. २०२६
७६.	संयमसम्राट् आचार्य श्री विजय दक्ष सूरि जी	वि. सं. २०४८
७७.	जैनधर्मदिवाकर आचार्य श्री विजय सुशील सूरि जी	



❀ प्रकाशकीय निवेदन ❀

‘श्रीतत्त्वार्थाधिगम-सूत्रम्’ इस नाम से सुप्रसिद्ध महान् ग्रन्थ आज भी जैनदर्शन के अद्वितीय आगमशास्त्र के सार रूप है, जिसके रचयिता पूर्वधर-महर्षि-परमपूज्य वाचकप्रवर श्रीउमास्वाति जी महाराज हैं ।

यह एक ही ग्रन्थ सांगोपांग श्री अर्हद्दर्शन-जैनदर्शन के जीवादि नव तत्त्वों का ज्ञान कराने में अति समर्थ है । इस महान् ग्रन्थ पर भाष्य, वृत्ति-टीका तथा विवरणादि विशेष प्रमाण में उपलब्ध हैं, एवं विविध भाषाओं में भी इस पर विपुल साहित्य रचा गया है, उनमें से कुछ मुद्रित भी है और कुछ आज भी अमुद्रित है ।

१०८ ग्रन्थों के सर्जक समर्थ विद्वान् पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद्विजयसुशील-सूरीश्वर जी म. श्री ने भी इस तत्त्वार्थाधिगम सूत्र पर प्रकाशित हुए संस्कृत-प्राकृत-हिन्दी-गुजराती आदि ग्रन्थों का अवलोकन कर और उन्हीं का आलम्बन लेकर सरल संस्कृत भाषा में संक्षिप्त ‘सुबोधिका टीका’ रची है, तथा सरल हिन्दी भाषा में अर्थ-युक्त विवेचनामृत अतीव सुन्दर लिखा है ।

इसके प्रथम और द्वितीय अध्याय की सुबोधिका टीका और तत्त्वार्थ विवेचनामृत युक्त पहला भाग हमारी समिति की ओर से पूर्व में प्रकाशित किया गया है । अब श्रीतत्त्वार्थाधिगम सूत्र के तीसरे और चौथे अध्याय का यह दूसरा भाग प्रकाशित करते हुए हमें अति हर्ष-आनन्द का अनुभव हो रहा है ।

परमपूज्य आचार्य म. श्री को इस ग्रन्थ की सुबोधिका टीका, विवेचनामृत तथा सरलार्थ बनाने की सत्प्रेरणा करने वाले उन्हीं के पट्टधर-शिष्यरत्न पूज्य उपाध्याय श्रीबिनोदविजयजी गणिवर्य म. तथा पूज्य पंन्यास श्रीजिनोत्तमविजयजी गणिवर्य म. हैं । हमें इस ग्रन्थ को शीघ्र प्रकाशित करने की सत्प्रेरणा देने वाले भी पू. उपाध्यायजी म. और पू. पंन्यास जी म. हैं ।

ग्रन्थ के स्वच्छ, शुद्ध एवं निर्दोष प्रकाशन का कार्य डॉ. चेतनप्रकाशजी पाटनी की देख-रेख में सम्पन्न हुआ है ।

ग्रन्थ-प्रकाशन में अर्थ-व्यवस्था का सम्पूर्ण लाभ सुकृत के सहयोगी श्री ध्वेताम्बर वीसा ओसवाल जैन संघ, बिजोवा द्वारा लिया गया है ।

इन सभी का हम हार्दिक आभार मानते हैं । यह ग्रन्थ चतुर्विध संघ के सभी तत्त्वानुरागी महानुभावों के लिए तथा श्रीजैनधर्म में रुचि रखने वाले अन्य तत्त्वप्रेमियों के लिये भी अति उपयोगी सिद्ध होगा । इसी आशा के साथ यह ग्रन्थ स्वाध्यायार्थ आपके हाथों में प्रस्तुत है ।

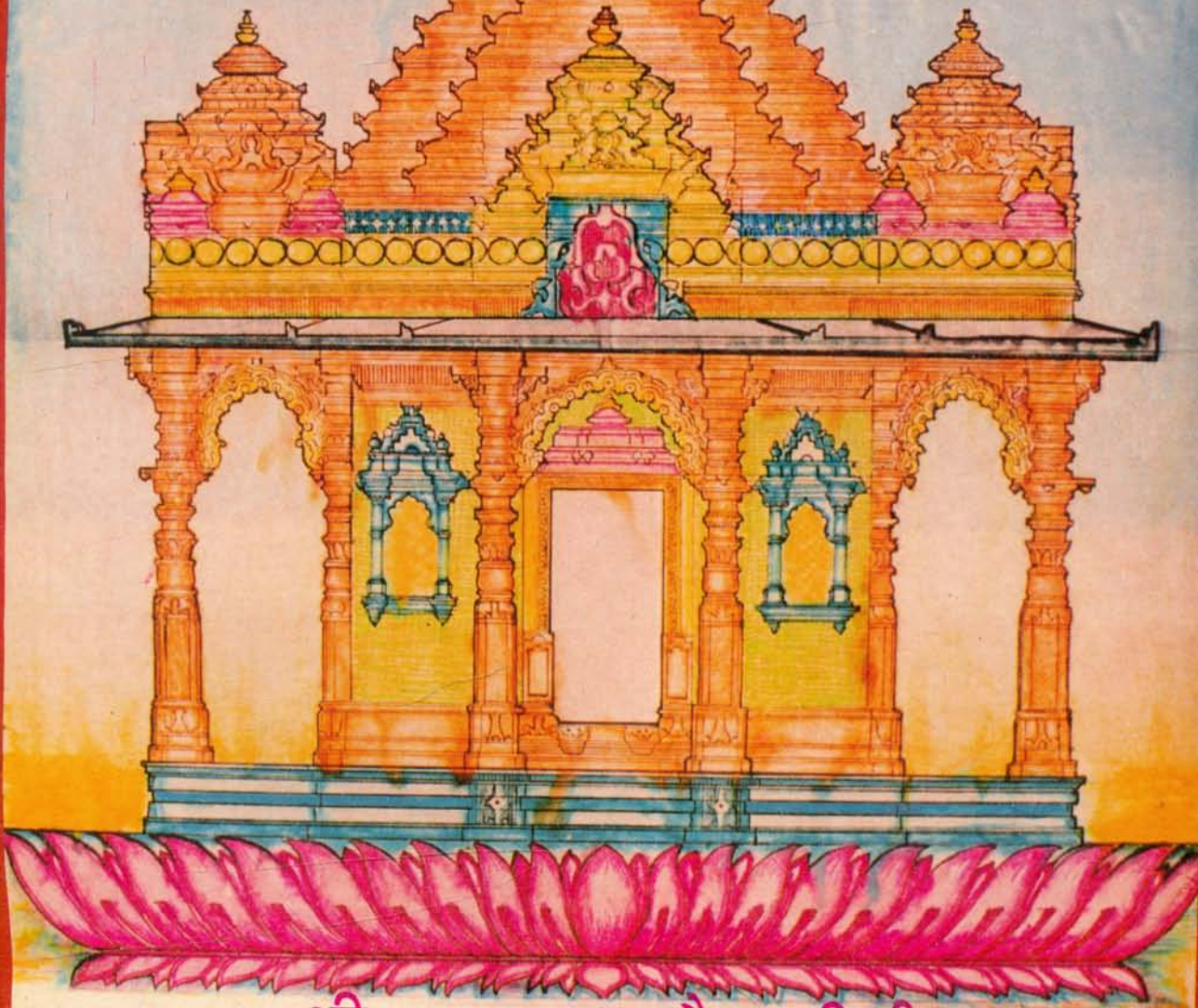
ॐ



ॐ

॥ श्री अष्टापद तीर्थ ॥

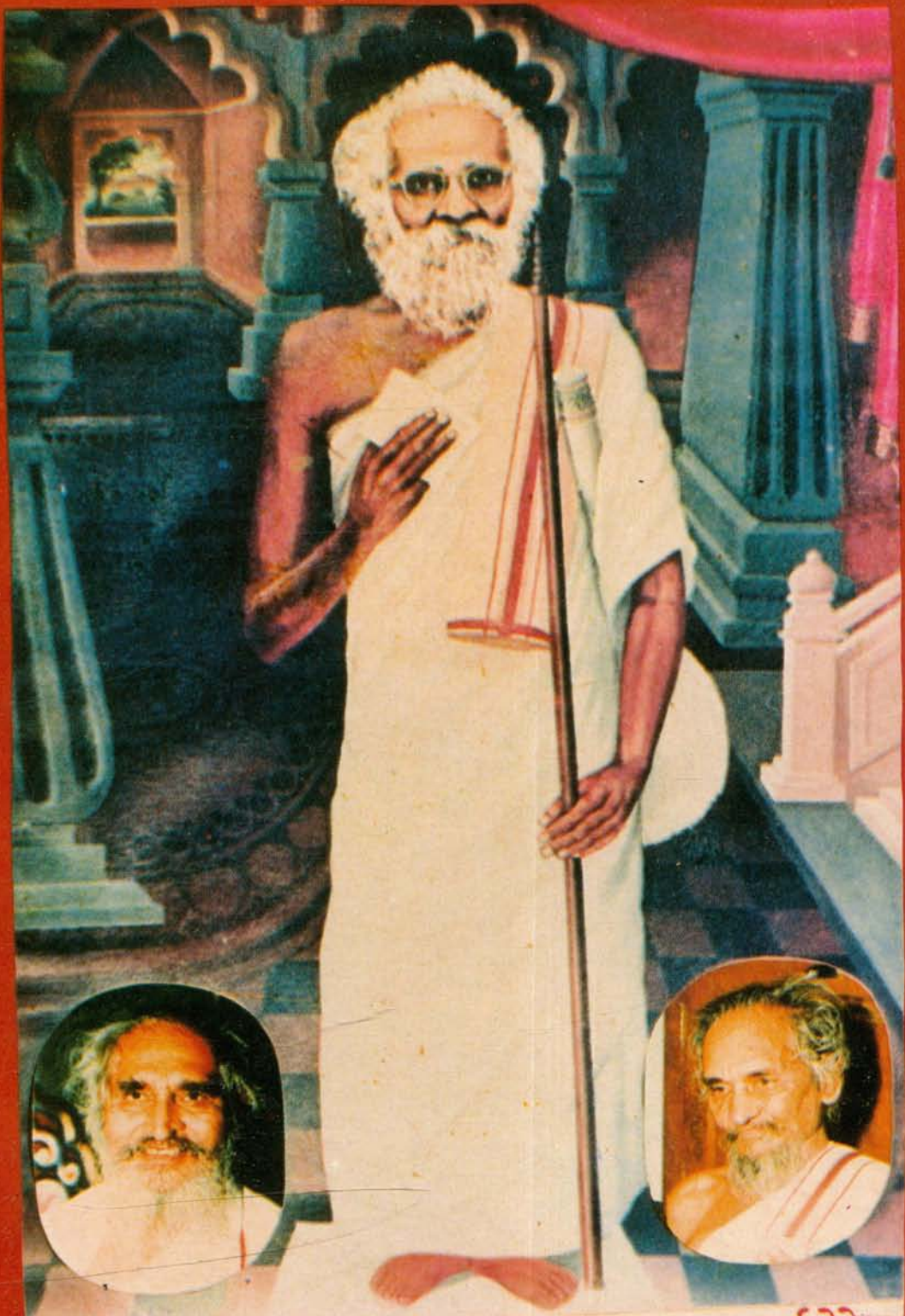
॥ श्री ऋषभदेवजी ॥



श्री अष्टापद जैन तीर्थ
सुशील विहार, रानी (राज.)



शासन सम्राट्-तपागच्छाधिपति प.पू.आचार्य महाराजाधिराज,
श्रीमदु विजय तेमि सूरीश्वर, महाराज साहब,



साहित्य सम्राट्-व्याकरण वाचस्पति प. प्र. आचार्य देवेश,
श्रीमद् विजय लावण्य सूरेश्वर जी महाराज साहब,



धर्म प्रभावक कवि दिवाकर प.पू. आचार्य प्रवर,
श्रीमद् विजय दक्ष सूरेश्वरजी महाराज साहब,

प्रास्ताविकम्

संसारोऽयं जन्ममरणस्वरूप-संसरणभवान्तरभ्रमणायाः विन्ध्याटवीव घनतमि-
स्त्रावृत्तादर्शनतत्त्वा भ्रमणाटवी । कर्मक्लेशकर्मदमानुविद्धेऽस्मिन् जगतीच्छन्ति
सर्वे कर्मक्लेशकर्मैः पारं मोक्षायाहर्निशम् गन्तुम् । कथं निवृत्तिः दुःखैः ? कथं प्रवृत्तिः
सुखेषु च ? त्रिज्ञासयानया तत्त्वदर्शिनः मथन्ति दर्शनागमसागरं तत्त्वामृतप्राप्तये
त्रिविष्टपैरिवात्र ।

श्रीजैनश्वेताम्बर-दिगम्बरसम्प्रदाये श्रीमदुमास्वातिरपि अजायत महान्
वाचकप्रवरः येन तत्त्वचिन्तने कृत्वा भगीरथश्रमञ्चाविष्कृतममृतं, भव्यदेवानां
कृते मोक्षायात्र । उमास्वातिस्तत्त्वार्थाधिगम-सूत्राणां रचयितासीत् । यो हि वाचक-
मुख्यशिवश्रोतां प्रशिष्यः शिष्यश्च घोषनन्दिश्रमणस्य । एवञ्च वाचनापेक्षया शिष्यो
बभूव मूलनामकवाचकाचार्याणाम् । मूलनामकवाचकाचार्यः महावाचकश्रमणश्री-
मुण्डपादस्य शिष्यः आसीत् ।

न्यग्रोधिकानगरमपि धन्यं बभूव वाचकश्रीउमास्वातेः जन्मना । स्वगतिः नाम्नः
पितापि उमास्वातिः सदृशं पुत्ररत्नं प्राप्य स्वपूर्वपुण्यफलमवापेह । धन्या जाता वात्सी-
जननी । उमास्वातिः स्वजन्मनाऽलंकार कौभीषणी गोत्रम् नागरवाचकशाखाञ्च ।

स्थाने-स्थाने विहरतोऽयं महापुरुषः कृतगुरुक्रमागतागमाभ्यासः कुसुमपुरनगरे
रचयामास ग्रन्थोऽयं तत्त्वार्थाधिगमभाष्यः । ग्रन्थोऽयं रचितवान् स्वान्तमुखाय
प्राणिमोक्षाय कल्याणाय च ।

तेन महाभागेन तत्त्वार्थाधिगमसूत्रेषु स्पष्टीकृतं यज्जीवाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र-
पूर्वकं वैराग्यं यावन्नेवाधिगच्छन्ति संसारशरीरभोगाभ्यां तावन्मोक्षसिद्धिः दुर्लभा ।

सम्यग्दर्शनाभावे ज्ञानवैराग्येऽपि दुष्प्राप्ये । जीवानां जगति क्लेशाः कर्मोदय-
प्रतिफलानि जायन्ते । जीवानां कृत्स्नं जन्म जगति कर्मक्लेशैरनुविद्धः । भवेच्चानुबन्ध-
परंपरेति तत्त्वार्थाधिगमे विश्लेषितमस्ति । कर्मक्लेशाभ्यामपरामृष्टावस्था एव सत्स्वरूपं
सुखस्य । पातञ्जलयोगदर्शनेऽपि “क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषः विशेषः
ईश्वरः” जैनदर्शने तु इदमप्येकान्तिकम् यत् पातञ्जलिना पुरुषजीवं ज्ञानस्वरूपं वा
सुखस्वरूपं नैवामन्यत । किन्तु जैनदर्शने तु जीवः ज्ञानस्वरूपश्च सुखस्वरूपश्चापि क्लेश-
कर्मविपाकाशयैरपरामृष्टावस्थायाः धारको विद्यते । निर्दोषमेतदेव सत्यमुपादेयञ्च ।

तत्त्वार्थाधिगमे दशाध्यायाः सन्ति येषु विशदीकृतं व्याख्यातञ्च जैनतत्त्वदर्शनम् । तत्त्वार्थाधिगमस्य संस्कृतहिन्दीभाषायां व्याख्यायितोऽयं ग्रन्थः विद्वद्मूर्धन्याचार्यः श्रीविजयसुशीलसूरीश्वर - महोदयैः अतीवोपादेयत्वं धार्यते । जैनदर्शनसाहित्ये शताधिकग्रन्थानां रचयिता श्रीमद्विजयसुशीलसूरीश्वरः दर्शनशास्त्राणां अतीवमेधावी विद्वान् वर्तते ।

उर्वरीक्रियतेऽनेन भवमरुधराऽखिलमण्डलम् । जिनशासनञ्च स्वतपतेज-व्याख्यान-लेखन-पीयूषधारा जीमूतमिव श्रीमद्विजयसुशीलसूरीश्वरेण प्रथमेऽध्याये मोक्षपुरुषार्थ-सिद्धये निर्दोषप्रवृत्तिश्च तस्या जघन्यमध्यमोत्तरस्वरूपं विशदीकृतमस्ति—

- (१) देवपूजनस्यावश्यकता तस्य फलसिद्धिः ।
- (२) सम्यग्दर्शनस्य स्वरूपं तथा तत्त्वानां व्यवहारलक्षणानि ।
- (३) प्रमाणनयस्वरूपस्य वर्णनम् ।
- (४) जिनवचनश्रोतृणां व्याख्यातृणाञ्च फलप्राप्तिः ।
- (५) ग्रन्थव्याख्यानप्रोत्साहनम् ।
- (६) श्रेयमार्गस्योपदेशः सरलसुबोधटीकया विवक्षितः ।

अस्य ग्रन्थस्य टीका आचार्यप्रवरेण समयानुकूल-मनोवैज्ञानिक-विश्लेषणेन महती प्रभावोत्पादका कृता । आचार्यदेवेन तत्त्वार्थाधिगमसूत्रसदृशः क्लिष्टविषयोऽपि सरलरीत्या प्रबोधितः । जनसामान्यबुद्धिरपि जनः तत्त्वविषयं आत्मसात्कर्तुं शक्नोति ।

अस्मिन् भौतिकयुगे सर्वेऽपि भौतिकैषणाग्रस्ता मिथ्यासुखतृष्णायां व्याकुलाः मृगो जलमिव भ्रमन्ति आत्मशान्तये । आत्मशान्तिस्तु भौतिकसुखेषु असम्भवा । भवाम्भोधिपोतरिवायं ग्रन्थः मोक्षमार्गस्य पाथेयमिव सर्वेषां तत्त्वदर्शनस्य रुचिं प्रवर्धयति । आत्मशान्तिस्तु तत्त्वदर्शनाध्ययनेनैव वर्तते न तु भौतिकशिक्षया । एतादृशी सांसारिकीविभीषिकायां आचार्यमहोदयस्यायं ग्रन्थः संजीवनीवोपयोगित्वं धार्यते संसारिणाम् । ज्ञानजिज्ञासुनां कृते ग्रन्थोऽयं शाश्वतसुखस्य पुण्यपद्धतिरिव मोक्षमार्गं प्रशस्तिकरोति ।

आशासेऽधिगत्य ग्रन्थोऽयं पाठकाः स्वजीवनं ज्ञानदर्शनचारित्रमयं कृत्वाऽनुभविष्यन्ति अपूर्वशान्तिमिति शुभम् ।

फाल्गुन शुक्ल पूर्णिमा

[जालोर (राजस्थान)]

—पं. होरालाल शास्त्री, एम. ए.

व्याख्याता संस्कृत

पुरो-वचः

भारतीय-वाङ्मयता, निखिलागम-पारावार - निसर्ग - निष्णात - पुनीतानां ज्ञेय-महर्षीणां विद्याविभूति-विभव-विशेषज्ञानां सूत्रकाराणां महती सम्पदामयी-सारगमिता-प्रशस्तिर्वरोवर्तते ।

भारतीय वाङ्मयता तपःपूत - महर्षीणां विद्या - विभूतिः श्रीः सुवरीवर्तते । स्वाध्यायनिष्णात-निपुणानां सन्निधिः अस्ति । काले-कालेऽस्मिन् वाङ्मये सूत्रकाराः समभवन् । ये सूत्रकारत्वेन वाङ्मयसेवां कुर्वन्तः स्वयं कृतज्ञाः सुजाताः । सूत्रयुगस्य शुभारम्भो वैदिकवाङ्मयेषु, श्रमणवाङ्मयेषु, बौद्धवाङ्मयेषु परिष्कृतश्च वर्तते ।

निर्ग्रन्थनिगमागमविद् वाचकवरेण्यः श्रीउमास्वातिः स्वनामधन्यः सूत्रकारत्वेन संप्रसिद्धः समभूत् । पाटलीपुत्रपृथिव्यां श्रामण्यभावेन स्वयं समलंकृतवान् । तत्रैव “तत्त्वार्थसूत्रं” रचितवान् । सूत्रमेतत् श्रामण्यपरिभाषां परिष्कृतुं पर्याप्तम् । अस्य सूत्रस्य निर्ग्रन्थमहाभागैः श्लाघनीया श्लाघा प्रस्तुता । यद्यपि सूत्रकारः स्वयं श्वेताम्बरत्वेन परिचयं स्वोपज्ञभाष्ये दत्तवान् । श्वेताम्बर-निर्ग्रन्थनिगमागमाम्नाये देववाण्यां सूत्रकारत्वेन सर्वप्रथम संबभूव वाचकाग्रणीः प्रमुखः श्री उमास्वाति महाभागः । अयमेव महाभागः श्रीउमास्वातिः प्रायः दिगम्बरपरम्परायां श्रीकुन्दकुन्दमहाशयस्य शिष्यत्वेन श्रीउमास्वामीत्याख्यया प्रचलितः अस्यैव महाविदुषः “श्रीतत्त्वार्थसूत्रं” सर्वप्रशस्तिपात्रं वर्तते ।

तत्त्वार्थसूत्रस्य आद्यः सर्वार्थसिद्धिटीकाकारः श्रीपूज्यपाददेवनन्दी महामतिः संजातः । तदनन्तरं तत्त्वार्थस्य तारतम्यदर्शी श्रीअकलंकः प्रमेयविद्याविलक्षणः दिगम्बर-श्रमणशाखासु राजवार्तिककारत्वेन संप्रसिद्धः सुधीः प्रतिष्ठितः । दशम्यां शताब्द्यां विद्याचरणः श्रीविद्यानन्दी श्लोकवार्तिककारत्वेन तत्त्वार्थसूत्रस्य व्याख्याता जातः । अनेनैव महाशयेन महामीमांसकस्य श्रीकुमारिलमहाभागस्य वैदुष्यं आर्हद्-विद्या-विमर्शदार्शनिक-तुलासु तोलितम् । पुनः श्रुतसागराख्यः निर्वसननिर्ग्रन्थः प्रज्ञापुरुषः श्रीतत्त्वार्थसूत्रस्य वृत्तिकारः समयश्रेण्यां जातः ।

इत्थं दिगम्बरवृन्देषु विबुधसेन-योगीन्द्र-लक्ष्मीदेव-योगदेवाभयनन्दि - प्रमुखाः सुधयः श्रीतत्त्वार्थसूत्रस्य तलस्पर्शिनः संजाताः ।

श्वेताम्बर-वाङ्मये तत्त्वार्थसूत्रमनुसृत्य विविधास्टीकाः विद्यन्ते । अस्यैव सूत्र-
स्योपरि महामान्य-श्रीउमास्वातिमहाशयस्य स्वोपज्ञं भाष्यं वर्तते । तस्मिन् भाष्यग्रन्थे
आत्मपरिचयं प्रदत्तवान् स्वयंश्रीवाचकवरेण्यः ।

वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण ।
शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविदः ॥ १ ॥
वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपाद - शिष्यस्य ।
शिष्येण वाचकाचार्य - मूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः ॥ २ ॥
न्यग्रोधिका-प्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि ।
कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सी - सुतेनार्ध्यम् ॥ ३ ॥
अर्हद्वचनं सम्यग्गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य ।
दुःखार्तं च दुरागम-विहतमतिं लोकमवलोक्य ॥ ४ ॥
इदमुच्चैर्नागर-वाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम् ।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥ ५ ॥
यस्तत्त्वाधिगमाख्यं ज्ञास्यति च करिष्यते च तथोक्तम् ।
सोऽव्याबाधसुखाख्यं प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥ ६ ॥

श्रीतत्त्वार्थकारः सुतश्चासीत् वात्सीमातुः । स्वातिजनकस्य पुत्रश्च । उच्च-
नागरीयशाखायाः श्रमणः न्यग्रोधिकायां समुत्पन्नः । गोत्रेण कौभीषणिश्चासीत् ।
पाटलीपुत्रनगरे रचितवान् सूत्रमिमं ।

श्रामण्यव्रतदाता घोषनन्दी, प्रज्ञापारदर्शी श्रुतशास्त्रे-एकादशाङ्गविदासीत् ।
विद्यादातृणां गुरुवराणां वाचकविशेषानां मूलशिवश्रीमुण्डपादप्रमुखानां श्लाघनीया
परम्परा विद्यते । पुरातनकाले विद्यावंशस्य सौष्ठवं समीचीनं दृश्यते । तत्त्वार्थकारः
श्रीउमास्वाति विद्यावंशविशिष्टविज्ञपुरुषः प्रतिभाति ।

तत्त्वार्थस्य टीकाकारः श्रीसिद्धसेनगणि “गन्धहस्ती” इत्याख्यया प्रसिद्धि-
मलभत् । अयमेव सिद्धसेनगणि मल्लवारिनः नयचक्रग्रन्थस्य टीकाकारस्य
श्रीसिद्धसूरस्यान्वयेऽभूत् ।

अपरश्च टीकाकारः श्रीयाकिनीसूनुः श्रीहरिभद्र-महाभागः, अयमेव हरिभद्रसूरिः
तत्त्वार्थस्य लघुवृत्तिटीकां पूर्णां न चकार । यशोभद्रेण पूर्णा कृता ।

उपांगटीकाकारेण श्रीमलयगिरिणा “प्रज्ञापनावृत्ती” चोक्तम्-तच्चाप्राप्त-
कारित्वं तत्त्वार्थटीकादौ सविस्तरेण प्रसाधितमिति ततोऽवधारणीयं ।

सम्प्रति मलयगिरिमहाशयस्य टीका न समुपलभ्यते । महामहोपाध्यायेन श्रीयशोविजयवाचकेन तत्त्वार्थ-भाष्यस्य टीका रचितासीत् । सा टीकापि स्खलिता वर्तते ।

तत्त्वार्थस्य रचनाशैली रम्या हृदयंगमा च, अस्यैव ग्रन्थस्य सौम्यस्वरूपेण तपस्विना श्रीसुशीलसूरिमहाभागेन टीका नवीना रचिता । अयमेव सूरिमहोदयः स्वाध्यायनिष्ठः सुज्ञः सर्वथा तपसि ज्ञाने च नितरां निमग्नः वर्तते ।

सूरिपुंगवानां श्रुतशास्त्रीयां भक्ति पुरस्कृत्य मया किमपि लिखितमस्ति । नितरां शास्त्ररसस्नातनिष्णाताः भूत्वा भूयोभूयः स्वाध्यायसमुत्कर्षं समुन्नतं कर्तुं लेखनीं च लोकोत्तरहितैषिणीं विदधातुं विधिज्ञाः सूरिवराः सुतरां भूयासुः । आत्मलेखना-चात्मलेखिनो स्वात्महस्तगता सुशोभते सर्वथा सर्वेषां ।

इदं तत्त्वार्थसूत्रं श्रुतसिद्धान्तनिष्पन्नं, संसारक्षयकारणं, मुमुक्षूणां चात्म-पथपाथेयं सदाहर्तपादपीयूषं ज्ञानदर्शनचारित्रलालिते स्वाध्याय-तपः समाधिविभूषितं, प्रमेयप्रकाशपुञ्जं पुरातनीपावनी-देववाणी-दुन्दुभिरूपं, शब्दब्रह्मपाञ्चजन्यं, गुरुसेवा-समुपलब्धसौष्ठवतन्त्रं, यः कश्चित्, समुचितां श्रमणसंस्कृतिं ज्ञातुकामः सः शुद्धचेतसा च सुमेधया सततं पठेत्-पाठयेत् चेन्न सूत्रं ।

सूत्रमेतत् शास्त्रज्ञनिष्ठानां नियामकं, निर्ग्रन्थसिद्धान्तसारकलितं निगमागमन्याय-निर्मथितम् । विद्याविवेक-शौर्य-धैर्य-धनम् । नित्यं सेव्यं ध्येयं परिशीलनीयं च ।

अजस्रमभ्यासमुपेयुषा विद्यावता सूत्रकारेण आत्मनः स्मृतिपटलात् पटीयांसं शिक्षासंस्कारसमभिरुद्धं गोत्रगौरवं न त्यक्तं । यद्यपि जातिकुलवित्तमदरहितं श्रामण्यं स्वीकृतं ।

सूत्रकारस्य महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते—यथा—“निःशल्यो व्रती” या व्रतत्ववृत्तिता सा निःशल्यतायुक्ता स्यात् । यस्य शल्यत्वं छिन्नं तस्य श्रामण्यं संसिद्धं । इत्थमनेकैः सूत्रैः स्वात्मनः सुधीत्वं साधितं ख्यापितं च । इति निवेदयति—

महाशिवरात्रि,
२ मार्च, १९६२
हरजी

श्रीविद्यासाधकः
पं. गोविन्दरामः व्यासः
हरजी-वास्तव्यः

प्राक्कथन

* प्रथम भाग से उद्धृत *

❀ वन्दना ❀

जैनागमरहस्यज्ञं, पूर्वधरं महर्षिणम् ।
वन्देऽहं श्रीउमास्वातिं, वाचकप्रवरं शुभम् ॥ १ ॥

अनादि और अनन्तकालीन इस विश्व में जैनशासन सदा विजयवन्त है । विश्ववन्द्य विश्वविभु देवाधिदेव श्रमण भगवान् महावीर परमात्मा के वर्त्तमानकालीन जैनशासन में परमशासनप्रभावक अनेक पूज्य आचार्य भगवन्त आदि भूतकाल में हुए हैं । उन आचार्य भगवन्तों की परम्परा में सुप्रसिद्ध पूर्वधर महर्षि-वाचकप्रवर श्रीउमास्वाति महाराज का अतिविशिष्ट स्थान है ।

आपश्री संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे । जैन आगमशास्त्रों के और उनके रहस्य के असाधारण ज्ञाता थे । पञ्चशत [५००] ग्रन्थों के अनुपम प्रणेता थे, सुसंयमी और पंचमहाव्रतधारी थे एवं बहुश्रुतज्ञानवन्त तथा गीतार्थ महापुरुष थे । श्री जैन श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों को सदा सम्माननीय, वन्दनीय एवं पूजनीय थे और आज भी दोनों द्वारा पूजनीय हैं ।

ग्रन्थकर्त्ता का काल : पूर्वधर महर्षि-वाचकप्रवर श्री उमास्वाति महाराज के समय का निर्णय निश्चित नहीं है, तो भी श्रीतत्त्वार्थसूत्रभाष्य की प्रशस्ति के पाँच श्लोकों में जो वर्णन किया है, वह इस प्रकार है—

❀ भाष्यगतप्रशस्तिः ❀

वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः, प्रकाशयशसः प्रशिष्येण ।
शिष्येण घोषनन्दि - क्षमणस्यैकादशाङ्गविदः ॥ १ ॥



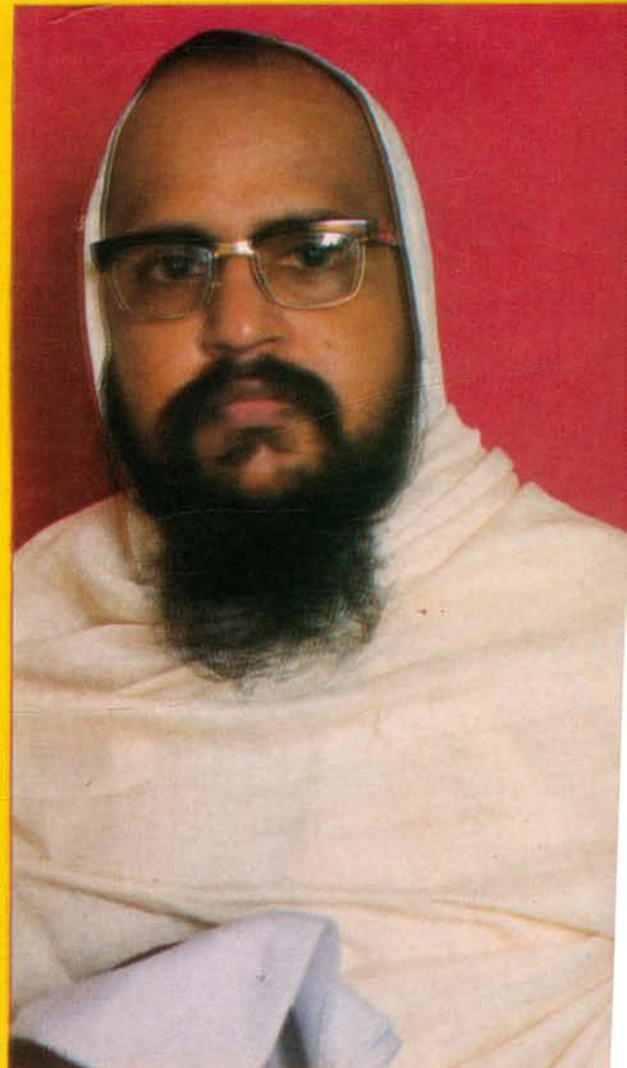
❁ राजस्थान दीपक - प्रतिष्ठा शिरोमणि - परमपूज्य आचार्य भगवन्त ❁
श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वर जी महाराज साहब



॥ प.पू. आचार्य श्री सुशील सूरि जी म. ॥

सुयोग्य गुरु के सुयोग्य शिष्य
जिनोत्तम गणि है नाम,
गुरु-शिष्य की इस जोड़ी पर
जिनशासन को है नाज।
अल्पवय और अल्पकाल में
जिनके बड़े हैं नाम,
भविष्य के आचार्य जिनोत्तम
चन्द्र का तुम्हें प्रणाम॥

शान्तसुधारस मृदुमनी, राजस्थान के दीप,
मरुधरोद्धारक सत्कवि तुम साहित्य के सीप।
कविभूषण हो तीर्थप्रभावक, नयना है निष्काम,
सुशील सूरेश्वर को करूँ, वन्दन आठों याम॥



॥ पू.पंन्यास श्री जिनोत्तमविजयजी गणि म

वाचनया च महावाचक-क्षमणमुण्डपादशिष्यस्य ।
 शिष्येण वाचकाचार्य-मूलनाम्नः प्रथितकीर्त्तः ॥ २ ॥
 न्यग्रोधिकाप्रसूतेन, विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि ।
 कौभीषणिना स्वाति-तनयेन वात्सीसुतेनार्घ्यम् ॥ ३ ॥
 अर्हद्वचनं सम्यग्गुरु-क्रमेणागतं समुपधार्य ।
 दुःखार्त्तं च दुरागम-विहतमर्ति लोकमवलोक्य ॥ ४ ॥
 इदमुच्चैनगिरवाचकेन, सत्त्वानुकम्पया दृढम् ।
 तत्त्वार्थाधिगमार्थं, स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥ ५ ॥
 यस्तत्त्वाधिगमार्थं, ज्ञास्यति च करिष्यते च तथोक्तम् ।
 सोऽव्याबाधसुखार्थं, प्राप्स्यत्यचिरेण परमार्थम् ॥ ६ ॥

अर्थ-प्रकाशरूप है यश जिनका अर्थात् जिनकी कीर्त्ति जगद्विश्रुत है, ऐसे शिवश्री नामक वाचकमुख्य के प्रशिष्य और ग्यारह अङ्ग के ज्ञान को जानने वाले ऐसे श्री घोषनन्दि श्रमण के शिष्य तथा प्रसिद्ध है कीर्त्ति जिनकी और जो महावाचकक्षमा-श्रमण श्री मुण्डपाद के शिष्य थे, उन श्री मूलनामक वाचकाचार्य के वाचना की अपेक्षा से शिष्य, कौभीषणी गोत्र में उत्पन्न हुए ऐसे स्वाति नाम के पिता के तथा वात्सी गोत्र वाली ऐसी (उमा नाम की) माता के पुत्र, न्यग्रोधिका गाँव में जन्म पाये हुए, कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) नाम के श्रेष्ठ नगर में विचरते, उच्चनागर शाखा के वाचक श्री उमास्वाति ने गुरुपरम्परा से मिले हुए उत्तम अर्हद्वचनों को अच्छी तरह समझकर और यह देखकर कि यह विश्व-संसार मिथ्या आगमों के निमित्त से नष्ट-बुद्धि हो रहा है, इसलिये दुःखों से पीड़ित बना हुआ है, जीव-प्राणियों पर अनुकम्पा-दया करके इस आगम की रचना की है और इस शास्त्र को 'तत्त्वार्थाधिगम' नाम से स्पष्ट किया है । जो इस 'तत्त्वार्थाधिगम' को जानेगा और इसमें जैसा कहा गया है, तदनुसार प्रवर्तन करेगा, वह शीघ्र ही अव्याबाध सुख रूप परमार्थ को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करेगा ॥१-६॥

उक्त प्रशस्ति के अनुसार यह जाना जाता है कि शिवश्री वाचक के प्रशिष्य और घोषनन्दी श्रमण के शिष्य उच्चनागरी शाखा में हुए उमास्वाति वाचक ने 'तत्त्वार्थाधिगम' शास्त्र रचा । वे वाचनागुरु की अपेक्षा क्षमाश्रमण मुण्डपाद के प्रशिष्य और मूल नामक वाचकाचार्य के शिष्य थे । उनका जन्म न्यग्रोधिका में हुआ था । विहार करते-करते कुसुमपुर (पाटलिपुत्र-पटना) नाम के नगर में यह

‘तत्त्वार्थाधिगम सूत्र’ नामक ग्रन्थ रचा । आपके पिता का नाम स्वाति और माता का नाम उमा था ।

श्री उमास्वाति महाराज कृत ‘जम्बूद्वीपसमासप्रकरण’ के वृत्तिकार श्री विजय सिंहसूरीश्वरजी म. ने अपनी वृत्ति-टीका के आदि में कहा है कि उमा माता और स्वाति पिता के सम्बन्ध से उनका नाम ‘उमास्वाति’ रखा गया ।

श्री पञ्चवणा सूत्र की वृत्ति में कहा है कि ‘वाचकाः पूर्वविदः ।’ यानी वाचक का अर्थ पूर्वधर है । इस विषय में ‘जैन परम्परा का इतिहास’ भाग १ में भी कहा है कि “श्री कल्पसूत्र के उल्लेख से जान सकते हैं कि आर्य दिन्नसूरि के मुख्य शिष्य आर्यशान्ति श्रेणिक से उच्चनागरशाखा निकली है । इस उच्चनागर शाखा में पूर्वज्ञान के धारक और विख्यात ऐसे वाचनाचार्य शिवश्री हुए थे । उनके घोषनन्दी श्रमण नाम के पट्टधर थे, जो पूर्वधर नहीं थे, किन्तु ग्यारह अंग के जानकार थे । पण्डित उमास्वाति ने घोषनन्दी के पास में दीक्षा लेकर ग्यारह अंग का अध्ययन किया । उनकी बुद्धि तेज थी । वे पूर्व का ज्ञान पढ़ सकें ऐसी योग्यता वाले थे । इसलिए उन्होंने गुरुआज्ञा से वाचनाचार्य श्रीमूल, जो महावाचनाचार्य श्रीमुण्डपाद क्षमाश्रमण के पट्टधर थे, उनके पास जाकर पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया ।

श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के भाष्य में ‘उमास्वाति महाराज उच्चनागरी शाखा के थे’, ऐसा उल्लेख है । उच्चनागरी शाखा श्रमण भगवान श्री महावीर परमात्मा के पाटे आये हुए आर्यदिन्न के शिष्य आर्य शान्ति श्रेणिक के समय में निकली है । अतः ऐसा लगता है कि वाचकप्रवर श्री उमास्वातिजी महाराज विक्रम की पहली से चौथी शताब्दी पर्यन्त में हुए हैं । इस अनुमान के अतिरिक्त उनका निश्चित समय अद्यावधि उपलब्ध नहीं है । श्रीतत्त्वार्थसूत्र की भाष्यप्रशस्ति में आगत उच्चनागरी शाखा के उल्लेख से श्रीउमास्वातिजी की गुरुपरम्परा श्वेताम्बराचार्य आर्य श्री सुहस्तिसूरीश्वरजी महाराज की परम्परा में सिद्ध होती है । प्रभावक आचार्यों की परम्परा में वाचकप्रवर श्री उमास्वाति महाराज एक ऐसी विशिष्ट श्रेणी के महापुरुष थे, जिनको श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों समान भाव से सम्मान देते हैं और अपनी-अपनी परम्परा में मानने में भी गौरव का अनुभव करते हैं । श्वेताम्बर परम्परा में ‘उमास्वाति’ नाम से ही प्रसिद्धि है तथा दिगम्बर परम्परा में ‘उमास्वाति’ और ‘उमास्वामी’ इन दोनों नामों से प्रसिद्धि है ।

विशेषताएँ : जैनतत्त्वों के अद्वितीय संग्राहक, पाँच सौ ग्रन्थों के रचयिता तथा श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र ग्रन्थ के प्रणेता पूर्वधर महर्षि-वाचकप्रवर श्री उमास्वाति महाराज ऐसे युग में जन्मे जिस समय जैनशासन में संस्कृतज्ञ, समर्थ, दिग्गज विद्वानों की आवश्यकता थी। उनका जीवन अनेक विशेषताओं से परिपूर्ण था। उनका जन्म जैनजाति-जैनकुल में नहीं हुआ था, किन्तु विप्रकुल में हुआ था। विप्र-ब्राह्मण कुल में जन्म लेने के कारण प्रारम्भ से ही उन्हें संस्कृत भाषा का विशेष ज्ञान था। श्री जैन-आगम-सिद्धान्त-शास्त्र का प्रतिनिधि रूप महान् ग्रन्थ श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र उनके आगम सम्बन्धी तलस्पर्शी ज्ञान को प्रगट करता है; इतना ही नहीं, किन्तु भारतीय षट्दर्शनों के गम्भीर ज्ञानाध्ययन की सुन्दर सूचना देता है। उनके वाचक पद को देखकर श्री जैन श्वेताम्बर परम्परा उनको पूर्वविद् अर्थात् पूर्वी के ज्ञाता रूप में सम्मानित करती रही है तथा दिगम्बर परम्परा भी उनको श्रुतकेवली तुल्य सम्मान दे रही है। जैन साहित्य के इतिहास में आज भी जैनतत्त्वों के संग्राहक रूप में उनका नाम सुवर्णक्षरों में अङ्कित है।

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय हेमचन्द्रसूरीश्वरजी म. सा. ने अपने 'श्री सिद्धहेमचन्द्रशब्दानुशासन' नामक महा व्याकरण ग्रन्थ में "उत्कृष्टे अनूपेन" सूत्र में "उपोमास्वाति संग्रहीतारः" कहकर अद्वितीय अञ्जलि समर्पित की है तथा अन्य बहुश्रुत और सर्वमान्य समर्थ आचार्य भगवन्त भी उमास्वाति आचार्य को वाचक-मुख्य अथवा वाचकश्रेष्ठ कह कर स्वीकारते हैं।

※ श्री तत्त्वार्थाधिगमसूत्र की महत्ता ※

जैनागमरहस्यवेत्ता पूर्वधर वाचकप्रवर श्री उमास्वाति महाराज ने अपने संयम-जीवन के काल में पञ्चशत [५००] ग्रन्थों की अनुपम रचना की है। वर्तमान काल में इन पञ्चशत [५००] ग्रन्थों में से श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, प्रशमरतिप्रकरण, जम्बूद्वीपसमासप्रकरण, क्षेत्रसमास, आवकप्रज्ञप्ति तथा पूजाप्रकरण इतने ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

पूर्वधर-वाचकप्रवरश्री की अनमोल ग्रन्थराशिरूप विशाल आकाशमण्डल में चन्द्रमा की भाँति सुशोभित ऐसा सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ यह 'श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र' है। इसकी महत्ता इसके नाम से ही सुप्रसिद्ध है। पूर्वधर-वाचकप्रवर श्री उमास्वाति महाराज जैन आगम सिद्धान्तों के प्रखर विद्वान् और प्रकाण्ड ज्ञाता थे। इन्होंने अनेक शास्त्रों

का अवगाहन करके जीवाजीवादि तत्त्वों को लोकप्रिय बनाने के लिए अतिगहन और गम्भीर दृष्टि से नवनीत रूप में इसकी अति सुन्दर रचना की है। यह श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र संस्कृत भाषा का सूत्र रूप से रचित सबसे पहला अत्युत्तम, सर्वश्रेष्ठ, महान् ग्रन्थरत्न है। यह ग्रन्थ ज्ञानी पुरुषों को साधु-महात्माओं को विद्वद्गणों को और मुमुक्षु जीवों को निर्मल आत्मप्रकाश के लिए दर्पण के सदृश देदीप्यमान है और अहर्निश स्वाध्याय करने लायक तथा मनन करने योग्य है। पूर्व के महापुरुषों ने इस तत्त्वार्थसूत्र को 'अर्हत् प्रवचन संग्रह' रूप में भी जाना है।

ग्रन्थ परिचय : यह श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र जैनसाहित्य का संस्कृत भाषा में निबद्ध प्रथम सूत्रग्रन्थरत्न है। इसमें दस अध्याय हैं। दस अध्यायों की कुल सूत्र संख्या ३४४ है तथा इसके मूल सूत्र मात्र २२५ श्लोक प्रमाण हैं। इसमें मुख्यपने द्रव्यानुयोग की विचारणा के साथ गणितानुयोग और चरणकरणानुयोग की भी अति सुन्दर विचारणा की गई है। इस ग्रन्थरत्न के प्रारम्भ में वाचक श्री उमास्वाति महाराज विरचित स्वोपज्ञभाष्यगत सम्बन्धकारिका प्रस्तावना रूप में संस्कृत भाषा के पद्यमय ३१ श्लोक हैं, जो मनन करने योग्य हैं। पश्चात्—

[१] पहले अध्याय में—३५ सूत्र हैं। शास्त्र की प्रधानता, सम्यग्दर्शन का लक्षण, सम्यक्त्व की उत्पत्ति, तत्त्वों के नाम, निक्षेपों के नाम, तत्त्वों की विचारणा करने के द्वारा ज्ञान का स्वरूप तथा सप्त नय का स्वरूप आदि का वर्णन किया गया है।

[२] दूसरे अध्याय में—५२ सूत्र हैं। इसमें जीवों के लक्षण, औपशमिक आदि भावों के ५३ भेद, जीव के भेद, इन्द्रिय, गति, शरीर, आयुष्य की स्थिति इत्यादि का वर्णन किया गया है।

[३] तीसरे अध्याय में—१८ सूत्र हैं। इसमें सात पृथ्वियों, नरक के जीवों की वेदना तथा आयुष्य, मनुष्य क्षेत्र का वर्णन, तिर्यंच जीवों के भेद तथा स्थिति आदि का निरूपण किया गया है।

[४] चौथे अध्याय में—५३ सूत्र हैं। इसमें देवलोक, देवों की ऋद्धि और उनके जघन्योत्कृष्ट आयुष्य इत्यादि का वर्णन है।

[५] पाँचवें अध्याय में—४४ सूत्र हैं। इसमें धर्मास्तिकायादि अजीव तत्त्व का

निरूपण है तथा षट् द्रव्य का भी वर्णन है । पदार्थों के विषय में जैनदर्शन और जैनेतर दर्शनों की मान्यता भिन्न स्वरूप वाली है । नैयायिक १६ पदार्थ मानते हैं, वैशेषिक ६-७ पदार्थ मानते हैं, बौद्ध चार पदार्थ मानते हैं, मीमांसक ५ पदार्थ मानते हैं तथा वेदान्ती एक अद्वैतवादी है । जैनदर्शन ने छह पदार्थ अर्थात् छह द्रव्य माने हैं । उनमें एक जीव द्रव्य है और शेष पाँच अजीव द्रव्य हैं । इन सभी का वर्णन इस पाँचवें अध्याय में है ।

[६] छठे अध्याय में—२६ सूत्र हैं । इसमें आस्रव तत्त्व के कारणों का स्पष्टीकरण किया गया है । इसकी उत्पत्ति योगों की प्रवृत्ति से होती है । योग पुण्य और पाप के बन्धक होते हैं । इसलिये पुण्य और पाप को पृथक् न कहकर आस्रव में ही पुण्य-पाप का समावेश किया गया है ।

[७] सातवें अध्याय में—३४ सूत्र हैं । इसमें देशविरति और सर्वविरति के व्रतों का तथा उनमें लगने वाले अतिचारों का वर्णन किया गया है ।

[८] आठवें अध्याय में—२६ सूत्र हैं । इसमें मिथ्यात्वादि हेतु से होते हुए बन्ध तत्त्व का निरूपण है ।

[९] नौवें अध्याय में—४६ सूत्र हैं । इसमें संवर तत्त्व तथा निर्जरा तत्त्व का निरूपण किया गया है ।

[१०] दसवें अध्याय में—७ सूत्र हैं । इसमें मोक्षतत्त्व का वर्णन है ।

उपसंहार में (३२ श्लोक प्रमाण) अन्तिम कारिका में सिद्ध भगवन्त के स्वरूप इत्यादि का सुन्दर वर्णन किया है । प्रान्ते ग्रन्थकार ने भाष्यगत प्रशस्ति ६ श्लोक में देकर ग्रन्थ की समाप्ति की है ।

* श्रीतत्त्वार्थसूत्र पर उपलब्ध अन्य ग्रन्थ *

श्रीतत्त्वार्थसूत्र पर वर्तमान काल में लभ्य-मुद्रित अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं ।

(१) श्रीतत्त्वार्थसूत्र पर स्वयं वाचक श्री उमास्वाति महाराज की 'श्रीतत्त्वार्थाधिगम भाष्य' स्वोपज्ञ रचना है, जो २२०० श्लोक प्रमाण है ।

(२) श्रीसिद्धसेन गरिण महाराज कृत भाष्यानुसारिणी टीका १८२०२ श्लोक प्रमाण की है । यह सबसे बड़ी टीका कहलाती है ।

(३) श्रीतत्त्वार्थ भाष्य पर १४४४ ग्रन्थों के प्रणेता आचार्य श्रीहरिभद्रसूरीश्वरजी महाराज कृत लघु टीका ११००० श्लोक प्रमाण की है। उन्होंने यह टीका साढ़े पाँच (५॥) अध्याय तक की है। शेष टीका आचार्य श्री यशोभद्रसूरिजी ने पूर्ण की है।

(४) इस ग्रन्थ पर श्री चिरन्तन नाम के मुनिराज ने 'तत्त्वार्थ टिप्पण' लिखा है।

(५) इस ग्रन्थ के प्रथम अध्याय पर न्यायविशारद न्यायाचार्य महोपाध्याय श्री यशोविजयजी महाराज कृत भाष्यतर्कानुसारिणी 'टीका' है।

(६) आगमोद्धारक श्री सागरानन्दसूरीश्वरजी म. श्री ने 'तत्त्वार्थकर्तृत्वतन्मत-निर्णय' नाम का ग्रन्थ लिखा है।

(७) भाष्यतर्कानुसारिणी टीका पर पू. शासनसम्राट् श्रीमद् विजय नेमि-सूरीश्वरजी म. सा. के प्रधान पट्टधर न्यायवाचस्पति-शास्त्रविशारद पू. आचार्यप्रवर श्रीमद् विजय दर्शन सूरीश्वरजी महाराज ने श्रीतत्त्वार्थसूत्र पर के विवरण को समझाने के लिये 'गूढार्थदीपिका' नाम की विशद वृत्ति रची है। सिद्धान्तवाचस्पति-न्यायविशारद पू. आ. श्रीमद् विजयोदयसूरीश्वरजी म. सा. ने भी वृत्ति रची है।

(८) पू. शासनसम्राट् श्रीमद् विजय नेमिसूरीश्वरजी म. सा. के दिव्य पट्टालंकार व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्न-साहित्यसम्राट् पूज्य आचार्यवर्य श्रीमद् लावण्यसूरीश्वरजी महाराज ने श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र के 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्' (२६), 'तद्भावाव्ययं नित्यम्' (३०), 'अपितानपितसिद्धेः' (३१) इन तीन सूत्रों पर 'तत्त्वार्थ त्रिसूत्री प्रकाशिका' नाम की विशद टीका ४२०० श्लोक प्रमाण रची है।

(९) सम्बन्धकारिका और अन्तिमकारिका पर श्री सिद्धसेन गणि कृत टीका है।

(१०) सम्बन्धकारिका पर आचार्य श्री देवगुप्तसूरि कृत टीका है।

(११) आचार्य श्री मलयगिरिसूरि म. ने भी श्रीतत्त्वार्थसूत्र पर टीका की है।

(१२) मैंने [आ. श्री विजय सुशीलसूरि ने] भी तत्त्वार्थाधिगमसूत्र पर तथा

उसकी 'सम्बन्धकारिका' और 'अन्तिमकारिका' पर संक्षिप्त लघु टीका सुबोधिका, हिन्दी भाषा में विवेचनाऽमृत तथा हिन्दी में पद्यानुवाद की रचना की है ।

(१३) पू. शासनसम्राट् श्रीमद् विजय नेमिसूरीश्वरजी म. सा. के पट्टधर शास्त्र-विशारद-कविरत्न पू. आचार्य श्रीमद् विजयामृतसूरीश्वरजी म. सा. के प्रधान पट्टधर-द्रव्यानुयोगज्ञाता पू. आचार्य श्रीमद् विजय रामसूरीश्वरजी म. श्री ने इस तत्त्वार्थाधिगम-सूत्र का, सम्बन्धकारिका का तथा अन्तिमकारिका का गुर्जर भाषा में पद्यानुवाद किया है ।

(१४) तीर्थप्रभावक-स्वर्गीय आचार्य श्रीमद् विजय विक्रमसूरीश्वरजी म. श्री ने गुजराती विवरण लिखा है ।

(१५) श्री तत्त्वार्थ सूत्र पर श्री यशोविजयजी गणि महाराज का गुजराती ट्ठा है ।

(१६) कर्मसाहित्यनिष्णात आचार्य श्रीमद् विजय प्रेमसूरीश्वरजी म. के समुदाय के मुनिराज श्री राजशेखरविजयजी ने श्रीतत्त्वार्थसूत्र का गुर्जर भाषा में विवेचन किया है ।

(१७) पण्डित खूबचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री ने सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र का 'हिन्दी-भाषानुवाद' किया है ।

(१८) पण्डित श्री सुखलालजी ने श्रीतत्त्वार्थसूत्र का गुर्जर भाषा में विवेचन किया है ।

(१९) पण्डित श्री प्रभुदास बेचरदास ने भी तत्त्वार्थसूत्र पर गुर्जर भाषा में विवेचन किया है ।

(२०) श्री मेघराज मुणोत ने श्रीतत्त्वार्थसूत्र का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया है ।

जैसे श्री जैन श्वेताम्बर आम्नाय में 'श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र' नामक ग्रन्थ विशेष रूप में प्रचलित है, वैसे ही श्री दिगम्बर आम्नाय में भी यह ग्रन्थ मौलिक रूपे अति-प्रचलित है । इस महान् ग्रन्थ पर दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि, आचार्य

अकलंकदेव ने राजवार्त्तिक टीका तथा आचार्य विद्यानन्दि ने श्लोकवार्त्तिक टीका की रचना की है । इस ग्रन्थ पर एक श्रुतसागरी टीका भी है । इस प्रकार इस ग्रन्थ पर आज संस्कृत भाषा में अनेक टीकाएँ तथा हिन्दी व गुजराती भाषा में अनेक अनुवाद विवेचनादि उपलब्ध हैं । इस प्रकार इस ग्रन्थ की महत्ता निर्विवाद है ।

✽ प्रस्तुत प्रकाशन का प्रसंग ✽

उत्तर गुजरात के सुप्रसिद्ध श्री शंखेश्वर महातीर्थ के समीपवर्ती राधनपुर नगर में विक्रम संवत् १९९८ की साल में तपोगच्छाधिपति शासनसम्राट्-परमगुरुदेव-परमपूज्य आचार्य महाराजाधिराज श्रीमद् विजय नेमिसूरीश्वरजी म. सा. के दिव्यपट्टालंकार-साहित्यसम्राट्-प्रगुरुदेव-पूज्यपाद आचार्यदेव श्रीमद् विजय लावण्यसूरीश्वरजी म. सा. का श्रीसंघ की साग्रह विनंति से सागरगच्छ के जैन उपाश्रय में चातुर्मास था । उस चातुर्मास में पूज्यपाद आचार्यदेव के पास पूज्य गुरुदेव श्री दक्षविजयजी महाराज (वर्त्तमान में पू. आ. श्रीमद् विजय दक्षसूरीश्वरजी महाराज), मैं सुशील विजय (वर्त्तमान में आ. सुशीलसूरि) तथा मुनि श्री महिमाप्रभ विजयजी (वर्त्तमान में आचार्य श्रीमद् विजय महिमाप्रभसूरिजी म.) आदि प्रकरण, कर्मग्रन्थ तथा तत्त्वार्थसूत्र आदि का (टीका युक्त वाचना रूपे) अध्ययन कर रहे थे । मैं प्रतिदिन प्रातःकाल में नवस्मरण आदि सूत्रों का व एक हजार श्लोकों का स्वाध्याय करता था । उसमें पूर्वधर-वाचकप्रवर श्री उमास्वाति महाराज विरचित 'श्रीतत्त्वार्थसूत्र' भी सम्मिलित रहता था । इस महान् ग्रन्थ पर पूज्यपाद प्रगुरुदेवकृत 'तत्त्वार्थ त्रिसूत्री प्रकाशिका' टीका का अवलोकन करने के साथ-साथ 'श्रीतत्त्वार्थसूत्र-भाष्य' का भी विशेष रूप में अवलोकन किया था ।

अति गहन विषय होते हुए भी अत्यन्त आनन्द आया । अपने हृदय में इस ग्रन्थ पर संक्षिप्त लघु टीका संस्कृत में और सरल विवेचन हिन्दी में लिखने की स्वाभाविक भावना भी प्रगटी । परमाराध्य श्रीदेव-गुरु-धर्म के पसाय से और अपने परमोपकारी पूज्यपाद परमगुरुदेव एवं प्रगुरुदेव आदि महापुरुषों की असीम कृपादृष्टि और अदृष्ट आशीर्वाद से तथा मेरे दोनों शिष्यरत्न वाचकप्रवर श्री विनोदविजयजी गणिवर एवं पंन्यास श्री जिनोत्तमविजयजी गणि की जावाल [सिरोही समीपवर्ती] में पंन्यास पदवी प्रसंग के महोत्सव पर की हुई विज्ञप्ति से इस कार्य को शीघ्र प्रारम्भ करने हेतु मेरे उत्साह और आनन्द में अभिवृद्धि हुई । श्रीवीर सं. २५१६, विक्रम सं.

२०४६ तथा नेमि सं. ४१ की साल का मेरा चातुर्मास श्री जैनसंघ, धनला की साग्रह विनंति से श्री धनला गाँव में हुआ ।

इस चातुर्मास में इस ग्रन्थ की टीका और विवेचन का शुभारम्भ किया है । इस ग्रन्थ की लघु टीका तथा विवेचनादियुक्त यह प्रथम-पहला अध्याय है । इस कार्य हेतु मैंने आगमशास्त्र के अवलोकन के साथ-साथ इस ग्रन्थ पर उपलब्ध समस्त संस्कृत, गुजराती, हिन्दी साहित्य का भी अध्ययन किया है और इस अध्ययन के आधार पर संस्कृत में सुबोधिका लघु टीका तथा हिन्दी विवेचनामृत की रचना की है । इस रचना-लेख में मेरी मतिमन्दता एवं अन्य कारणों से मेरे द्वारा मेरे जानते या अजानते श्रीजिनाज्ञा के विरुद्ध कुछ भी लिखा गया हो तो उसके लिए मन-वचन-काया से मैं 'मिच्छा मि दुक्कड' देता हूँ ।

श्रीवीर सं. २५१७

विक्रम सं २०४७

नेमि सं. ४२

कार्तिक सुद ५

[ज्ञान पंचमी]

बुधवार

दिनांक २४-११-६०

卐 卐 卐

लेखक—

आचार्य विजय

सुशीलसूरि

स्थल—श्रीमाणभद्र भवन

—जैन उपाश्रय

मु. पो. धनला-३०६ ०२५

वाया—मारवाड़ जंक्शन,

जिला—पाली (राजस्थान)



卐 श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् 卐

तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय

卐 अनुक्रम 卐

- पट्टावली ३ - ६
- प्रकाशकीय निवेदन ७ - ८
- प्रास्ताविकम् : पं. हीरालाल शास्त्री ९ - १०
- पुरोवचः : पं. गोविन्दराम व्यास ११ - १३
- प्राक्कथन : आचार्य विजय सुशील सूरि १४ - २३

• • •

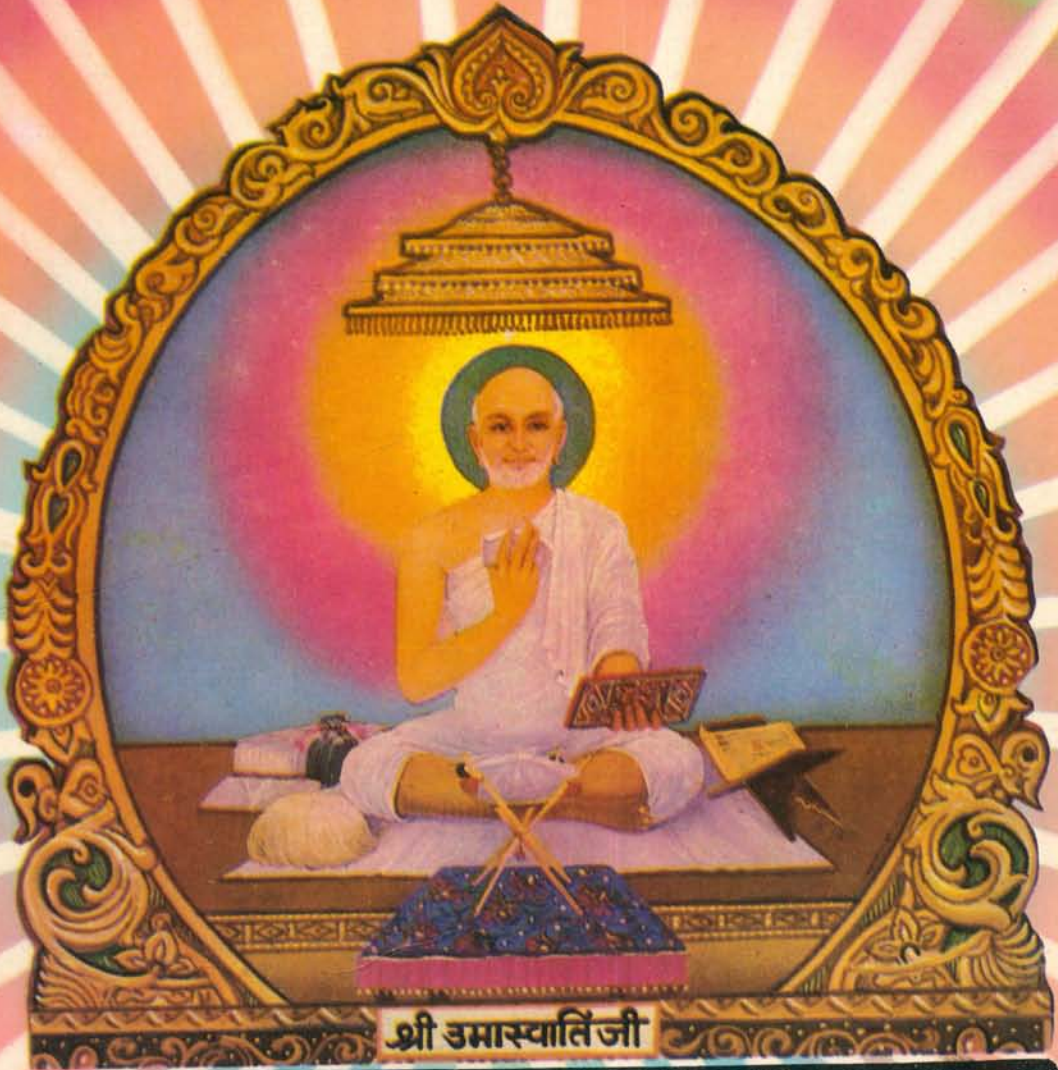
- तृतीयोऽध्यायः १ - ६३
- हिन्दी पद्यानुवाद ६४ - ६८
- परिशिष्ट खण्ड ६९ - ८०

• • •

- चतुर्थोऽध्यायः १ - ८१
- हिन्दी पद्यानुवाद ८२ - ९२
- परिशिष्ट खण्ड ९३ - ११४



पूर्वधर-परमर्षि-श्रीउमास्वातिवाचकप्रवरेण
विरचितम्



श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्



卐 श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र की महत्ता 卐



जैनागमरहस्यवेत्ता पूर्वधर वाचकप्रवर श्री उमास्वाति महाराज ने अपने संयम-जीवन के काल में पञ्चशत (५००) ग्रन्थों की अनुपम रचना की है। वर्तमान काल में इन पञ्चशत (५००) ग्रन्थों में से श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, प्रशमरतिप्रकरण, जम्बूद्वीपसमासप्रकरण, क्षेत्रसमास, श्रावकप्रज्ञप्ति तथा पुजाप्रकरण इतने ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

पूर्वधर - वाचकप्रवरश्री की अनमोल ग्रन्थराशिरूप विशाल आकाशमण्डल में चन्द्रमा की भाँति सुशोभित ऐसा सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ यह श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र है। इसकी महत्ता इसके नाम से ही सुप्रसिद्ध है।

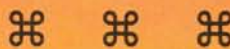
पूर्वधर - वाचकप्रवरश्री उमास्वाति महाराज जैन आगम सिद्धान्तों के प्रखर विद्वान् और प्रकाण्ड ज्ञाता थे। इन्होंने अनेक शास्त्रों का अवगाहन कर के जीवाजीवादि तत्त्वों को लोकप्रिय बनाने के लिए अतिगहन और गम्भीर दृष्टि से नवनीत रूप में इसकी अति सुन्दर रचना की है। यह श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र संस्कृत भाषा का सूत्ररूप से रचित सबसे पहला अत्युत्तम, सर्वश्रेष्ठ महान् ग्रन्थरत्न है।

यह ग्रन्थ ज्ञानी पुरुषों को, साधु-महात्माओं को, विद्वद्बर्ग को और मुमुक्षु जीवों को निर्मल आत्मप्रकाश के लिए दर्पण के सदृश देदीप्यमान है और अहर्निश स्वाध्याय करने लायक तथा मनन करने योग्य है। पूर्व के महापुरुषों ने इस तत्त्वार्थसूत्र को 'अर्हत् प्रवचनसंग्रह' रूप में भी जाना है।

卐 पुरोवचन 卐

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इन त्रिवेणी संगमरूप यह मोक्षमार्ग है। तत्त्वों के बोध के लिए जीवादि तत्त्वों का निरूपण करना अतिआवश्यक है। इसलिए सूत्रकार महर्षि ने दूसरे अध्याय में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से जीव तत्त्व का निरूपण किया है। अब इस तीसरे अध्याय में भी भिन्न-भिन्न दृष्टियों से जीवों का ही निरूपण करने में आया है।

पूर्वधर महर्षि श्री उमास्वाति वाचक प्रणीत श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र के इस तृतीय अध्याय में कुल सौ की संख्या अठारह (१८) है। इसमें नरक की सात पृथ्वियों, नरकावास, नरक में लेश्या आदि की अशुभता, नरक में परस्परोदीरित वेदना, नरक में परमाधामी कृत वेदना, नारकों की आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति, नरक सम्बन्धी विशेष माहिती, तिच्छर्ष लोक में द्वीप, समुद्र और उनकी पहाड़ी तथा आकृति, सर्वद्वीप-समुद्रों के मध्य में आये हुए द्वीपों के नामादि, जम्बूद्वीप की जगती, मेरुपर्वत की तीन लोक में स्पर्शना, जम्बूद्वीप में आये हुए क्षेत्र तथा कुलगिरि-पर्वत, भरतक्षेत्र की विशेष माहिती, धातकीखण्डद्वीप में क्षेत्रों और पर्वतों की संख्या, पुष्करवरद्वीप में क्षेत्रों तथा पर्यंतों की संख्या, मनुष्यों के निवासस्थान की मर्यादा, मनुष्यों के भेद, कर्मभूमि की संख्या तथा मनुष्यों व तिर्यञ्चों के आयुष्य का वर्णन है।



॥ अहम् ॥

ॐ श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ॐ

तस्यायं

तृतीयोऽध्यायः

अत्राह-प्रोक्तं भवता नारकाः, इति गतिं स्वीकृत्य संसारवर्तिजीवस्य औदयिको भावः । तथा संसारे जन्मसु नारक-देवानां जीवानामुपपातो भवति । नारकाणां स्थितौ च वक्ष्यति । आस्रवतत्त्वेषु ब्रह्मारम्भ-परिश्रुतत्वं च नरकगतेर्जीवस्य नारकस्या-युषः इति । तत्र के नारकाः, क्व नाम चेति ? अत्रोच्यते-

❀ नरकस्य सप्तपृथ्वीनां नामानि ❀

ॐ सूत्रम्-

रत्न-शर्करा-वालुका-पंक-धूम-तमो-महातमः प्रभाभूमयो घनाम्बुवाता-
ऽऽकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोधः पृथुतराः ॥ ३-१ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

नरकेषु भवाः नारकाः । तेषामर्थबोधयितुं अस्मिन् तृतीयाध्याये प्रोक्तम् ।

सप्ताधोलोकभूमयः, एताश्च रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा इत्येता भूमयः घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः भवन्त्ये-
कैकशः सप्त अधोऽधः । रत्नप्रभानरकस्य अधोभागे शर्कराप्रभानरकः, शर्कराप्रभा-
नरकस्य अधोभागे वालुकाप्रभानरकः, वालुकाप्रभानरकस्य अधोभागे पङ्कप्रभानरकः,
पङ्कप्रभानरकस्य अधोभागे धूमप्रभानरकः, धूमप्रभानरकस्य अधोभागे तमःप्रभानरकः,
तमःप्रभानरकस्य अधोभागे महातमःप्रभा नरकश्चेति ।

अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठा इति सिद्धे घनग्रहणं क्रियते यथा प्रतीयते घनमेवाम्बु अधः वसुधायाः, वातास्तु घनास्तनवश्चेति । तदेवं खरपृथिवी पङ्क्तुप्रतिष्ठा, पङ्क्तो घनोदधिवलयप्रतिष्ठो घनोदधिवलयं घनवातवलयप्रतिष्ठं घनवातवलयं, तनुवातवलयप्रतिष्ठं ततो महातमोभूतमाकाशम् । समस्तं चैतत् पृथिव्यादि तनुवातवलयान्तमाकाशप्रतिष्ठम् । तथैवमाकाशं त्वात्मप्रतिष्ठम् । प्रोक्तमवगाहनमाकाशस्येति । तद् अनेनैवानुक्रमेण लोकानुभावसंनिविष्टा असङ्ख्येययोजनकोटीकोटयो विस्तृताः सप्तपृथिव्यो रत्नप्रभाप्रमुखाः सन्ति एव ।

यथा प्रथमा पृथिवी निरूपिता तथैवाऽन्यापि । लोकोऽयं सन्निवेशः अनादि-अकृत्रिमः । नैवेश्वर - रचितः । जैनागमशास्त्रेषु लोकस्य स्थितिः अष्टविधः । यथानुक्रमेण-यथा-(१) आकाशप्रतिष्ठितवातः, (२) वातप्रतिष्ठितोदधिः, (३) उदधिप्रतिष्ठितपृथिवी, (४) पृथिवीप्रतिष्ठितत्रस-स्थावरप्राणाः, (५) जीवप्रतिष्ठित-अजीवः, (६) कर्मप्रतिष्ठितजीवः, (७) जीवसंग्रहीत-अजीवः, (८) कर्मसंग्रहीत-जीवश्चेति ।

अत्राधोऽधः शब्दस्यार्थं पृथिवीषु तिर्यग्-अभावः । सारतः समग्रलोकेषु सप्तभूमयः अधोलोकेषु अपि सप्तभूमयः नेत्यम् । यतः ईषत्-प्राग्भारनामकाष्टमापि सङ्ख्या वर्तते ।

अत्रोच्यते-सप्त ग्रहणं नियमार्थं रत्नप्रभाद्याः नैवाभूवन् अनेकशः ह्यनियतसंख्या इति । सर्वाश्चैता भूमयः अधोऽधः पृथुतरा छत्रातिच्छत्रसंस्थिताः । घर्मा वंशा शैलाञ्जनारिष्ठा माघव्या माघवीति तासां नामधेयानि यथासंख्यमेवं भवन्ति । रत्नप्रभा घनभावेनाशीतं योजनशतसहस्रं शेषा द्वात्रिंशदष्टाविंशतिविंशत्यष्टादश-षोडशाष्टाधिकमिति । सर्वे घनोदधयो विंशतियोजनसहस्राणि । घनवात-तनुवातास्तु असंख्येयानि अधोऽधस्तु घनतराविशेषेणेति ॥ ३-१ ॥

❀ सूत्रार्थ-रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्क्तुप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा । अधोलोक की ये सात भूमियाँ-पृथिव्याँ हैं । प्रत्येक भूमि-पृथ्वी घनाम्बु, घनवात तथा आकाशप्रदेश के आधार से स्थित अर्थात् ठहरी हुई हैं । ये सातों पृथिव्याँ एक-दूसरे के नीचे हैं और नीचे की ओर अधिकाधिक विस्तार वाली हैं ॥ ३-१ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

विश्व में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य इन तीनों का त्रिवेणी संगम ही मोक्ष का मार्ग है तथा जीवादिक तत्त्वों की श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। सत्य तत्त्वों के बोध के लिए जीवादिक तत्त्वों का निरूपण अवश्य ही करना चाहिए। इसलिए ही सूत्रकार महर्षि ने इस तत्त्वार्थधिगम सूत्र के दूसरे अध्याय में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से जीवतत्त्व का निरूपण किया था। अब इस तीसरे अध्याय में चारों गतियों में से सर्वप्रथम नारक जीवों के वर्णन का प्रारम्भ कर रहे हैं—

(१) रत्नप्रभा, (२) शर्कराप्रभा, (३) वालुकाप्रभा, (४) पंकप्रभा, (५) घूमप्रभा, (६) तमःप्रभा और (७) महातमःप्रभा। ये सात भूमियाँ-पृथ्वियाँ हैं। क्रमशः वे एक-एक के नीचे आई हैं और पुनः क्रमशः विशेष-विशेष पहोली हैं। ये सातों पृथ्वियाँ अधोलोक में घनाम्बु, घनवात और आकाश प्रदेशों पर स्थित हैं। इनका प्रतिष्ठान एक के नीचे दूसरी का और दूसरी के नीचे तीसरी का इस क्रम से है। प्रत्येक पृथ्वी तीन-तीन वातवलयों के आधार पर ठहरी हुई है—घनोदधिवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय। ये वातवलय भी आकाश के आधार पर हैं तथा आकाश आत्मप्रतिष्ठित है, अर्थात् अपने ही आधार पर है। क्योंकि वह अनन्त है, किन्तु प्रत्येक पृथ्वी के नीचे अन्तराल में जो आकाश है वह अनन्त नहीं है, तो भी असंख्यात कोटाकोटी योजन प्रमाण है। जैसे पहली रत्नप्रभा भूमि के नीचे और दूसरी शर्कराप्रभा भूमि के ऊपर असंख्येय कोटाकोटी योजन प्रमाण आकाश है। इसी प्रकार क्रमशः सातों पृथ्वियों के नीचे समझना चाहिए। यहाँ पर विशेष यह है कि लोक के अन्त में और वातवलयों के भी अनन्तर जो आकाश है, वह अनन्त ही है।

जिस प्रकार यहाँ पहली रत्नप्रभा पृथ्वी के लिए क्रम और विस्तार कहा है, उसी क्रम से सातों ही पृथ्वियों का सन्निवेश लोकस्थिति के अनुसार जानना चाहिए। इन समस्त पृथ्वियों का तिर्यक् विस्तार असंख्यात कोटाकोटी योजन प्रमाण का समझना।

विशेष—

जिस आकाशप्रदेश में जीव-अजीवादि पदार्थ हैं, उसे लोक कहते हैं, तथा शेष आकाश को अलोक कहा जाता है। समस्त लोक के तीन विभाग कहे गये हैं, जिनके नाम हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक।

✽ जो मेरुपर्वत की समतल भूमि से नौ सौ (९००) योजन नीचे की पृथ्वी है, वहीं से लोक का अधोभाग माना गया है। उसका आकार उलटे हुए सकोरे के समान है तथा ऊपरी भाग संकीर्ण और नीचे अनुक्रम से विस्तार वाला है। मेरुपर्वत की समतल भूमि से नौ सौ योजन नीचे की पृथ्वी तथा नौ सौ योजन ऊपर आकाश, इस प्रकार अठारह सौ (१८००) योजन मध्यलोक कहा जाता है। जिसका आकार भालर के समान बराबर आयाम-विष्कम्भ (लम्बाई-चौड़ाई) वाला है।

इस मध्यलोक के ऊपरी सम्पूर्ण विभाग को ऊर्ध्वलोक कहते हैं। इसका आकार पखावज (मृदङ्गविशेष) के समान है यानी ऊपर और नीचे संकीर्ण तथा मध्यभाग विस्तार वाला है।

नारकी जीवों के निवासस्थान अधोलोक में हैं। इसलिए यहाँ की भूमियाँ 'नरक भूमि' कहलाती हैं। उस भूमि के सात विभाग हैं जो समश्रेणी में नहीं हैं किन्तु एक-दूसरे के ऊपर-नीचे हैं। उनका आयाम (लम्बाई) और विष्कम्भ (चौड़ाई) भी सम नहीं है, परन्तु नीचे-नीचे की भूमि की लम्बाई और चौड़ाई अधिक-अधिक है। अर्थात्—पहली नरक भूमि से दूसरी नरकभूमि की लम्बाई-चौड़ाई अधिक है तथा दूसरी नरक भूमि से तीसरी नरक भूमि की लम्बाई-चौड़ाई भी अधिक होती गई है। इसी तरह छठी तमःप्रभा नरक से सातवीं महातमःप्रभा नरक भूमि तक की लम्बाई-चौड़ाई भी अधिक-अधिकतर विस्तार वाली है। ये सातों नरकभूमियाँ एक-दूसरे के नीचे हैं, किन्तु परस्पर संलग्न नहीं हैं। एक-दूसरी के बीच बहुत ही अन्तर है।

इस अन्तर में घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश क्रमशः नीचे-नीचे हैं। अर्थात् कहा है कि—पहली नरक भूमि के नीचे घनोदधि है, इसके नीचे घनवात है, घनवात के नीचे तनुवात है तथा तनुवात के नीचे आकाशप्रदेश है। इस आकाशप्रदेश के पश्चात् दूसरी नरक भूमि और तीसरी नरक भूमि के बीच भी क्रमशः घनोदधि आदि हैं। इसी तरह सातवीं नरक भूमि तक सब भूमियों के नीचे उसी क्रम से घनोदधि आदि हैं। ऊपर-ऊपर की नरक भूमि से नीचे-नीचे की नरकभूमि की मोटाई न्यून-न्यून है। अर्थात् ऊपर से लेकर नीचे के तल तक का भाग कम-कम है। जैसे—

(१) पहली रत्नप्रभा नरक भूमि की मोटाई एक लाख और अस्सी हजार (१८००००) योजन की है तथा पहोलाई यानी लम्बाई एक रज्जु (एक राज) स्वयंभूरमण समुद्र तक की है।

(२) दूसरी शर्कराप्रभा नारकी की मोटाई एक लाख और बत्तीस हजार (१३२०००) योजन की है तथा पहोलाई यानी लम्बाई ढाई रज्जु (ढाई राज) की है।

(३) तीसरी बालुकाप्रभा नारकी की मोटाई एक लाख और अठ्ठाईस हजार (१२८०००) योजन की है तथा पहोलाई यानी लम्बाई चार रज्जु (चार राज) की है।

(४) चौथी पंकप्रभा नरक की मोटाई एक लाख और बीस हजार (१२००००) योजन की है तथा पहोलाई यानी लम्बाई पाँच रज्जु (पाँच राज) की है।

(५) पाँचवीं धूमप्रभा नरक की मोटाई एक लाख और अठारह हजार (११८०००) योजन की है तथा पहोलाई यानी लम्बाई छह रज्जु (छह राज) की है।

(६) छठी तमःप्रभा नरक की मोटाई एक लाख और सोलह हजार (११६०००) योजन की है तथा पहोलाई यानी लम्बाई साढ़े छह रज्जु (साढ़े छह राज) की है।

(७) सातवीं महातमःप्रभा [तमःतमः प्रभा] नरक की मोटाई एक लाख और आठ हजार (१०८०००) योजन की है तथा पहोलाई यानी लम्बाई सात रज्जु (सात राज) की है।

इस प्रकार पृथ्वियाँ-भूमियाँ नीचे-नीचे विशेष पहोली होने से छत्र के ऊपर छत्र के जैसा उनका आकार होता है। इन सातों नरकभूमियों के नीचे जो सात घनोदधि-बलय हैं, उन सबकी

मोटाई समान रूप है। अर्थात् एक सरीखी बीस-बीस हजार योजन प्रमाण है और जो सात घनवात तथा सात तनवात-वलय हैं उनकी मोटाई सामान्य रूप से असंख्यात योजन की होने पर भी समान नहीं है।

पहली रत्नप्रभा भूमि का घनवातवलय तथा तनवात-वलय असंख्यात योजन है। उससे दूसरी शर्कराप्रभा भूमि के घनवातवलय और तनवातवलय विशेषाधिक हैं एवं यावत् सातवीं महातमःप्रभा भूमि के घनवात तथा तनवातवलय की मोटाई विशेषाधिक है। यही क्रम आकाश-प्रदेश के विषय में भी है।

❧ अधोलोक में रत्नप्रभा आदिक सात भूमियाँ-पृथ्वियाँ हैं। उन के नाम प्रभा की अपेक्षा से अन्वर्थ हैं। जिसमें रत्नों की प्रभा पाई जाय उसे रत्नप्रभा कहते हैं। इस पहली रत्नप्रभा नरक पृथ्वी में रत्न, वज्र, वैडूर्य, लोहित, मसारगल्ल इत्यादि सोलह प्रकार के रत्नों की प्रभा पाई जाती है। इसलिए रत्नप्रभा नाम की सार्थकता है।

दूसरी शर्कराप्रभा नरक पृथ्वी में कंकरो की बहुलता है। इसलिए शर्कराप्रभा नाम की सार्थकता है। तीसरी बालुकाप्रभा नरक पृथ्वी में बालुका-रेती की मुख्यता है। इसलिए बालुका-प्रभा नाम की सार्थकता है। चौथी पंकप्रभा नरक में कादव-कीचड़ की प्रधानता है इसलिए पंकप्रभा नाम की सार्थकता है। पाँचवीं धूमप्रभा नरक पृथ्वी में धूम अर्थात् धूँ की बहुलता है। इसलिए धूमप्रभा नाम की सार्थकता है। छठी तमःप्रभा नरक पृथ्वी में तमः अर्थात् अन्धकार की विशेषता है। इसलिए तमःप्रभा नाम की सार्थकता है तथा सातवीं महातमःप्रभा नरक पृथ्वी में प्रचुर अन्धकार की मुख्यता है। इसलिए महातमःप्रभा यानी तमस्तमःप्रभा नाम की सार्थकता है। इन सातों पृथ्वियों के रुढ़िनाम अनुक्रम से इस प्रकार हैं—(१) घम्मा, (२) वंशा, (३) शला (मेधा), (४) अंजना, (५) रिष्ठा (अरिष्ठा) (६) माघव्या और (७) माघवी हैं।

क्रमशः ये सातों नाम सातों भूमि-पृथ्वियों के जानना।

रत्नप्रभा नारकभूमि के तीन काण्ड (करण्ड) अर्थात् तीन विभाग-हिस्से हैं। सबसे ऊपर का प्रथम खरकाण्ड प्रचुर रत्नमयी है। उसकी मोटाई-सोलह हजार (१६०००) योजन प्रमाण है। उसके नीचे का दूसरा काण्ड पङ्कबहुल अर्थात् कर्दममय चौरासी हजार [८४०००] योजन प्रमाण है। उसके नीचे का तीसरा काण्ड जलबाहुल्य अर्थात् पानी से भरा हुआ है, जिसकी मोटाई अस्सी हजार (८००००) योजन प्रमाण है। उक्त तीनों काण्ड सम्मिलित हो जाने से पहली रत्नप्रभा नरकभूमि की सम्पूर्ण मोटाई एक लाख और अस्सी हजार (१,८०,०००) योजन प्रमाण है। दूसरी शर्कराप्रभा नरक भूमि से लेकर यावत् सप्तमी तमस्तमःप्रभा नरकभूमि तक ऐसे काण्ड नहीं हैं। क्योंकि कंकर और रेती इत्यादि जो-जो पदार्थ हैं, वे समस्त सप्त रूप हैं। रत्नप्रभा नरक का प्रथम काण्ड दूसरे काण्ड पर और दूसरा काण्ड तीसरे काण्ड पर स्थित है। तीसरा काण्ड घनोदधिवलय पर, घनोदधि घनवातवलय पर, घनवात तनवातवलय पर तथा तनवात आकाश पर प्रतिष्ठित है। किन्तु आकाश किसी पर भी स्थित न होकर आत्म-प्रतिष्ठित है।

विश्व के समस्त पदार्थों को अवकाश देना यह आकाश का ही धर्म है। प्रत्येक पृथ्वी घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश के आधार पर रही हुई है। घनाम्बु यानी घनपाणी। इसलिए घनाम्बु को घनोदधि भी कहते हैं। घनवात यानी घनवायु तथा तनुवात यानी पतली वायु जानना।

घनोदधि आदि बल्लय-बंगड़ी के आकार वाले होने से, उनको बल्लय कहते हैं। जैसे—घनोदधिबल्लय, घनवातबल्लय तथा तनुवात-तनवातबल्लय। रत्नप्रभा आदि सातों नरक-भूमियों का जितना-जितना बाह्य ऊपर कह आये हैं, उसके ऊपर-नीचे एक-एक हजार योजन छोड़ करके शेष मध्यभाग में नरकावास हैं।

प्रत्येक पृथ्वी में एक पृथ्वी से दूसरी पृथ्वी के बीच में अस्तर असंख्यात कोड़ाकोड़ी योजन है। पहली रत्नप्रभा से लेकर यावत् सातवीं तमस्तमःप्रभा तक सात पृथ्वियों में क्रमशः तेरह, ग्यारह, नौ, सात, पाँच, तीन और एक प्रतर यानी प्रस्तर आये हुए हैं। वे प्रतर माल वाले मकान के ऊपर के भाग में तलिया के समान होते हैं।

- (१) पहली रत्नप्रभा नरकभूमि में तीस लाख (३००००००) नरकावास हैं।
- (२) दूसरी शर्कराप्रभा नरकभूमि में पच्चीस लाख (२५०००००) नरकावास हैं।
- (३) तीसरी बालुकाप्रभा नरकभूमि में पन्द्रह लाख (१५०००००) नरकावास हैं।
- (४) चौथी पंकप्रभा नरकभूमि में दस लाख (१००००००) नरकावास हैं।
- (५) पाँचवीं घूमप्रभा नरकभूमि में तीन लाख (३०००००) नरकावास हैं।
- (६) छठी तमःप्रभा नरकभूमि में नव्वाणुं हजार नौ सौ पचाणुं (९९९९५) नरकावास हैं।
- (७) सातवीं तमस्तमःप्रभा नरकभूमि में पाँच नरकावास हैं।

इन सातों नरक भूमियों के नरकावासों में नारकी जीव रहते हैं। जैसे—पहली रत्नप्रभा भूमि एक लाख अस्सी हजार (१८०००००) योजनवाली है। उसके ऊपर नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर के शेष मध्यभाग के १७८००० योजन प्रमाण पृथ्वी का पिण्ड नरकावास है। यही क्रम सातों ही नरक भूमियों में है। उन नरकावासों के घातक, सौचक, रौख, रौद्र, पिष्ट-पचनी, लोहीकर और उष्टिकादि अशुभाशुभनाम हैं, जिनके सुनते ही आत्मा में भय हो जाता है।

प्रथम रत्नप्रभागत सीमन्त नामक नरकावास से यावत् सप्तम महातमःप्रभा गत अग्रप्रतिष्ठान नामक नरकावास पर्यन्त समस्त सातों नरकावास छुरे के समान वज्रमय तलिये वाले हैं। किन्तु सबके संस्थान सदृश-समान नहीं हैं। अर्थात् वे भिन्न-भिन्न आकार वाले होते हैं। उनमें कितनेक त्रिकोण आकार वाले, कितनेक चौकोर आकार वाले, कितनेक कुम्भ आकार वाले तथा कितनेक हल इत्यादि अनेक प्रकार के आकार वाले एवं एक, दो और तीन मंजिल वाले मकान के समान प्रतर-प्रस्तर वाले होते हैं। इनकी संख्या क्रमशः इस प्रकार से है। रत्नप्रभा के तेरह

प्रतर, शर्कराप्रभा के ग्यारह प्रतर, बालुका के नौ प्रतर, पंक के सात प्रतर, धूम के पाँच प्रतर, तमः के तीन प्रतर और तमस्तमःप्रभा का एक ही प्रतर है। इनमें नारकी जीव रहते हैं।

विशेष—

सातों नरक भूमियों में प्रत्येक में घनोदधि की मोटाई बीस हजार योजन की है। घनवात तथा तनवात की मोटाई प्रत्येक पृथ्वी में असंख्यात योजन की है। किन्तु नीचे-नीचे की पृथ्वी में घनवात और तनुवात की मोटाई अधिक-अधिक विशेष जाननी।

❀ यहाँ पर प्रश्न यह होगा कि—यहाँ का वायु अन्य स्थल में गये बिना नित्य पानी को धारण करके रखता है। पानी भी किसी स्थल में फैलाये बिना नित्य पृथ्वी को धारण करके रखता है तथा पृथ्वियों में पानी से प्रलय भी नहीं होता है। इस तरह अनादि काल से नित्य सतत रहने में कारण क्या है ?

उत्तर—इस तरह रहने में लोकस्थिति ही कारण है ॥ ३-१ ॥

❀ नरकावासानां वर्णनम् ❀

५ सूत्रम्—

तासु नरकाः ॥ ३-२ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

तासु रत्नप्रभाद्यासु सप्तपृथिवीषु नरकजीवाः वसन्ति । रत्नप्रभादिपृथिव्याः एकसहस्रयोजनान्युच्चैरेकसहस्रयोजनान्यधस्ताद् (नीचैः) त्यक्त्वाऽवशिष्टभागे नरकावासाः सन्ति । तेषु छेदनं, भेदनं, आक्रन्दनं, घातनमित्याद्यनेकदुःखं नारकजीवैर्भुज्यते ।

तद्यथा—उष्ट्रिकापिष्ट पचनीलोहीकरकेन्द्रजानुकाजन्तोकायस्कुम्भायः कोष्ठादि-संस्थाना वज्रतलाः सीमन्तकोपक्रान्ता रौरवोऽच्युतो रौद्रो हाहारवोघातनः शोचनस्तापनः क्रन्दनोविलपनश्छेदनोभेदनः खटाखटः कालपिञ्जर इत्येवमाद्या अशुभनामानः काल-महाकाल-रौरव-महारौरव-अप्रतिष्ठानपर्यन्ताः । तत्र रत्नप्रभादावनुक्रमात् १३-११-९-७-५-३-१ इत्थं सर्वं मिलित्वा एकोनपञ्चाशत् (४९) प्रतराणि सन्ति । तथा त्रिशल-क्षाणि, पञ्चविंशतिलक्षाणि, पञ्चदश लक्षाणि, दशलक्षाणि, त्रीणि लक्षाणि, पञ्च-न्यूनैकलक्षं तथा पञ्चैवं सर्वं सम्मेलया चतुरशीति लक्षाणि (८४०००००) नरकावासाः सन्ति । उपर्युक्तस्य प्रथमप्रतरस्य नाम सीमन्तकमस्ति, अन्त्यप्रतरस्य नाम अप्रतिष्ठा-नमस्ति चेति ॥ ३-२ ॥

❀ सूत्रार्थ—रत्नप्रभादिक उक्त पृथ्वियों में ही नरकों के आवास हैं, अर्थात् नरकावास आये हुए हैं ॥ ३-२ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

रत्नप्रभा इत्यादिक उपर्युक्त सातों पृथ्वियों में ही नरक-नरकावास आये हुए हैं । किन्तु वे आवास प्रत्येक पृथ्वी के ऊपर और नीचे के एक-एक हजार योजन का भाग छोड़कर मध्य के भाग में हैं ।

विश्व में उष्ट्रिका, पिष्टपचनी, लोहीकरका, इन्द्रजानुका, जन्तोका, आयकुम्भ तथा अयकोष्ठादिक पकाने के भाजन यानी वर्तन प्रसिद्ध हैं । जैसा उनका आकार होता है, वैसा ही आकार इन नरकों का भी होता है । इन भाजनों-भाण्डों में पकाने वाले अन्न-तण्डुलादि के समान नारक जीव जो इन नरकों में रहते हैं, उन्हें क्षणमात्र भी स्थिरता या सुख का अनुभव नहीं होता है । केवल श्री तीर्थंकर भगवन्त के जन्मकल्याणकादि समय में बिजली की चमकार की भाँति क्षणभर सुख होता है, शेष समय नहीं । इन नरकों के नीचे का तल भाग यानी तलिया वज्रमय है । पहली रत्न-प्रभा पृथ्वी के तेरह प्रतर हैं । उनमें से पहले प्रतर में दिशाओं की तरफ ४६-४६ तथा विदिशाओं की तरफ ४८-४८ नरक हैं । मध्य में एक सीमन्तक नामका इन्द्रक नरक है । इनकी संख्या सप्तम भूमि तक क्रम से एक-एक कम होती गई है । दिशाओं और विदिशाओं के बिना कुछ प्रकीर्णक नरक भी हैं । रौरव इत्यादिक उन नरकों के नाम हैं । सातवीं पृथ्वी में केवल पाँच ही नरक हैं । क्योंकि उसमें विदिशाओं में कोई नरक नहीं है ।

विशेष—

सारांश यह है कि रत्नप्रभादिक प्रत्येक पृथ्वी की जितनी मोटाई है, उसमें से ऊपर और नीचे एक-एक हजार योजन छोड़कर शेष भाग में नरक हैं । जैसे—रत्नप्रभा पृथ्वी की मोटाई एक लाख और अस्सी हजार (१८००००) योजन की है । उसमें ऊपर के एक हजार योजन और नीचे के एक हजार योजन छोड़कर मध्य के एक लाख और अठहत्तर हजार (१७८००००) योजन में नरकावास हैं । इसी तरह शर्कराप्रभा इत्यादि सभी पृथ्वियों में भी समझना । किन्तु सातवीं तमस्तमःप्रभा पृथ्वी में ऊपर के भाग में साढ़े बावन हजार और नीचे के भाग में भी साढ़े बावन हजार छोड़कर शेष तीन हजार योजन में नरकावास हैं ।

रत्नप्रभादिक सात पृथ्वियों में क्रमशः १३, ११, ९, ७, ५, ३ और १ प्रस्तर यानी प्रतर आये हैं । वे प्रतर मंजिल-माल वाले मकान के ऊपर के भाग में आये हुए छज्जा-तलिया के समान होते हैं । इन प्रतरों में नरकावास आये हुए हैं । ये प्रतर ऊपर-ऊपर आये हुए हैं । रत्नप्रभादिक पृथ्वी में क्रमशः ३० लाख, २५ लाख, १५ लाख, १० लाख, ३ लाख, ९९९५ और ५ नरकावास हैं । ये नरकावास मुख्यपने तीन प्रकार के हैं । इन्द्रक, पंक्तिगत तथा पुष्पावकीर्ण । मध्य-बीच में आये हुए नरकावास को 'इन्द्रक' कहते हैं । छवाये हुए पुष्पों की भाँति खुले-खुले आये हुए नरकावास को 'पुष्पावकीर्ण' कहते हैं । समस्त इन्द्रक नरकावास गोल हैं । पंक्तिगत नरकावास त्रिकोने, चौकोर और वाटलाकार हैं । पुष्पावकीर्ण नरकावास भिन्न-भिन्न आकार वाले हैं ।

वाले हैं। सर्व नरकावासों की ऊँचाई तीन हजार योजन की है। लम्बाई-पहोलाई में कितनेक नरकावास संख्यात योजन के हैं तथा कितनेक असंख्यात योजन के भी हैं।

पहली रत्नप्रभा नरकभूमि में आया हुआ पहला सीमन्तक नामक इन्द्रक नरकावास पैंतालीस लाख (४५०००००) योजन प्रमाण लम्बा है। सातवीं तमस्तमःप्रभा नरक भूमि में आया हुआ अन्तिम अप्रतिष्ठान नामक इन्द्रक नरकावास एक लाख (१०००००) योजन प्रमाण लम्बा है। शेष नरकों में कोई संख्यात हजार और कोई असंख्यात हजार योजन प्रमाण वाले हैं।

घोर पाप के उदय से जीव-आत्मा इन सातों नरकों में जाकर उत्पन्न होते हैं। ये नित्य ही अन्धकार से व्याप्त, दुर्गन्धमय और दुःखों के स्थान हैं। इनका आकार गोल, त्रिकोना, चौकोर इत्यादि अनेक प्रकार का होता है। इन नरकों में उत्पन्न होने वाले और रहने वाले नारक जीवों का विशेष स्वरूप बताने के लिए अब सूत्र कहते हैं ॥ ३-२ ॥

❀ नरकेषु लेश्यादीनामशुभता ❀

❀ सूत्रम्—

नित्याशुभतरलेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः ॥ ३-३ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

आसु रत्नप्रभादिक-सप्तपृथ्वीषु निच्वैर्निच्वैरधिकमधिकमशुभतर-लेश्या-परिणाम-शरीर-वेदना-विक्रियाः निरन्तरं भवन्ति। अर्थादिकक्षणमपि शुभलेश्यादि न तिष्ठति। प्रथम-द्वयनारकयोः कापोतलेश्या वर्तते। तृतीयनारके कापोतलेश्या नीललेश्या च वर्तते। चतुर्थनारके नीललेश्या वर्तते। पञ्चमनारके नीललेश्या कृष्णलेश्या च वर्तते। षष्ठनारके सप्तमनारके च कृष्णलेश्या वर्तते। इमा लेश्या अक्रमादधः स्थितनारकेऽधिकाधिक-संक्लिष्टाऽध्यवसायवती च जायते।

बन्धनं, गतिः (उष्ट्रगर्दभयोरिव) हुण्डकसंस्थानं, भेदः वर्णः, गन्धः, रसः, स्पर्शः, अगुरुलघुः, शब्दश्चैते दशप्रकाराणां अशुभपुद्गलानामनुक्रमतोऽधिकोऽशुभतरपरिणामाः नरकपृथिवीषु भवन्ति। सर्वस्थलेषु नित्यान्धकारमयस्तथा श्लेष्म-मूत्र-विष्ठा-रुधिर-पूतिरित्याद्यशुचिपदार्थेन युक्तास्ता नरकभूमयः सन्ति।

पीच्छाकृष्टपक्षीवत् क्रूर-करुण-बीभत्स-भयङ्कराकृतिमन्तो दुःखिता अपवित्र-शरीराणि नारकजीवानां भवन्ति। प्रथमनारकपृथिव्यां नारकजीवानां शरीराणि

पादोनाष्टधनुः षडङ्गुलिप्रमाणकानि भवन्ति । तत् पश्चात् स्थितानां नारक-जीवानां शरीराणि क्रमशो द्विगुणं-द्विगुणं भवन्ति । तद्यथा—

- (१) प्रथमनारके ७।। धनुः षडङ्गुलिः
- (२) द्वितीयनारके १५।। धनुः द्वादशाङ्गुलिः
- (३) तृतीयनारके ३१। धनुः
- (४) चतुर्थनारके ६२।। धनुः
- (५) पञ्चमनारके १२५ धनुः
- (६) षष्ठनारके २५० धनुः
- (७) सप्तमनारके ५०० धनुश्च

इति प्रमाणकानि नारकजीवानां शरीराणि भवन्ति ।

प्रथम-द्वितीय-तृतीयनारकेषु उष्णवेदना भवति । चतुर्थनारके उष्ण-शीतवेदने भवतः । पञ्चमनारके शीतोष्णवेदने भवतः । षष्ठनारके सप्तमनारके च शीतवेदना वर्तते । एकैकतोऽधिकतीव्रतरा वेदना क्रमशो ज्ञातव्या ।

ग्रीष्मकाले प्रचण्डतापो भवति तदा मध्याह्नकाले चतुर्दिक्षु अत्यन्तमेव जाज्वल्यमानाऽग्नीनां चित्तिं कृत्वा मध्ये पित्तव्याधिमान् मनुष्यः समुपविशेत्, तस्य यादृक् तापो भवेत् [दुःखं स्यात्] ततोऽप्यनन्तगुणं दुःखमुष्णवेदनायाः नारकजीवानां जायते ।

पौष-माघमासयोः शीतरात्रौ ओषकं पतति, शीतपवनञ्च वहति, तादृश शीतसमये वह्निवस्त्ररहितस्य मनुष्यस्य शीतदुःखमुत्पद्यते ततोऽप्यधिकं नारकजीवानामनन्तगुणं दुःखं शीतवेदनायाः भवति । इमानुष्णवेदना वेदनवतो नारकजीवान् तत उत्थाप्यात्रात्यन्तप्रज्वलिताग्नीनां शिखानां.....तदा तेषां शीतलच्छायासु सुप्तानामिव सुखानुभवो भविष्यति, निद्रां लप्स्यते, तथा शीतवेदना वेदनवतो नारकान् तत उत्थाप्यात्र माघमासस्य रात्रौ ओषे मुञ्चति तदापि तेऽत्यन्तानन्दतो निद्रां लप्स्यन्ते, इत्थं नारक-जीवानां दारुणं दुःखमस्ति ।

तेषां विक्रियापि अशुभतरास्ति । शुभमिच्छं कुर्वतोऽपि दुःखाऽशुभा विक्रिया भवति । तथा दुःखग्रस्तो भवन् यद्यपि दुःखस्य प्रतिकारं (उपायं) कर्तुमिच्छति तदा विपरीतं महद्दुःखमुत्पद्यते नारकस्य ॥ ३-३ ॥

ॐ सूत्रार्थ—उक्त सातों नरकभूमियों में रहने वाले नारक जीवों के नीचे-नीचे के क्रम से लेश्या, परिणाम, पुद्गल द्रव्यों का परिणामन, अंगोपांग, देह की आकृति, शीत-उष्णादिक वेदना और उत्तरवैक्रियशरीर रचनादि नित्य अशुभतर ही हुआ करते हैं ॥ ३-३ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

नरकावासों की संख्या कहते हुए बताया है कि—प्रथम नरकभूमि रत्नप्रभा में तीस लाख, दूसरी शर्कराप्रभा में पन्चीस लाख, तीसरी बालुकाप्रभा में पन्द्रह लाख, चौथी पंकप्रभा में दस लाख, पाँचवीं धूमप्रभा में तीन लाख, छठी तमःप्रभा में ६६६६५ तथा सातवीं तमस्तमःप्रभा में केवल पाँच नरकावास हैं ।

सातों नरकों के प्रतरों की संख्या बताते हुए कहा है कि—रत्नप्रभा के तेरह प्रतर, शर्कराप्रभा के ग्यारह प्रतर, बालुकाप्रभा के नौ प्रतर, पंकप्रभा के सात प्रतर, धूमप्रभा के पाँच प्रतर, तमःप्रभा के तीन प्रतर तथा तमस्तमःप्रभा का एक प्रतर इस प्रकार कुल ४६ प्रतर हैं ।

ॐ प्रश्न—प्रस्तर-प्रतरों में नरक कहने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—एक प्रतर-प्रस्तर और दूसरे प्रतर-प्रस्तर के बीच जो अवकाश यानी अन्तर है, उसमें नरक होती नहीं है । किन्तु प्रत्येक प्रतर-प्रस्तर का तीन-तीन हजार योजन प्रमाण पृथ्वी का पिण्ड है अर्थात् मोटापन है, उसमें विविध संस्थान वाले नरक हैं ।

ॐ प्रश्न—नरक और नारक का क्या सम्बन्ध है ?

उत्तर—नरक नामक स्थान के सम्बन्ध से ही वे जीव आत्मा नारक कहलाते हैं । इसलिए नारक जीव-आत्मा ही है तथा नरक उनका स्थान है, ऐसा ही समझना ।

नारक सदा अशुभतर लेश्या, परिणाम, देह, वेदना और विक्रिया वाले होते हैं । नरक के जीवों में लेश्या अति अशुभ, पुद्गलवर्णादिक का परिणाम अशुभ, देह अशुभ, वेदना अतिशय, उत्तर वैक्रिय शरीर भी अत्यन्त ही अशुभ होता है । अर्थात्—पहली नरकभूमि से दूसरी नरकभूमि और दूसरी से तीसरी नरकभूमि इसी तरह सातवीं नरकभूमि पर्यन्त के नरक अशुभ, अशुभतर एवं अशुभतम रचना वाले हैं । तथा इन नरकों में रहने वाले नारकी जीवों के भी लेश्या, परिणाम, देह वेदना और विक्रियादि भी उत्तरोत्तर अशुभ-अशुभतर होते हैं ।

(१) अशुभ लेश्या—नरकों में रहने वाले जीवों में कृष्ण, नील और कापोत ये तीन लेश्याएँ सदा अशुभ ही रहती हैं । तथा नीचे-नीचे के नरकों की लेश्याएँ अनुक्रम से और भी अधिकाधिक अशुभतर-अशुभतर ही हैं । पहली रत्नप्रभा और दूसरी शर्कराप्रभा में कापोत लेश्या है, किन्तु शर्कराप्रभा की कापोत लेश्या रत्नप्रभा की लेश्या से तीव्र संक्लेश वाली है । इसी तरह तीसरी आदि भूमियों के विषय में भी जानना, तीसरी बालुकाप्रभा में कापोत और नील लेश्या, चौथी पंकप्रभा में नील लेश्या, पाँचवीं धूमप्रभा में नील और कृष्ण लेश्या, छठी तमःप्रभा में

कृष्णलेश्या तथा सातवीं तमस्तमःप्रभा में भी कृष्णलेश्या है। वे क्रमशः अधिकाधिक तीव्र संक्लेश वाली हैं। नीचे-नीचे के नरकों में उत्तरोत्तर अधिक-अधिक अशुभ लेश्याएँ होती गई हैं। यही बात परिणामादिक के विषय में भी समझनी।

(२) अशुभ परिणाम—नरकों में पुद्गलद्रव्य के जो परिणाम होते हैं, वे उत्तरोत्तर अधिक-अधिक अशुभ होते हैं। नरकों में होने वाला पुद्गलद्रव्य का यह अशुभ परिणाम दस प्रकार का है। बन्धन, गति, संस्थान, भेद, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, अगुरुलघु और शब्द इस तरह पुद्गल परिणाम के ये दस नाम हैं।

❧ बन्धन—नरक में रहे हुए जीव के अपने शरीरादि के साथ सम्बन्ध में आने वाले पुद्गल अत्यन्त ही अशुभ होते हैं।

❧ गति—अप्रशस्तविहायोगति नामकर्म का उदय होने से नरक में रहे हुए जीव की गति ऊँट आदि की जैसी अप्रशस्त होती है।

❧ संस्थान—नरक में रहे हुए जीव की तथा वहाँ रही हुई भूमि की आकृति देखने वाले को उद्देग उत्पन्न होवे, ऐसी होती है।

❧ भेद—शरीर तथा भीतादिक में से खिरते हुए पुद्गल अत्यन्त अशुभ परिणाम वाले बनते हैं।

❧ वर्ण—नरक में सर्वत्र अन्धकार छाया रहता है। तल भाग श्लेष्मादिक अशुचि पदार्थों से लेप किया हुआ सा दिखता है। प्रत्येक पदार्थ का वर्ण भय-त्रास उपजावे ऐसा अतिशय कृष्ण होता है।

❧ गन्ध—नरक की भूमि मल, मूत्र, रुधिर, इत्यादिक अशुभ पदार्थों से खरड़ायेली होने से, उसमें से सदा ही दुर्गन्ध छूटती है।

❧ रस—नरक के पदार्थों का रस भी नीम आदि के रस से अधिक कटु-कड़वा होता है।

❧ स्पर्श—नरक के पदार्थों का स्पर्श भी अधिक उष्ण और बिच्छु के दंश इत्यादिक से भी अधिक पीड़ा उत्पन्न करने वाला होता है।

❧ अगुरु-लघु—नरकी जीव के शरीर का अगुरुलघुपरिणाम भी अनेक दुःखों का आश्रय होने से अनिष्ट, अशुभ होता है।

❧ शब्द—हे माता ! हे पिता ! मुझे छुड़ाइये ! मुझे कष्ट से बचाइये ! ऐसे अनेक प्रकार के कर्ण शब्द श्रवण मात्र से ही भय-त्रास को उत्पन्न करते हैं।

इस तरह पुद्गल द्रव्य का यह अशुभ परिणाम दस प्रकार का जानना। सारांश यह है कि इन रतनप्रभादि सातों नरकों की भूमियाँ तिरछे, ऊपर और नीचे समस्त दिशाओं में सब तरफ अनन्त भयानक, नित्य और अन्धकार से तमोमय बनी रहती हैं। तथा जिनमें श्लेष्म-कफ, मूत्र

और बिष्ठा का प्रवाह हो रहा है, ऐसे अनेक प्रकार के मल, रुधिर, वसा, मेदा और पीप से इनका तल भाग लिप्त रहा करता है। ये भूमियाँ श्मशान भूमि की माफिक सड़े हुए दुर्गन्ध समेत मांस तथा केश, चर्म, दांत, नख तथा हड्डी से व्याप्त बनी रहती हैं। हाथी, घोड़े, सर्प, चूहे, बिल्ली, कुत्ते, गौ, गीदड़, नेबला तथा मनुष्यों के शवों से पूर्ण एवं उनकी अशुभतर गन्ध से सदा दुर्गन्धित रहती हैं।

नरक की उन भूमियों में निरन्तर सभी तरफ इस प्रकार के ही शब्द सुनाई पड़ते हैं कि हा मातः ! धिक्कार हो, हाय अत्यन्त कष्ट और खेद है, दौड़ो और मेरे पर प्रसन्न होकर कृपा करके मुझे शीघ्र इन दुःखों से छुड़ाओ, हे स्वाभिन् ! मैं आपका सेवक हूँ, मुझ दीन को न मारो। इसी तरह निरन्तर रोने के और तीव्र कहणा उत्पन्न करने वाले, दीनता तथा आकुलता के भावों से युक्त, अत्यन्त विलापरूप, पीड़ा को प्रकट करने वाले शब्दों से, एवं दीनता, हीनता तथा कृपणता के भाव भरी याचनाओं से, अश्रुधारा युक्त गर्जनाओं से एवं अन्तरङ्ग के संताप का अनुभव कराने वाले उष्ण उच्छ्वासों से वे नरक-भूमियाँ अतिशय भयानकता से भरी रहती हैं।

(३) अशुभ देह—नरक के जीवों का देह-शरीर हुण्डकसंस्थान वाला होता है। हुण्डक-नामकर्म के उदय से उनके शरीरों का आकार अनियत और अव्यस्थित बनता है। उनका शरीर वैक्रिय होते हुए भी देवों की माफिक शुभ-पवित्र नहीं होता है, किन्तु मल-मूत्रादिक अशुभ पदार्थों से भरा हुआ होता है। शरीर का वर्ण अतिशय कृष्ण, भयानक और बीभत्स अर्थात् घृणाजनक होता है।

(४) अशुभ वेदना—सातों नरकभूमियों के नारकी जीवों की वेदना उत्तरोत्तर अधिक अधिकतर है। नरक के जीवों को क्षेत्रकृत, परस्परोदीरित और परमाधामी कृत इन तीन प्रकार की वेदना निरन्तर होती है। इनमें से इस सूत्र में क्षेत्रकृत वेदना का निरूपण है। नरक में उष्ण, शीत, भूख, तृषा, खणज, पराधीनता, ज्वर, दाह, भय और शोक इस तरह दस प्रकार की क्षेत्रकृत यानी क्षेत्रसम्बन्धी वेदना है। प्रथम तीन नरकभूमियों में उष्णवेदना है। चौथी नरकभूमि में उष्णवेदना तथा शीतवेदना है। पाँचवीं नरकभूमि में शीतोष्णवेदना है। छठी नरकभूमि में शीतवेदना और सातवीं नरकभूमि में अतिशीतवेदना होती है। उष्णवेदना और शीतवेदना इतनी तीव्र होती है कि इस वेदना को भोगने वाले नरक के जीवों को यदि मृत्युलोक की तीव्र से तीव्र उष्ण या शीतवेदना के स्थान में रखा जाय तो वह स्थान उनके लिए सुखप्रद होता है।

क्षेत्रकृत उष्णादि दस प्रकार की वेदना का सारांश नीचे प्रमाणे है—

(१) उष्णवेदना—ग्रीष्मकाल में जिस जीव का शरीर पित्तव्याधि के प्रकोप से आक्रान्त हो गया हो, तथा चारों तरफ जलती हुई अग्नि से घिरा हुआ हो, आकाश बादल से रहित हो, मध्याह्न समय में सूर्य आकाश के मध्य भाग में आया हो, कड़ी धूप से संतप्त हो रहा हो, तथा वायु-पवन का चलना भी बिलकुल बन्द हो गया हो, उस जीव को उष्णताजन्य जैसी वेदना होती है, उससे भी अनन्तगुणी वेदना नरक के जीवों को होती है। ऐसी असह्य तीव्र उष्णवेदना को सहन करने वाले नारकी को कोई जीव वहाँ से उठाकर इस मनुष्य लोक में पूर्वोक्त स्थल पर लाकर छोड़े तो

वह नारकी यह जाने कि यह कोई बिना गरमी वाला और शीतल पवन वाला स्थान है और उसे वहाँ नींद आ जाती है। नरक की उष्ण वेदना के विषय में शास्त्रकारों ने यह बात उपर्युक्त उपमा से अति सुन्दर समझाई है।

(२) शीतवेदना—नरक में रहने वाले जीव-आत्मा द्वारा सहन की जाने वाली अतिशीत-वेदना का संक्षिप्त वर्णन शास्त्रकारों ने उपमा से अति सुन्दर समझाने के लिए कहा है कि पौष या माघ-महा मास में जिसके शरीर से तुषार-बर्फ चारों तरफ लिपटी हुई हो, रात्रि में प्रति समय बढ़ती हुई ठण्डी हवा चल रही हो, हृदय हाथ पैर ओष्ठ और दाँत इत्यादि कँपने लगते हों, आकाश बादल रहित हो, चारों तरफ जरा भी अग्नि न हो, तथा स्थान खुला हो एवं देह भी वस्त्र से रहित हो। ऐसे समय में उस मनुष्य को जैसा शीतवेदना सम्बन्धी अशुभ दुःख हो सकता है, उससे भी अनन्तगुणा अधिक दुःख-कष्ट शीतवेदना वाले नारकी को हुआ करता है। इसे अमुक समय तक ही नहीं, किन्तु निरन्तर नित्य ऐसी शीत वेदना सहन करनी पड़ती है। ऐसी असह्य सख्त शीतवेदना का अनुभव करने वाले उस नारकी जीव को वहाँ से उठा कर यहाँ मनुष्यलोक में पूर्व में कहे हुए स्थल में लाकर छोड़ा जाय तो वह जाने कि मैं ठण्डी और पवन बिना के स्थान में हूँ, ऐसा समझ कर वह घसघसाट नींद लेता हुआ ऊँच जाता है।

ॐ पहली, दूसरी और तीसरी नरक में उष्णवेदना होती है। चौथी नरक में अधिक नारकों को उष्णवेदना तथा अल्प नारकों को शीतवेदना होती है। पाँचवीं नरक भूमि में अधिक नारकों को शीतवेदना तथा अल्प नारकों को उष्णवेदना होती है। इससे यह जानना कि चौथी-पाँचवीं नरक में दोनों प्रकार की वेदना होती है। तथा छठी और सातवीं नरकभूमि में शीतवेदना होती है।

(३) क्षुधावेदना—नरक में रहे हुए नारकी जीवों को इतनी क्षुधा-भूख लगती है कि विश्व में रहे हुए सर्वस्व अनाज का भक्षण कर जाय अर्थात् खा जाय, धृत-घी के अनेक समुद्रों को खाली कर दे, दूध के समुद्र पी जाय, यावत् विश्व के समस्त पुद्गलों का भक्षण कर जाय तो भी उनकी क्षुधा-भूख नहीं शमित होती। इतना ही नहीं किन्तु अधिकाधिक वृद्धि पामती है।

(४) तृषावेदना—नरक में रहे हुए नारकी जीवों की तृषा भी सख्त होती है। विश्व के समस्त समुद्रों का जल-पानी पी जाय तो भी उनकी तृषा शान्त नहीं होती है। नित्य होठ सूखे हुए रहते हैं, तथा कण्ठ-गले में भी शोष ही रहा करता है।

(५) खण्णज—नरक में नारकी जीवों को अपना शरीर छुरी से खण-खजवाले तो भी न मिटे ऐसी अति तीव्र खण्णज निरन्तर ही रहा करती है।

(६) पराधीनता—नरक में नारकों जीवों को नित्य परमाधामियों के वश में रहना पड़ता है।

(७) ज्वर—मनुष्यलोक में मानव को अधिक से अधिक जितना ज्वर (ताब-बुखार) आता है, उससे भी अनन्त गुणा ज्वर-ताब नरक में नारकी जीवों को होता है।

(८) बाह—नरक में नारकी जीवों को अपने देह-शरीर में सर्वदा दाह-बलतरा रहा करता है ।

(९) भय—नरक में नारकी जीव अपने अवधिज्ञान या विभंगज्ञान से आगामी दुःख को जानने से नित्य भयभीत रहते हैं । तदुपरान्त परमाधामी और अन्य नारकियों का भी भय रहता है ।

(१०) शोक—नरक में रहे हुए जीव अपने दुःख, भय आदि के कारण सदा शोकातुर रहते हैं ।

इस तरह क्षेत्रकृत उष्णादि दस प्रकार की वेदना का सारांश जानना ।

(५) अशुभ विक्रिया—नरक में नारकी जीवों की क्रिया भी उत्तरोत्तर अधिक-अधिक अशुभ होती है । वे दुःख से आकुल-व्याकुल होकर छूटने का यत्न-प्रयत्न करते हैं, किन्तु वह उनके लिए विशेष दुःखदायी होता है, तथा वैक्रिय लब्धि से शुभ बनाने की इच्छा करते हैं, तो भी उनका बनाया हुआ अशुभ ही होता है । अर्थात्—नारकियों का भवधारक शरीर तो हुण्डक संस्थानादि के कारण अशुभ ही होता है, किन्तु विक्रिया के द्वारा होने वाला उत्तर वैक्रिय शरीर भी अशुभतर ही हुआ करता है । क्योंकि उनके वैसे ही नामकर्म का उदय है और वहाँ के क्षेत्र का माहात्म्य भी इसी प्रकार का होता है ।

❀ प्रश्न—लेश्यादि अशुभ भावों को नित्य कहने का क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—नित्य का अर्थ निरन्तर है । गति, जाति, शरीर और अंगोपांग नामकर्म के उदय से नरकगति में लेश्यादि भाव जीवन्त-पर्यन्त अशुभ ही होते हैं । क्षणमात्र भी किसी समय अन्तर पड़ता नहीं है । ये परिणाम पल भर के लिए भी शुभ भाव को प्राप्त नहीं होते हैं ॥ ३-३ ॥

❀ नरकेषु परस्परोदीरित-वेदना ❀

॥ मूलसूत्रम्—

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ३-४ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

पूर्वोक्तेषु नरकेषु परस्परोदीरितानि दुःखानि नारकाणां भवन्ति । क्षेत्रस्वभाव-जनिताश्चाशुभात् पुद्गलपरिणामादित्यर्थः । नरकेषु द्विविधाः जीवाः प्राप्यन्ते । एषु आद्यः मिथ्यादृष्टिः द्वितीयश्च सम्यग्दृष्टिः । मिथ्यादृष्टीनां संख्याः विशेषाधिकाः सम्यग्दृष्टीनाञ्च संख्याः अत्यल्पाः सन्ति । मिथ्यादृष्टिवता भवप्रत्ययविभङ्गः प्राप्यते, सम्यग्दृष्टिवताश्चावधिज्ञानम् । विभङ्गनिमित्तेन विपरीतं भावमुत्पद्यते । अतः

एतादृशाः नारकाः क्रोधादिभावैः अन्योन्यं प्रहारादिभिः घातुं प्रयतन्ते । ये सम्यग्दृष्टिनः ते अन्येभ्यः दुःखाय क्रोधं न कुर्वन्ति तथोदीरणापि न कुर्वन्ति । अन्यच्च क्षेत्रस्वभावजनितपुद्गल-परिणामः शीतोष्णक्षुत्पिपासादिः शीतोष्णे व्याख्याते क्षुत्पिपासे कथयिष्यामः, अनुपरत-शुष्क-ईन्धनोपादानेन एव तीक्ष्णेनाग्निना प्रवर्तेन क्षुधाग्निना दह्यमानशरीराणि अनुसमयमाहरन्ति । ते सर्वे पुद्गलान्यपि क्षुत्तीव्रया च नित्यानुषक्तया पिपासया शुष्ककण्ठौष्ठतालुजिह्वाः सर्वोदधीनपि पिबेयुश्च न तृप्तिं समवाप्नुयुः एषां क्षुत्तृष्णे इत्येवमादीनि क्षेत्रप्रत्ययानि । यत्र अशुभपरिणमनं भूमिरुक्षता दुर्गन्धादीनि जायन्ते ।

नारकाः परस्परोदीरितानि दुःखानि भुञ्जन्ते । अत्र भवप्रत्ययोऽवधिनारक-देवानाम् । तच्च नारकेषु अवधिज्ञानं अशुभभवहेतुकम् । मिथ्यादर्शनसंयोगात् विभङ्गज्ञानं भवति । भावदोषोपघातात् तेषां दुःखकारणमेव जायते । तेन ते सर्वतः तिर्यग्-ऊर्ध्वमधश्च दूरतः अजस्रं दुःखहेतून् अवलोकयन्ति । यथा च काकोलूक-नकुल-सर्पादिकुलं उत्पत्तिर्यदा जायते तदैव बद्धवैरं तथा परस्परं प्रति नारकाः । यथा वाऽपूर्वाब्जं शुनो दृष्ट्वा श्वानः निर्दयं क्रुध्यन्ति च परस्परं प्रहरन्ति च एवं च तेषां नारकाणां अवधिविषयेण दूरतः एव परस्परं अवलोक्य क्रोधातिशयत्वं जायते दुरन्तो भवहेतुकः । ततः प्रागेव दुःखसमुद्घातातीः क्रोधाग्न्या दोषितमनसोऽतर्किता इव श्वानः समुद्धताः वैक्रियं भयावहं स्वरूपं धारयित्वा तत्रैव पृथिवी-परिणामजनि-क्षेत्रानुभावजनितानि च लोहमयशल-शिला-मुशल-मुद्गर-बर्छी-तोमर-तलवार-ढाल-शक्ति-लोहधन-खड्ग-दुधारा-यष्टि-परशु-भिण्डपालादीनि आयुधानि च कर-चरण-दन्तैः अन्योन्यं घातयन्ति । तेन च अन्योन्यघातजनितविकृतशरीरा-घातप्रगाढपीडाः शुनाघातन प्रविष्टा इव महिष-सूकरोरभ्रा प्रस्फुरन्तो रक्तकर्मि आचेष्टन्ते । एतानि अन्योन्य-उदीरितानि दुःखानि नारकेषु नारकजीवानां जायन्ते । नारकेषु अन्यच्च विशेषदुःख-मालक्ष्यापि कथ्यते ॥ ३-४ ॥

❀ सूत्रार्थ—उन नरकावासों में नारक जीवों को परस्पर उदीरित दुःख भी होते हैं । अर्थात्—नारकी जीव परस्पर दुःख उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥ ३-४ ॥

卐 विवेचनमृत 卐

नरक में क्षेत्रस्वभाव से सरदी और गरमी का भयंकर दुःख है । इससे भी भूख और तृषा का दुःख अति भयंकर है । जीव-आत्मा को भूख इतनी सताती है कि, जितना अधिक आहार लेते

हैं, उतनी ही अधिक भूख अग्नि-आग के समान जाज्वल्यमान होती जाती है। सर्व भक्षण से भी भूख शान्त नहीं होती, अपितु और भी बढ़ती जाती है। इसी तरह तृषा-प्यास का भी भयंकर दुःख है। तृषा इतनी लगती है कि, चाहे जितना ही जल-पानी पिया जाय तो भी जीव-आत्मा को तृप्ति नहीं होती। इससे भी अधिक दुःख उन्हें परस्पर वैरभाव से पैदा—उत्पन्न होता है। जैसे—सर्प और नौलिये (नेवला) के या बिल्ली और चूहे के जन्म से ही वैरभाव होता है, वैसे ही यहाँ पर भी परस्पर नारकी जीवों के वैर-भाव होते हैं। इसलिए वे एक-दूसरे को देखकर श्वान-कुत्तों की माफिक परस्पर-लड़ते हैं, काटते हैं और क्रोध से अति जलते हैं। एवं मारण, ताड़न, अभिघातादि के द्वारा अति दुःख दिया करते हैं। इसीलिए वे परस्पर-जनित दुःख वाले कहे गये हैं।

उन नरकों में दो प्रकार के जीव-प्राणी पाये जाते हैं। एक हैं मिथ्यादृष्टि और दूसरे हैं सम्यग्दृष्टि। मिथ्यादृष्टि जीवों की संख्या बहुत ही अधिक है, तथा सम्यग्दृष्टि जीवों की संख्या अति अल्प है। मिथ्यादृष्टियों में भवप्रत्यय विभंग पाया जाता है और सम्यग्दृष्टियों में अवधिज्ञान रहा करता है।

पूर्वभव के वैरी दो जीव एक ही स्थान में उत्पन्न हुए हों तो क्षेत्रानुभवजनित शस्त्रों से परस्पर युद्ध करते हैं। अरे ! वैरी न होते हुए भी यह मेरा पूर्व भव का वैरी-शत्रु है ऐसा असत्य समझ कर भी शस्त्रों से युद्ध करते हैं। परस्पर युद्ध भी मिथ्यादृष्टिवंत नारक ही करते हैं, सम्यग्दृष्टिवंत नारक नहीं। वे तो समता भाव से सहन करते हैं। दूसरों के उदीरित दुःखों को सहते हुए अपने आयुष्य की पूर्णता की अपेक्षा किया करते हैं, और अपने पूर्वजन्म के आचरण का विचार भी किया करते हैं।

उन नारक जीवों के भी अवधिज्ञान या विभंगज्ञान के द्वारा दूर ही से परस्पर देखकर तीव्र परिणाम रूप क्रोध उत्पन्न होता है; जो कि भव के निमित्त से ही जन्य है और जिसका फल अतिशय दुःख रूप है। उनके क्रोध उत्पन्न होने के पूर्व ही दुःखों के समुद्घात से पीड़ित हुए अन्य नारकी का मन क्रोध रूप अग्नि से प्रज्वलित हो जाता है तब वे अकस्मात् कुत्तों की माफिक आ टूटते हैं। भयानक वैक्रिय रूप धारण करके वहाँ पर पृथ्वी परिणाम से जन्य और क्षेत्र माहात्म्य से ही उत्पन्न हुए ऐसे लोहमय शल, शिला, मुशल, मुद्गर, बर्छी, तोमर, तलवार, ढाल इत्यादिक आयुधों को लेकर या हाथ-पाँव और दाँतों से एक दूसरे के ऊपर आक्रमण करते हैं तथा एक दूसरे का घात करते हैं। इस प्रकार परस्पर उदीरित दुःखों को नरक के जीवों को सहन करना पड़ता है। (३-४)

❀ नरकेषु परमाधामीकृत वेदना ❀

॥ सूत्रम्—

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ३-५ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

प्राक् चतुर्थ्याः, अर्थात् प्रथमा-द्वितीया-तृतीयाभूमिषु नारकाणां असुरोदीरितानि

तानि दुःखानि अपि जायन्ते । पूर्वजन्मनि संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च नारकाः जायन्ते । यथाचाम्बाम्बरीषयामशबलरुद्रोपरुद्रकालमहाकालस्यासिपत्रवनकुम्भी-
वालुकावैतरणीखरस्वरमहाघोषाः पञ्चदश परमाधार्मिका मिथ्यादृष्टयः पूर्वजन्मनि संक्लिष्टकर्माणि पापाभिरतय आसुरीं गतिं प्राप्य कर्मक्लेशानुभवन्ति । एते च ताच्छील्यात् नारकाणां वेदनाः समुदीरयन्ति चित्राभिरुपपत्तिभिः । यथा च ते प्रतप्तलोहरसपायननिष्ठप्तायः स्तम्भालिङ्गनकूटशात्मल्यग्रारोपणावतरणायोधनाभि-
घातवासीक्षुरतक्षणक्षारतप्ततैलाभिषेचनादिभिश्च लोहकुम्भपाकाम्बरीषतर्जनयन्त्र-
पीडनायः शूलशलाकादिभिः भेदन-क्रकचपाटनाङ्गारदहनवाहनासूची शाद्वलापकर्षणैः संत्रस्यमानाः सिंह-व्याघ्रद्वीपिष्वशुगालवृककोकमार्जारिनकुलसर्पवायसगृध्रकाकोलूकश्ये-
नादिखादनैः तथा च प्रतप्तवालुकावतरणासिपत्रवनप्रवेशन-वैतरण्यवतारणपरस्पर-
घाताभिघातमल्लक्रियायुद्धादिभिः दुःखानि अनुभूयन्ते पीडयन्ते च । एते उपर्युक्ताः अम्बाम्बरीषादि पञ्चदशजातीनां जीवा एव असुरकुमाराः कथमेतद्—किं प्रयोजनं सिध्यति अत्रासुरकुमाराणाम् ? उच्यतेऽत्र । पापकर्माभिरताः एते कुमाराः । तद्यथा—
गो-वृषभ-महिष-वराह-मेष-कुक्कुट-वार्तका-लावकान्मुष्टिमल्लाञ्च परस्परं युध्यमानां पश्यतामेव चाभिघातः रागद्वेषाभिभूतानां अकुशलानुबन्धिपुण्यानां नराणां परा प्रीतिरुत्पद्यते । तथा च तेषां असुराणां नारकांस्तथा तानि कारयतां अन्योन्यं घ्नतश्च पश्यतां परा सन्तुष्टिं प्रीतिश्च अनुभूयते । ते हि दुष्टकन्दर्पास्तथाभूतान् दृष्ट्वा भयङ्करादृहासं कुर्वन्ति चेलोत्क्षेपान्क्ष्वेडितास्फोटितावल्लिते तलतालनिपातनां च मुञ्चन्ति अतिभयङ्करं सिंहनादमपि कुर्वन्ति, तेषां सत्यपि देवत्वे सत्सु च कामिकेष्वन्येषु प्रतिकारकेषु मायानिदानमिथ्यादर्शनशल्यतीव्रकषायोपहतस्यानालोचित-भावदोषस्या-
प्रत्यवमर्षस्याकुशलानुबन्धि-पुण्यकर्मणो बालतपसश्च भावदोषानुकर्षिणः फलं यत् सत्स्वप्यन्येषु प्रीतिहेतुषु अशुभा एव प्रीतिहेतवः समुत्पद्यन्ते ।

अत्र समुत्पद्यते जिज्ञासा यत् एतादृशैः नानातीव्राघातैश्च यन्त्रपीडनेऽपि किमर्थं तेषां शरीरं विशीर्णं नैव भवति । किमर्थं तेषां शरीराणि मृत्युं नैव प्राप्नुवन्ति ? अत्राह—

एवं निरन्तरं सुतीव्रं दुःखमनुभवतां मरणमेव काङ्क्षतां तेषां न विपत्तिरकाले विद्यते कर्माभिर्धारितायुषाम् । प्रोक्तं वै—“अपिपातिकचरमदेहोत्तमपुरुषासंख्येयवर्षा-
युषोऽनपवर्त्यायुषः” इति । नैव तत्र शरणं विद्यते नाप्यपक्रमणम् । ततः

कर्मवशादेवदग्धपातितभिन्नच्छिन्नक्षतानि च तेषां सद्य एव संरोहन्ति शरीराणि दण्डराजि-
रिवाम्भसि तथैव नारकाणां शरीराणि अपि मृत्युरहितानि भवन्ति । एवमेतानि
त्रिविधानि दुःखानि नरकेषु नारकाणां भवन्ति । आद्यं तत्र परस्परोदीरितं,
क्षेत्रस्वभावोत्पन्नं असुरोदीरितं चेति ॥ ३-५ ॥

❀ सूत्रार्थ—तीसरी वालुकाप्रभा नरक तक के नारकी जीवों को परम
अधर्मी और मिथ्यात्वी, पन्द्रह प्रकार के परमाधामी देवों द्वारा उदीरित दुःख भी
होते हैं ॥ ३-५ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

नरक गति में तीन प्रकार की वेदना मानी गई है । इनमें से क्षेत्रस्वभावजन्यवेदना और
परस्परजन्य वेदनाओं का वर्णन ऊपर आ गया है । ये प्रथम दो वेदनाएँ रत्नप्रभादि सातों नरक-
भूमियों में समान रूप से हैं । तीसरी वेदना परमाधामी देवों द्वारा कृत है जो केवल रत्नप्रभा,
शर्कराप्रभा और वालुकाप्रभा यानी प्रथम तीन नरक-भूमियों में होती है । क्योंकि, इन्हीं रत्नप्रभादि
तीन भूमियों के अन्तर्गत में वे परमाधामी असुरदेव निवास करते हैं । वे अतिक्रूर स्वभाव वाले
और पापरत होते हैं । इनकी अम्ब, अम्बरीष, श्याम, सबल, रुद्र, उपरुद्र, काल, महाकाल, असि,
असिपत्रघन, कुंभी, वालुक, वैतरणी, खरस्वर तथा महाधोष इस प्रकार की पन्द्रह नाम जातियाँ हैं ।
वे सब संक्लेशरूप स्वभाव से इतने निर्दय और इतने ही कौतूहली होते हैं कि इन्हें अन्य को सताने
में अर्थात् सन्ताप देने में या पीड़ा पहुँचाने में ही आनन्द आता है । ये नारक-जीवों को आपस में
लड़ते-भिड़ते हैं और दुःखों की याद दिलाया करते हैं । परमाधामियों की उदीरणा कराने की
विधि अनेक प्रकार की होती है । यथा—

गरम किये हुए लोहे का रस पिलाना, संतप्त लोहे के स्तम्भों से आलिङ्गन कराना,
वैक्रियिक शाल्मली वृक्ष के ऊपर चढ़ाना, लोह के धनों की चोट से कूटना, बसूले से छीलना, रज्जा
फेरकर क्षत करना, क्षार जल या उष्ण तैल से स्नान कराना, लोहे के कुम्भ में डालकर पकाना, भाड़
में या रेती आदि में भूँजना, कोल्हू आदि में पेलना, लोहे के शूल या शलाकादि शरीर में छेद देना,
उन शूलादिक के द्वारा देह-शरीर को भेदना, आरों से चोरना, अग्नि में या अंगारों में जलाना,
सवारी में ओतकर चलना या हाँकना, तीक्ष्ण नुकीली घास के ऊपर से घसीटना, इसी प्रकार सिंह-
व्याघ्र इत्यादिक हिंसक जीवों के द्वारा भक्षण करना, एवं संतप्त रेती-बालू में चलाना, असि के
समान तीक्ष्ण पत्ते वाले वृक्षों के वनों में प्रवेश कराना, वैतरणी-खून-पीव-मल भूत्रादिक की नदी
में तैराना तथा उन नारकियों को आपस में लड़ाना । इत्यादिक अनेक प्रकार के उपायों से ये
पन्द्रह प्रकार के परमाधामी देव तीसरी वालुकाप्रभा पृथ्वी तक के नारकी जीवों को उदीरणा करके
अनेक दुःख भोगने को विवश करते हैं ।

नारकी जीवों को आपस में लड़ते हुए तथा मार-पीट करते हुए देखकर परम अधार्मिक
परमाधामियों को अति आनन्द आता है । उन परमाधामी असुरदेवों के लिए और भी अनेक

सुख-साधन प्राप्त है, तो भी पूर्वजन्मकृत तीव्र दोष के कारण इन्हें दूसरों को सताने में—संताप देने में ही विशेष प्रसन्नता का अनुभव होता है। बेचारे नारकी जीव कर्मवश अशरण होकर जीवन पर्यन्त असह्य तीव्र वेदना सहन करते हैं। चाहे वेदना कितनी ही क्यों न हो, नारकी जीव को किसी की भी शरण नहीं है और न उनका आयुष्य अपवर्तनीय (यानी न्यून होने वाला) है कि जिससे दुःखः शीघ्र समाप्त हों। अर्थात् अनपवर्तनीय आयुष्य के कारण उनका जीवन भी जल्दी समाप्त नहीं होता है।

ॐ सारांश—तीसरी नरकभूमि तक रहे हुए पन्द्रह प्रकार के जो अम्बादिक परमाधामी हैं, वे नूतन उत्पन्न हुए नारकी के निकट में सिंहगजना करते हुए चारों तरफ से आकर कहते हैं कि—“अरे ! इस दुष्ट पापी को मारो ! छेदो ! भेदो ! इसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालो।” इस तरह कह करके वे भाला, तलवार आदि अनेक प्रकार के शस्त्रों का उपयोग करते हुए नरक के जीवों को मारते हैं, बींघते हैं तथा छेदते हैं।

(१) अम्ब जाति के परमाधामी अनेक प्रकार के भय उत्पन्न करते हैं। वे नारकी जीवों को भय से इधर-उधर दौड़ाते हैं। आकाश में ऊँचे उछाल कर धीमे से मस्तक के बल नीचे पटकते हैं। नीचे पड़ते उसको वज्रमय शलाकाओं से बींघते हैं। मुद्गरादिक से उस पर अति सख्त प्रहार करते हैं।

(२) अम्बर्षि जाति के परमाधामियों द्वारा घात से मूर्च्छित तथा निश्चेतन जैसे बने हुए नारकियों के देह-शरीर कर्पणियों द्वारा कापकर टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं।

(३) श्याम जाति के परमाधामी भी उसके अंगोपांगों को छेदते हैं तथा घटिकालय में से निकाल कर नीचे वज्रमय भूमि पर फेंकते हैं। वज्रमय अणीदार दण्ड के द्वारा उसको बींघते हैं, उस पर चाबुक के प्रहार करते हैं तथा उसको अपने पाँव से भी खूंदते हैं।

(४) शबल जाति के परमाधामी नारकी जीवों के उदर-पेट और हृदय को चीरते हैं, तथा उसकी आँतें चरबी और मांस इत्यादि बाहर निकाल कर उसे दिखाते हैं—दर्शन कराते हैं।

(५) रुद्र जाति के परमाधामी नारकी जीव पर असि-तलवार चलाते हैं, त्रिशूल, शूल तथा वज्रमय शूली आदि में उसको पिरोते हैं तथा धधकती अग्नि की चिता में उसे होम देते हैं।

(६) उपरुद्र जाति के परमाधामी नारकी जीवों के अंगोपांगों के खण्ड-खण्ड करके उन्हें बहुत वेदना उत्पन्न करते हैं।

(७) काल जाति के परमाधामी दुःख से रुदन करते हुए नरक के जीव को पकड़ कर उसे कड़ाही आदि में जीवित मछलियों की भाँति पकाते हैं।

(८) महाकाल जाति के परमाधामी नरक के जीव को उसी के शरीर में से सिंह की पूँछ जैसे आकार वाला कौड़ी प्रमाण मांस का टुकड़ा काट कर उसी को खिलाते हैं।

(९) असि जाति के परमाधामी असि (तलवार) आदि शस्त्रों से नरक के जीवों के हाथ, पैर, साथल, बाहु, मस्तक तथा अन्य अंगोपांगों को छेदकर छिन्नभिन्न कर देते हैं ।

(१०) पत्रधनु जाति के परमाधामी नरक के जीवों को असिपत्र वन विकुर्वण करके दिखाते हैं । छाया के इच्छुक नरक के जीव वहाँ आ जाते हैं । तत्काल ये पत्रधनु परमाधामी वायु-पवन चलाते हैं जिससे वृक्षों के नुकीले पत्ते नीचे गिरते हैं । इनसे नारक जीवों के हाथ, पाँव, कान तथा होठ इत्यादि अवयव कट जाते हैं । उनमें से रुधिर की धाराएँ छूटती हैं ।

(११) कुम्भ जाति के परमाधामी नरक के जीवों को कुम्भी, पचनक तथा शुठक इत्यादि साधनों से ऊपर उकलते हुए तेल इत्यादिक में भजिये की माफिक तलते हैं ।

(१२) वालुका जाति के परमाधामी नरक के जीवों को भट्टी की वालुका-रेती से अनन्तगुणी तपी हुई कदम्बवालुका नामक पृथ्वी में फूटते हुए चने की भाँति सेकते हैं ।

(१३) वैतरणी जाति के परमाधामी वैतरणी नदी का विकुर्वण करके उसमें नरक के जीवों को चलाते हैं । इस वैतरणी नदी में उकलते हुए लाक्षारस का प्रवाह बहता है । फिर उसमें अस्थि, केश, बाल, चरबी, रुधिर इत्यादि होते हैं । पुनः परमाधामी लोहे की अत्यन्त तपी हुई नौका-नाव में नरक के जीव को बैठाकर वैतरणी नदी में घुमाकर अति दुःख देते हैं ।

(१४) खरस्वर जाति के परमाधामी अति कठोर शब्दों में प्रलाप करते हैं । ऐसा करते हुए वे नरक के जीवों के पास आकर, कुल्हाड़ी से उनके शरीर को चमड़ी छीलते हैं तथा निर्दयपने से करोत के द्वारा शरीर के मध्यभाग को काष्ठ की भाँति चीरते हैं । फिर उसे विकराल और वज्र के तीक्ष्ण कण्टकों से पूर्ण ऐसे महाशाल्मलि वृक्ष के ऊपर चढ़ाते हैं ।

(१५) महाघोष जाति के परमाधामी नरक के जीव को गगनभेदी शब्दों से भयभीत बना देते हैं । भयंकर भय से भागते हुए नरक के जीव को पकड़कर तथा वधस्थान में रोककर उसे अनेक प्रकार की कदर्थना-पीड़ाएँ देते हैं ।

इस प्रकार पन्द्रह प्रकार के परमाधामी तीसरे नरक तक रहे हुए नारकी जीवों के शरीर को छिन्न-भिन्नादि कर डालते हैं तो भी उनके शरीर घोर पापों के उदय से पारद रस की माफिक पूर्ववत् मिल जाते हैं । नरक के जीव मृत्यु को इच्छते हुए भी निःसंपन्न आयुष्य की समाप्ति बिना कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होते । परमाधामी-नारकों को परस्पर लड़ते हुए और मारामारी करते हुए देखकर अति आनन्द पाते हैं, इतना ही नहीं, किन्तु राजी होकर अट्टहास करते हैं, तालियाँ बजाते हैं तथा सिंह की भाँति गर्जना करते हैं ।

इस प्रकार परमाधामी असुरकुमार जाति के देव प्रतिदिन नारकों को अत्यन्त ही दुःख देते हैं ।

[१] प्रश्न—उपर्युक्त पन्द्रह प्रकार के असुरकुमार परमाधामी नरक के जीवों को परस्पर लड़ाने का और उनके दुःख की उदीरणा कराने का यह काम क्यों करते हैं ?

उत्तर—इन देवों की रुचि पापकर्म में ही हुआ करती है। यद्यपि ये असुरकुमार गति की अपेक्षा से देव हैं और इनके अन्य देवों की भांति मनोज्ञ विषय भी विद्यमान हैं, फिर भी इनको उन विषयों में इतनी रुचि नहीं होती, जितनी कि उक्त अशुभ कार्यों को करने की होती है। इसके अनेक कारण हैं। इनके मायादि तीनों ही शल्य पाये जाते हैं, इतना ही नहीं किन्तु शल्यों के साथ-साथ तीव्र कषाय का उदय भी रहता है। फिर इनके भावों में जो दोष लगते हैं, उनकी आलोचना भी नहीं करते, तथा इन्होंने पूर्वजन्म में वैसा करने का यत्न भी नहीं किया है। पूर्वभवं में जो आसुरी-गति का बन्ध किया है, वह आलोचनारहित भावदोषों के कारण ही किया है। ये विचारशील नहीं होते, इनको इतना विवेक नहीं होता कि यह अशुभ कार्य है और करने लायक नहीं है। इस बात पर कभी विचार भी नहीं करते।

जिस पुण्यकर्म का इन्होंने पूर्वजन्म में बन्ध किया है, वह अकुशलानुबन्धी है। उनका पूर्वबद्ध कर्म और तदनुसार उनका स्वभाव ही ऐसा होता है कि जिससे दूसरों को लड़ता हुआ या मरता पिटता तथा दुःखी होता हुआ देखकर उन्हें अति आनन्द आता है। इसीलिए वे नरक के जीवों को असह्य अत्यन्त ही दुःख देते हैं।

[२] प्रश्न—नरक के जीव इतने अधिकतर असह्य दुःखों को कैसे सहन कर लेते हैं? और यन्त्रपीडनादि समान दुःखों से उनका शरीर विशीर्ण क्यों नहीं होता? यदि हो जाता है, तो शरीर के विशीर्ण होने पर उनकी मृत्यु क्यों नहीं होती?

उत्तर—अनेक प्रकार के अति तीव्र और अमनोज्ञ दुःखों को निरन्तर भोगते हुए भी उन नरक के जीवों का असमय में मरण नहीं होता। वे इन दुःखों से अति घबरा कर मरना ही चाहते हैं। फिर भी निजायुष्य कर्म की स्थिति जब तक पूर्ण नहीं होती तब तक उनका मरण नहीं हो सकता। अतएव आयुष्यपर्यन्त उनको उक्त दुःखों को निरन्तर भोगना ही पड़ता है। अवश्य भोग्य कर्म के वश में पड़कर वे उक्त दुःखों को भोगते ही हैं तथा उस कर्म के निमित्त से ही उनका शरीर यन्त्र-पीडनादिक दुःखों या उपघातों से विशीर्ण होकर भी तत्काल ज्यों-का-त्यों मिल जाता है; अपने आप जुड़ जाता है।

नरकों में उपर्युक्त परस्परोदीरित, क्षेत्रस्वभावोत्पन्न तथा परमाधामी असुरोदीरित इन तीन प्रकार के दुःखों में से दो प्रकार के दुःख तो सभी सातों नरकों के जीवों को हुआ करते हैं, किन्तु परमाधामी असुरोदीरित दुःख पहली रत्नप्रभा, दूसरी शर्कराप्रभा और तीसरी बालुकाप्रभा इन तीन नरकभूमियों के नारकी जीवों को ही होते हैं। (३-५)

❀ नारकाणां आयुष्योत्कृष्टस्थितिः ❀

५ सूत्रम्—

तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः

सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ३-६ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

पूर्वोक्तेषु सप्तसु नरकेषु जन्मधारिणां नारकाणां आयुष्योत्कृष्टप्रमाणं यथा

नरकेषु तेषु नारकाणां पराः स्थितयः भवन्ति । ताश्च यथा रत्नप्रभायां एकं सागरोपमं एवञ्च त्रिसागरोपमा सप्तसागरोपमा दशसागरोपमा सप्तदशसागरोपमा द्वाविंशति-सागरोपमा त्रयस्त्रिंशति सागरोपमा । जघन्या तु पुरस्ताद् वक्ष्यते । अत्राशङ्क्यते, कोदृशाः जीवाः केषु-केषु नरकेषु अधिकतमा गच्छन्ति ? अस्योत्तरं भाष्यकारैः विवक्षितं यत् कर्मद्वाराणि आस्रवाणि । कर्मणां भेदानुसारं आस्रवाणां भेदाः भवन्ति । कैः कैः आस्रवैः कीदृशं-कीदृशं कर्मबन्धनं भवति सर्वमपि विवक्षितं कर्मग्रन्थेषु । तत्र आस्रवैर्यथोक्तं नारकसंवर्तनीयैः कर्मभिः असंज्ञिनः प्रथमायां उत्पद्यन्ते, सरीसृपाः द्वयोरादितः प्रथम-द्वितीययोः । एवं पक्षिणस्तिसृषु । सिंहाश्चतसृषु । उरगाः पञ्चसु । स्त्रियः षट्सु । मत्स्य-मनुष्याः सप्तस्विति । न तु देवा नारका वा नरकेषूपपत्तिं प्राप्नुवन्ति । न हि तेषां बह्वारम्भपरिग्रहादयो नरकगतिनिर्वर्तका हेतवः सन्ति । नाप्युद्धृत्य नारकाः देवेषु उत्पद्यन्ते । नहि एषां सरागसंयमादयो देवगति-निर्वर्तका हेतवः सन्ति । उद्वातितस्तु तिर्यग्योनौ मनुष्येषु वोत्पद्यन्ते । मानुष्यं प्राप्य केचित् तीर्थङ्करत्वमपि प्राप्नुयुरादितस्तिसृभ्यः, निर्वाणं चतसृभ्यः, संयमं पञ्चभ्यः संयमासंयमं षड्भ्यः सम्यग्दर्शनं सप्तभ्योऽपीति ।

अन्यच्च कोऽपि देव वा नारकी मरणं प्राप्य नरकेषु न उत्पद्यते । अन्यच्च नारकभूमि सन्निवेशरचनादिषु अपि इत्थम्-द्वीपसमुद्रपर्वततालतडागसरोवराणि ग्राम-नगरपत्तनादयः प्रदेशाश्च बादरो वनस्पतिकायश्च वृक्षतृणागुल्मादिः द्वीन्द्रिया-दयास्तिर्यग्योनिजा मनुष्याः देवाः चतुनिकाया अपि न भवन्ति । अन्यत्र समुद्धातो-पघातविक्रियासाङ्गतिकनरकपालेभ्यः । उपपातस्तु देवा रत्नप्रभायामेव भवन्ति । नान्यासु गतिस्तृतीयां यावत् ।

सामान्यतया न कस्यापि नरकभूमिषु प्रवेशः जायते न च प्राप्यते । समुद्धातकी-अवस्थायामेव मानवस्यास्तित्वं तत्र भवति । तथैवोपातनारकीविक्रियालब्धियुक्ताः साङ्गतिकपूर्वजन्मस्नेहीसुहृद् नरकपालाधार्मिकासुरकुमाराः सम्भाव्यन्ते नरकेषु । यच्च वायव आपो धारयन्ति न च विश्वग् गच्छन्त्यापश्च पृथिवीं धारयन्ति न च प्रस्फुरन्ति पृथिव्यश्चाप्सु विलयं न प्राप्नुवन्ति तत् तस्यानादि पारिणामिकस्य नित्यसन्त-तेर्लोकविनिवेशितस्य लोकस्थितिरेव हेतुर्भवति । लोकविनिवेशमित्थं कथिनीभूतजलेन-पृथिवीधारिता । जलं घनवातवलयैः घनवातं तनुवातवलयैश्च तनुवातवलयस्याधार-हीनत्वम् । आत्मप्रतिष्ठं तत् ।

लोकसन्निवेशानादि-अनादितेयं द्रव्याधिकनयेन पर्यायाधिकनयापेक्षया लोकस्य सादित्वम् । अतः आगमशास्त्रैः कथंचित् सादि कथंचित् अनादि अपि विवक्षितम् । तर्हि लोकः कः कतिविधो वा किं संस्थितो वेति ?

लोकः पञ्चास्तिकायसमवायः । ते तु अस्ति कायाः स्वतत्त्वतो विधानतः लक्षणतश्चोक्ताः । क्षेत्रविभागेन स लोकः त्रिविधः कथितः । यो हि अधस्तिर्यग्गुर्ध्वश्च । धर्माधर्मास्तिकायौ लोकव्यवस्थाहेतू । तयोरवगाहविशेषाल्लोकानुभावनियमात् सुप्रतिष्ठकवज्राकृतिर्लोकः । गोकन्धराधरार्धाकृतिः अधोलोकः । भूमयः सप्ताधोऽधः पृथुतराच्छत्रातिच्छत्रसंस्थिता । अनुक्रमतश्च भल्लर्याकृतिः तिर्यग्लोकः, मृदङ्गाकृतिः ऊर्ध्वलोकः । सम्पूर्णस्य वज्राकृतिः वा आयतीकृतपादाभ्यां कटौ न्यस्तहस्तौ वीर कोऽपि पुरुषः ॥ ३-६ ॥

❀ सूत्रार्थ—रत्नप्रभादि सातों नरकों के नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयुष्य की स्थिति अनुक्रम से एक, तीन, सात, दस, सत्रह, बाईस और तैंतीस सागरोपम है ॥ ३-६ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

लोक की प्रत्येक गति के जीवों की स्थिति यानी आयुष्य की मर्यादा जघन्य और उत्कृष्ट दो प्रकार की होती है । 'जिससे कम न हो' आयुष्य की यह स्थिति जघन्य कही जाती है; तथा 'जिससे अधिक न हो' आयुष्य की वह स्थिति उत्कृष्ट कही जाती है ।

इस सूत्र में नारकी जीवों की उत्कृष्ट आयुष्य स्थिति का ही निर्देश है । जघन्य स्थिति का वर्णन आगे अ. ४ सूत्र ४३-४४ में किया जायेगा ।

[१] पहली रत्नप्रभा नरकभूमि में नारकी जीवों के आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति एक सागरोपम है ।

[२] दूसरी शर्कराप्रभा नरकभूमि में नारकी जीवों के आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति तीन सागरोपम है ।

[३] तीसरी वालुकाप्रभा नरकभूमि में नारकी जीवों के आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम है ।

[४] चौथी पंकप्रभा नरकभूमि में नारकी जीवों के आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति दस सागरोपम है ।

[५] पाँचवीं धूमप्रभा नरकभूमि में नारकी जीवों के आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति सत्रह सागरोपम है ।

[६] छठी तमःप्रभा नरकभूमि में नारकी जीवों के आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति बाईस सागरोपम है ।

[७] सातवीं महातमःप्रभा नरकभूमि में नारकी जीवों के आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम है ।

यहाँ नरकों में उत्पन्न होने वाले जीवों के आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति कहो गई है । किन्तु उक्त नरकों में उत्पन्न होने की योग्यता वाले जीव कौन-कौन से हैं ? तथा किस-किस नरक तक जा सकते हैं ? यह कहना भी आवश्यक है ।

यहाँ अधोलोक के सामान्य वर्णन का दिग्दर्शन करवाया । इसमें दो बातें विशेष ज्ञातव्य हैं—गति-आगति और द्वीप-समुद्र आदि की सम्भावना ।

(१) गति—वर्तमान आयुष्य को परिपूर्ण करके जिस गति में उत्पन्न हो सकते हैं, उसे गति कहते हैं ।

- ❖ असंज्ञी पर्याप्त तिर्यंच पञ्चेन्द्रिय जीव पहली रत्नप्रभा नरकभूमि में ही उत्पन्न हो सकते हैं ।
- ❖ गर्भज भुजपरिसर्प पहली और दूसरी नरकभूमि तक उत्पन्न हो सकते हैं ।
- ❖ पक्षी तीसरी नरकभूमि पर्यन्त उत्पन्न हो सकते हैं ।
- ❖ सिंह चौथी नरकभूमि पर्यन्त उत्पन्न हो सकता है ।
- ❖ सर्प पाँचवीं नरकभूमि पर्यन्त उत्पन्न हो सकता है ।
- ❖ स्त्री छठी नरकभूमि तक उत्पन्न हो सकती है ।
- ❖ मनुष्य और मत्स्य सातवीं नरकभूमि पर्यन्त उत्पन्न हो सकते हैं ।

यहाँ विशेष यह है कि—मनुष्य और तिर्यंच मर कर नारकी में उत्पन्न हो सकते हैं, किन्तु देव और नारक मर कर सीधे नारकी—में उत्पन्न नहीं होते । कारण यही है कि देवों में संक्लिष्ट अध्यवसाय का अभाव है । नारक मरकर पुनः तत्काल न तो नरकगति में ही उत्पन्न होते हैं और न देवगति में उत्पन्न होते हैं । वे मनुष्य एवं तिर्यंचगति में ही उत्पन्न होते हैं ।

(२) आगति—पहली रत्नप्रभादि तीन नरकभूमियों के नारक जीव नरकगति का आयुष्य पूर्ण करके मनुष्यगति में आकर तीर्थंकर पद तक प्राप्त कर सकते हैं । चौथी नरक भूमि से निकले हुए जीव मनुष्यगति में आकर निर्वाण-मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं । पाँचवीं नरकभूमि से निकले हुए नारक जीव मनुष्यगति में आकर सर्व विरति-संयम चारित्र्य प्राप्त कर सकते हैं । छठी

नरकभूमि से निकले हुए नारक जीव देशविरति प्राप्त कर सकते हैं। तथा सातवीं नरकभूमि से निकले हुए नारक जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं।

❧ प्रश्न—नरकगति का आयुष्य कौन से जीव बाँध सकते हैं ?

उत्तर—मिथ्यादृष्टि जीव, महारम्भी जीव, महापरिग्रही जीव, मांसाहारी जीव, पञ्चेन्द्रिय प्राणियों का वध करने वाले जीव, तीव्र क्रोधी तथा रौद्रपरिणामी इत्यादि प्रकार के जीव नरकगति का आयुष्य बाँधते हैं।

❧ प्रश्न—कौनसे जीव नरकगति से आये हैं और फिर नरकगति में जाने वाले हैं ?

उत्तर—अत्यन्त क्रूर अध्यवसाय वाले सर्प, सिंहादि, गिद्ध प्रमुख पक्षी, तथा मत्स्य इत्यादिक जलचर जीव प्रायः नरकगति में से आये हैं, और नरकगति में जाते हैं। वे जीव नरकगति से ही आये हैं, ऐसा नियम नहीं है। किन्तु अत्यन्त अशुभ अध्यवसाय के कारण सामान्य रूप से ऐसा ही कहा जाता है। इसी तरह ये जीव मृत्यु पाकर नरक में ही जाने वाले हैं, ऐसा नियम नहीं है। केवल उपर्युक्त कारण से सामान्य रूप में ऐसा कह सकते हैं, निश्चयात्मक नहीं।

❧ प्रश्न—कौनसे संघयण वाले जीव-आत्मा कौनसी नरकभूमि तक जन्म पाते हैं ?

उत्तर—१. सेवान्त संघयणवाले जीव-आत्मा नरकगति में पहली और दूसरी नरकभूमि तक जन्म पाते हैं।

२. कीलिका संघयणवाले जीव-आत्मा नरकगति में पहली नरकभूमि से तीसरी नरकभूमि तक जन्म पाते हैं।

३. अर्धनाराच संघयणवाले जीव-आत्मा नरकगति में पहली नरकभूमि से चौथी नरकभूमि तक जन्म पाते हैं।

४. नाराच संघयणवाले जीव-आत्मा पहली नरक से पाँचवीं नरक तक जन्म पाते हैं।

५. ऋषभनाराचसंघयणवाले जीव-आत्मा पहली नरक से छठी नरक तक जन्म पाते हैं।

६. वज्रऋषभनाराच संघयणवाले जीव-आत्मा पहली नरक से छठी नरक तक जन्म पाते हैं।

❧ प्रश्न—कौनसी नरकभूमि में से आये हुए जीव-आत्मा कौनसी लब्धि प्राप्त कर सकते हैं ?

उत्तर—(१) पहली नरकभूमि से आये हुए जीव-आत्मा चक्रवर्ती हो सकते हैं।

(२) पहली और दूसरी नरकभूमि से आये हुए जीव-आत्मा वामदेव या बलदेव हो सकते हैं।

(३) पहली, दूसरी और तीसरी नरकभूमि से आये हुए जीव-आत्मा अरिहन्त-तीर्थंकर हो सकते हैं ।

(४) पहली चार नरकभूमियों से आये हुए जीव-आत्मा केवली-केवलज्ञानी हो सकते हैं ।

(५) पहली पाँच नरकभूमियों से आये हुए जीव-आत्मा सर्वविरति-संयमी हो सकते हैं ।

(६) छठी नरकभूमि से आये हुए जीव-आत्मा बेशविरति भावक हो सकते हैं ।

(७) सातों नरकभूमियों से अर्थात् किसी भी नरकभूमि से आये हुए जीव-आत्मा सम्यक्त्व प्राप्त कर सकते हैं ।

❧ प्रश्न—विश्व के कौनसे पदार्थ नरकभूमियों में नहीं हो सकते हैं ?

उत्तर—द्वीप, समुद्र, कुण्ड, पर्वत, नगर-शहर, गाँव, वृक्ष, घास इत्यादि छोड़ बादर वनस्पति, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय, तिर्यंच तथा मनुष्य एवं देव इत्यादि नरकों में नहीं हो सकते हैं । किन्तु मित्रता, वैक्रियलब्धि एवं समुद्धात के विषय में अपवाद भी है । केवली-समुद्धात के विषय में कहा है कि—केवलीसमुद्धात में केवली जीवात्मा के आत्मप्रदेश सम्पूर्ण लोकव्यापी हो जाने से सातों नरक में भी होते हैं । वैक्रियलब्धि द्वारा मनुष्य तथा तिर्यंच भी नरक में जा सकते हैं । अपने पूर्वभव के मित्र को सान्त्वना देने के लिए देव भी नरक में जाते हैं ।

प्रश्न—कौन से देव कौनसी नरकभूमि तक जा सकते हैं ?

उत्तर—(१) भवनपतिदेव और व्यन्तर जाति के देव पहली रत्नप्रभा नरकभूमि तक जा सकते हैं ।

(२) वैमानिक देव तीसरी बालुकाप्रभा नरकभूमि तक जा सकते हैं । तथा कदाचित् चौथी पंकप्रभा नरकभूमि में भी वैमानिक देव जा सकते हैं । जैसे—सती सीताजी का जीव सोतेन्द्र चौथी नरकभूमि में रहे हुए लक्ष्मणजी के जीव को आश्वासन देने के लिए वहाँ गया था ।

(३) पन्द्रह प्रकार के नाम वाले परमाधामी देव तीसरी बालुकाप्रभा नरक तक ही जा सकते हैं । ये परमाधामी देव प्रारम्भ की तीन नरकभूमियों के नारकी जीवों को केवल असह्य दुःख देने के लिए ही जाते हैं ।

(३) द्वीप-समुद्र आदि की अवस्थिति—पहली रत्नप्रभा नरकभूमि को छोड़कर शेष छह नरकभूमियों में न तो द्वीप, समुद्र, पर्वत और सरोवर ही हैं; न गाँव, नगर-शहर आदि हैं; न वृक्ष, लता इत्यादि बादर वनस्पतिकाय हैं, न बेइन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक तिर्यंच हैं; तथा न मनुष्य हैं और न किसी प्रकार के देव ही हैं । किन्तु पहली रत्नप्रभा नरकभूमि का कुछ भाग मध्यलोक में सम्मिलित है । इस हेतु से मेरुपर्वत की समतल भूमि से नौ सौ योजन ऊँची-गहरी सलीलावती नामक विजय है, जिसमें उपर्युक्त द्वीप, समुद्र तथा देवतादिक पाये जाते हैं । शेष नरकों में

इनका अभाव है। इसलिए वहाँ केवल नारकी और सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव ही पाये जाते हैं। इस सामान्य नियम का भी अपवाद है, जिसका निर्देश विशेष रूप में ऊपर में आ गया है।

सारांश यह है कि—देवों का उपपात-जन्म पहली रत्नप्रभा नरकभूमि में ही होता है, अन्य भूमियों में नहीं। इसलिए उपपात की अपेक्षा से देव पहली भूमि में ही रहते हैं और भूमियों में नहीं रहते हैं। देव भी केवल तीन भूमियों तक ही जा पाते हैं। नरकपाल कहे जाने वाले परमाधामी देव जन्म से ही पहली तीन भूमियों में रहते हैं, अन्य देव जन्म से केवल पहली रत्नप्रभा भूमि-पृथ्वी में पाये जाते हैं।

द्वीप, समुद्र आदि का जो निषेध है, सो भी दूसरी आदि भूमियों के विषय में ही जानना, न कि पहली रत्नप्रभा पृथ्वी के विषय में। क्योंकि पहली नरक भूमि में इन सब का सन्निवेश पाया जाता है।

सामान्य नियम के अनुसार कोई भी मनुष्य नरकभूमियों में नहीं जा सकता तथा न पाया जा सकता है। किन्तु समुद्रघात की अवस्था में मनुष्य का अस्तित्व वहाँ पर कहा जा सकता है। इसी तरह नारकी और वैक्रियलब्धि से सहित जीव तथा पूर्वजन्म के स्नेही मित्र आदि एवं परमाधामी असुरकुमार इतने जीव क्वचित् कदाचित् नरक की भूमियों में सम्भव हैं। परमाधामी-देवों को नरकपाल भी कहते हैं। उनका तीसरी नरक पर्यन्त आना-जाना होता है, तथा व्यन्तर और बाह्यव्यन्तर देव पहली नरकभूमि में ही होते हैं ॥ ३-६ ॥

❀ मध्यलोकवर्णनम् ❀

५ सूत्रम्—

जम्बूद्वीपे-लवणादयः शुभनामानो द्वीप-समुद्राः ॥ ३-७ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

जम्बूद्वीपादयो द्वीपा लवणादयश्च समुद्राः तिर्यग् (तिच्छ्वा) लोकेऽसंख्याताः । एते शुभनामानः । द्वीपादनन्तरः समुद्रः समुद्रानन्तरो द्वीपो यथासंख्यं वर्तन्ते । तद्यथा—जम्बूद्वीपो द्वीपः, लवणोदः समुद्रः, धातकीखण्डो द्वीपः, कालोदः समुद्रः, पुष्करवरो द्वीपः, पुष्करोदः समुद्रः, वरुणवरो द्वीपः, वरुणोदः समुद्रः, क्षीरवरो द्वीपः, क्षीरोदः समुद्रः, घृतवरो द्वीपः, घृतोदः समुद्रः, इक्षुवरो द्वीपः, इक्षुवरोदः समुद्रः, नन्दीश्वरो द्वीपः, नन्दीश्वरोदः समुद्रः, अरुणवरो द्वीपः, अरुणवरोदः समुद्रः, इत्येवमसंख्येयाः द्वीप-समुद्राः स्वयम्भूरमणपर्यन्ताः वेदितव्या इति ।

असंख्यातस्यासंख्याताः भेदाः अपि संभाव्या । अथात्र कति असंख्यातप्रमाण-द्वीपसमुद्राणाम् ? अतः सार्धद्वयसागरस्य समयानुसारमेव कुलद्वीपसमुद्राणां स्थितिः

ज्ञेया । एषु प्रथमद्वीपो जम्बूद्वीपः अन्तिमश्च स्वयम्भूरमणः । एते सर्वे रत्नप्रभा-
पृथिव्योपरि अवस्थितः समवायैष च तिर्यग्लोक (तिच्छालोक) वा मध्यलोकेति
ज्ञायते ॥ ३-७ ॥

❀ सूत्रार्थ—शुभ नाम वाले जम्बूद्वीप आदि द्वीप और लवणसमुद्र आदि समुद्र
असंख्यात हैं ॥ ३-७ ॥

卐 विवेचनानृत 卐

यहाँ तक अधोलोक के संक्षिप्त वर्णन का दिग्दर्शन किया । अब यहाँ से मध्यलोक का
वर्णन प्रारम्भ होता है ।

मध्यलोक की आकृति भालर के समान कही गई है । इसमें असंख्यात द्वीप तथा असंख्यात
समुद्र हैं । वे द्वीप के पश्चात् समुद्र और समुद्र के पश्चात् द्वीप इस क्रम से अवस्थित हैं । उन
सब के नाम शुभ ही हैं । विश्व में शुभ पदार्थों के जितने नाम हैं, उन प्रत्येक नाम के द्वीप और
समुद्र हैं । अशुभ नाम वाले एक भी द्वीप या एक भी समुद्र नहीं हैं ।

असंख्यात के असंख्यात भेद हो सकते हैं । अतः उनमें से कितने असंख्यात प्रमाण द्वीप
और समुद्र समझने चाहिए ? कहा है कि, ढाई सागर के जितने समय हों, उतने ही कुल द्वीप और
समुद्र जानने चाहिए । इनमें सबसे पहला द्वीप जम्बूद्वीप है और सबसे अन्तिम स्वयम्भूरमणसमुद्र
है । ये सब रत्नप्रभा भूमि पर अवस्थित हैं । इन्हीं के समूह को तिर्यग्लोक-तिच्छालोक या
मध्यलोक कहते हैं ।

इस मध्यलोक में प्रथम एक द्वीप, बाद में समुद्र । पश्चात् पुनः द्वीप, बाद में पुनः समुद्र ।
इस तरह क्रमशः असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र रहे हैं ।

प्रारम्भ के कुछ द्वीप-समुद्रों के नाम क्रमशः नीचे प्रमाण हैं—[१] जम्बूद्वीप, [२] लवण
समुद्र, [३] घातकीखण्ड, [४] कालोदधि समुद्र, [५] पुष्करवर द्वीप, [६] पुष्करवर
समुद्र, [७] वारुणीवर द्वीप, [८] वारुणीवर समुद्र, [९] क्षीरवर द्वीप, [१०] क्षीरवर
समुद्र, [११] घृतवर द्वीप, [१२] घृतवर समुद्र, [१३] इक्षुवर द्वीप, [१४] इक्षुवर समुद्र,
[१५] नन्दीश्वर द्वीप, [१६] नन्दीश्वर समुद्र । सबसे अन्तिम समुद्र का नाम स्वयम्भूरमण
समुद्र है ।

उपर्युक्त समुद्र के जल-पानी के सम्बन्ध में कहा है कि—

❀ लवण समुद्र का जल-पानी खारा है ।

❀ कालोदधि समुद्र का जल-पानी स्वाभाविक जैसा है ।

❀ पुष्करवर समुद्र का जल-पानी भी स्वाभाविक जैसा है ।

❀ वारुणीवर समुद्र का जल-पानी मदिरा-दारु जैसा है ।

❧ क्षीरवर समुद्र का जल-पानी दूध जैसा है ।

❧ घृतवर समुद्र का जल-पानी घृत-घी जैसा है ।

❧ स्वयम्भूरमण समुद्र का जल-पानी स्वाभाविक जैसा है ।

शेष समस्त समुद्रों का जल-पानी इक्षु-शेरड़ी जैसा है ।

अर्थात्—जल-पानी के आस्वादन में ऐसा ही स्वाद होता है ।

इस सूत्र में जिनका निर्देश किया है, वे द्वीप और समुद्र किस तरह से अवस्थित हैं, तथा उनका प्रमाण कितना होता है ?

इसे कहने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं ॥ (३-७)

❧ द्वीप-समुद्रयोः व्यास-रचनाऽऽकृतयः ❧

❧ सूत्रम्—

द्विद्विविष्कम्भः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ३-८ ॥

❧ सुबोधिका टीका ❧

एते सर्वे द्वीप-समुद्राः यथाक्रमादितः द्विद्विविष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः वलयाकृतयः प्रत्येतव्याः । यथा च जम्बूद्वीपो लवणसमुद्रेण परिक्षिप्तः, लवणसमुद्रो धातकीखण्डेन परिक्षिप्तः तथा धातकीखण्डद्वीपः कालोदधिसमुद्रेण, कालोदधिसमुद्रः पुष्करवरद्वीपार्धेन, पुष्करवरद्वीपार्धं मानुषोत्तरेण पर्वतेन, पुष्करवरद्वीपः पुष्करवरोदेन समुद्रेण च परिक्षिप्तः । एवमास्वयम्भूरमणात्समुद्रादिति । तेषु शास्त्रः जम्बूद्वीपः तस्य विष्कम्भः योजनशतसहस्रम् । तद्द्विगुणो लवणजलसमुद्रस्य । लवणजलसमुद्र-विष्कम्भाद् द्विगुणो धातकीखण्डद्वीपस्य । इत्येवमास्वयम्भूरमणसमुद्रात् । निखिलाश्च ते कंकणवत् वलयाकृतयः सह मानुषोत्तरेणेति ॥ ३-८ ॥

❧ सूत्रार्थ—उपर्युक्त सर्व द्वीप और समुद्र पूर्व-पूर्व के द्वीप-समुद्र को वलयाकार घेरे हुए हैं तथा दुगुने-दुगुने विस्तार वाले हैं ॥ ३-८ ॥

❧ विवेचनमृत ❧

उपर्युक्त सभी द्वीप और समुद्रों का विष्कम्भ यानी चौड़ाई का प्रमाण प्रथम जम्बूद्वीप से लेकर यावत् अन्तिम स्वयम्भूरमण समुद्र पर्यन्त दुगुणा-दुगुणा समझना चाहिए । तथा ये सभी द्वीप या समुद्र अपने-अपने से पूर्व द्वीप या समुद्र को घेरे हुए हैं । जैसे—जम्बूद्वीप को लवणसमुद्र और लवणसमुद्र को धातकीखण्डद्वीप, तथा धातकीखण्डद्वीप को कालोदधि समुद्र एवं कालोदधि

समुद्र को पुष्करवर द्वीप घेरे हुए है । इसी तरह क्रमशः स्वयम्भूरमणसमुद्र पर्यन्त जानना चाहिए । प्रत्येक द्वीप-समुद्र का आकार चूड़ी के आकार समान गोल है ।

यद्यपि प्रथम जम्बूद्वीप में लवणसमुद्र प्रमुख के समान कंकण-चूड़ी जैसी गोलाई प्रतीत नहीं होती, कारण कि उसने किसी को घेर नहीं रखा है । इसलिए ही जम्बूद्वीप का आकार थाली के समान गोल है, ऐसा समझ लेना चाहिए ॥ (३-८)

❀ निखिलद्वीप-समुद्राणां मध्ये आगतद्वीपस्य नामादिकम् ❀

५ सूत्रम्—

तन्मध्ये मेरुनाभिवृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥ ३-९ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

तेषामसंख्यातद्वीपसमुद्राणां मध्ये तन्मध्ये प्रथमः जम्बूद्वीपः । स च मेरुनाभिः । मेरुस्य नाभ्यामिति मेरुवास्य नाभिरिति मेरुनाभिः । अयञ्च समस्तद्वीपसमुद्राभ्यन्तरो वृत्तः कुलालचक्राकृतियोजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः । वृत्तग्रहणं नियमार्थमेव । लवणादयो वलयवृत्ता जम्बूद्वीपस्तु प्रतरवृत्त इति । यथा गम्येत वलयाकृतिभिः श्रतुरस्रव्यस्योरपि परिक्षेपो विद्यते । तत्र च मेरुवः पञ्चः । यथा क्रमतः सुदर्शन-विद्युन्माली-विजयाचलमन्दराश्चेति । एतेषु पञ्चषु प्रथमः सुदर्शनमेरुः जम्बूद्वीपस्य मध्ये वर्तते । प्रतरवृत्तः जम्बूद्वीपः । तथा च मेरुपर्वतः सुवर्णमयो स्थालाकृतिरपि । अन्यच्च मेरुः काञ्चनस्थालनाभिरिववृत्तो योजनसहस्रमधोधरणतलमवगाहो नवनर्वात उच्छ्रितो दशाद्यो विपुलः सहस्रमुपरीति । त्रिकाण्डस्त्रिलोकप्रविभक्तमूर्तिः चतुर्भिः वनैः भद्रशाल-नन्दन-सौमनस-पाण्डुकैः परिवृतः । तत्र शुद्धपृथिव्युपलवज्रशर्कराबहुलं योजनसहस्रमेकं प्रथमं काण्डमस्ति । द्वितीयं काण्डं त्रिषष्टिसहस्राणि रंजतजातरूपाङ्ग-स्फटिकबहुलमस्ति । तृतीयं काण्डं षट् त्रिशत्सहस्राणि जाम्बूनदबहुलमस्ति । वैडूर्यधना चूलिकास्य चत्वारिंशत् योजनानि उच्छ्रायेण मूले द्वादशविष्कम्भेण मध्येऽष्ट चोपरि चत्वारितीति । तत्र च भद्रशालवनं वलयपरिक्षेपि मूले स्थितम् । तत्रतः भद्रशालवनात् पञ्चयोजनशतानि आरुह्य तावत् प्रतिक्रान्तिविस्तृतं नन्दनम् ।

ततः अर्धत्रिषष्टिसहस्राणि आरुह्य पञ्चयोजनशतप्रतिक्रान्तिविस्तृतमेव सौमनसम् । तत्रतोऽपि षट्त्रिंशत् सहस्राणि आरुह्य चतुर्नवति चतुःशतप्रतिक्रान्तिविस्तृतं पाण्डुकनामकवनमिति । नन्दनसौमनसाभ्यां एकादशैकादशसहस्राणि आरुह्य प्रदेशपरिहाणिविष्कम्भस्येति । अत्र प्रायः सौवर्णमेव प्राप्यते । अत्रैकमन्यदपि

विशेषत्वं यत् सप्तसु क्षेत्रेषु विभक्तमयमस्ति जम्बूद्वीपस्य सप्त विभागाः । ते चैते ॥ ३-६ ॥

❀ सूत्रार्थ—उन द्वीप-समुद्रों के मध्यभाग में एक लाख योजन के विस्तार वाला जम्बूद्वीप है, जिसमें नाभि के समान वृत्ताकार यानी गोलाकार मेरुपर्वत है ॥ ३-६ ॥

卐 विवेचनमृत 卐

मध्यलोक की आकृति भालर के समान कही गयी है। इसमें असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। वे द्वीप के पश्चात् समुद्र और समुद्र के पश्चात् द्वीप, इस क्रम से सुव्यवस्थित हैं। उनकी व्यास रचना और आकार-आकृति का वर्णन करते हुए मध्यलोक का आकार प्रदर्शित करते हैं।

व्यास—पहला द्वीप जम्बूद्वीप है। उसका विष्कम्भ यानी विस्तार पूर्व, पश्चिम और उत्तर, दक्षिण एक लाख योजन का है। लवण समुद्र का विस्तार दो लाख योजन का है। धातकी खंड का विस्तार चार लाख योजन का है। कालोदधि समुद्र का विस्तार आठ लाख योजन का है। पुष्करवर द्वीप का विस्तार सोलह लाख योजन का है। पुष्करोदधि समुद्र का विस्तार बत्तीस लाख योजन का है। इसी तरह आगे-आगे के जितने द्वीप और समुद्र हैं वे एक दूसरे से दुगुने-दुगुने विस्तार वाले हैं। समस्त द्वीप-समुद्रों के अन्त में स्वयम्भूरमण समुद्र है। वह भी असंख्यात योजन प्रमाण विस्तार वाला है। उसके परे पूर्वोक्त तीन वलय तथा अलोकाकाश है।

समस्त द्वीपों और समुद्रों से वेष्टित मध्यवर्ती द्वीप को जम्बूद्वीप कहते हैं। वह थाली के समान एक लाख योजन के विस्तार वाला पहला द्वीप है। इस जम्बूद्वीप के मध्य भाग में मेरुपर्वत है जैसे नाभि शरीर के मध्य भाग में है, वैसे ही मेरुपर्वत भी जम्बूद्वीप के मध्य भाग में है। इसे जम्बूद्वीप के नाभिरूप होने से सूत्र में जम्बूद्वीप का 'मेरुनाभि' विशेषण दिया गया है।

जम्बूद्वीप की जगती आदि का संक्षिप्त वर्णन—

एक लाख योजन विस्तार वाले जम्बूद्वीप का आकार प्रतरवृत्त अर्थात्—थाली के समान है। किन्तु लवण समुद्र के समान वलयाकार नहीं है, कुम्हार के चाक के समान ही है।

जम्बूद्वीप के चारों तरफ 'वज्रमणिमय' नामक कोट है। उसी को शास्त्र में जगती कहते हैं। उसकी ऊँचाई आठ योजन की है। तथा उसका विस्तार मूल में बारह योजन का और पीछे क्रमशः न्यून-न्यून होते हुए ऊपर चार योजन का होता है। ऊपर के मध्य भाग में सर्वरत्नमय नामक वेदिका है। वह पुरुष, किन्नर, गन्धर्व, वृषभ, सर्प, अश्व तथा हस्ति इत्यादि चित्रों से युक्त है। उसमें गुच्छों, पुष्पों और पल्लवों से उत्तम वासन्ती तथा चम्पक इत्यादि विविध प्रकार की रत्नमय लताएँ हैं। वेदिका का घेराव जगती-कोट जितना, ऊँचाई दो गाउं की और विस्तार पाँच सौ धनुष्य का है।

वेदिका के दोनों तरफ दो बगीचे हैं। प्रत्येक बगीचे का घेराव जगती-कोट जितना, तथा विस्तार ढाई सौ धनुष दो योजन का है। वेदिका का और दोनों बगीचों का विस्तार सम्मिलित करते हुए बराबर जगती-कोट जितना चार योजन होता है। दोनों बगीचों में फल और फूल इत्यादिक से मनोहर वृक्ष हैं। उनकी भूमि में रहे हुए तृण-घास के अंकुरों में से चन्दनादिक से भी अधिक सुवास प्रसरती है। तथा इन अंकुरों का पवन-वायु से परस्पर अथड़ाते हुए वीणादिक वाजिन्त्रों के नाद से भी अधिक मनोहर नाद होता है। पवन से परस्पर अथड़ाते हुए ऐसे पंचवर्ण के सुगन्धित मणियों में से भी मधुर ध्वनि निकलती है। स्थल-स्थल पर सोपान यानी सीढ़ियों वाली बावड़ियाँ, तालाब तथा महासरोवर इत्यादि होते हैं। बावड़ियों में जल-पानी भी मदिरा तथा इक्षुरसादिक विविध स्वाद वाले होते हैं। उनमें अनेक प्रकार के क्रीड़ापर्वत, विविध प्रकार के क्रीडागृह, नाट्यगृह, केतकीगृह, लतागृह, कदलीगृह, प्रसाधनगृह तथा रत्नमय मण्डप इत्यादिक हैं।

इन समस्त गिरियों-पर्वतों, गृहों, जलाशयों तथा मण्डपों इत्यादि में व्यन्तर जाति के देव यथेच्छ क्रीड़ा करते हैं। चार दिशाओं में जगती-कोट के विजयादिक नाम वाले चार द्वार हैं। उनके स्वामी विजय आदि देव हैं। उन विजयादि देवों की असंख्य द्वीपों और समुद्रों के बाद द्वितीय जम्बूद्वीप में राजधानी है।

कोट के फिरता हुआ एक गवाक्ष यानी झरोखा है। वह गवाक्ष दो गाउ ऊँचा और पाँच सौ धनुष पहाला है। गवाक्ष कोट के मध्य भाग में आया हुआ होने से, वहाँ से ही लवण समुद्र के समस्त दृश्य देख सकते हैं।

मेरु पर्वत की तीनों लोकों में स्पर्शना—

जम्बूद्वीप के मध्य भाग में रहा हुआ मेरुपर्वत भी सुवर्ण के थाल के मध्य की माफिक गोल है। वह मेरुपर्वत तीन लोक में आया हुआ है। इसकी ऊँचाई एक लाख योजन की है। इसके समान ऊँचाई वाले दूसरे पर्वत कोई नहीं हैं। एक लाख योजन की ऊँचाई में यह एक हजार योजन पृथ्वी में रहा हुआ है, तथा शेष ९९ हजार योजन पृथ्वी के ऊपर है। एक लाख योजन में से १०० योजन अधोलोक में, १८०० योजन तिच्छालोक में और ९८१०० योजन ऊर्ध्वलोक में है। समभूतला पृथ्वी से ९०० योजन नीचे और ९०० योजन ऊपर, इस तरह १८०० योजन तिच्छालोक में है। मेरुपर्वत समभूतला पृथ्वी से १००० योजन नीचे जमीन में होने से अधोलोक में १०० योजन होते हैं। तथा नीचे के शेष रहे हुए ९०० योजन तिच्छालोक में गिने जाते हैं। ऊपर के ९०० योजन उमेरते हुए १८०० योजन तिच्छालोक में होते हैं। ऊपर के शेष यानी बाकी के ९८१०० योजन ऊर्ध्वलोक में होते हैं।

मेरुपर्वत के तीन काण्डक—

मेरुपर्वत पर दृश्य भाग में तीन काण्डक-मेखला-कटनी हैं। अर्थात् तीन काण्डक यानी विभाग हैं। यह मेरुपर्वत मानों तीनों लोकों [स्वर्ग-मृत्यु-पाताल] का विभाग करने के लिए माप करने की महान् आकृति है अर्थात् मापदण्डरूप है। क्योंकि मेरु के नीचे के भाग में अधोलोक है और ऊपर के भाग में ऊर्ध्वलोक है, तथा मेरु के बराबर त्रियंग्लोक-तिच्छालोक मध्यलोक का प्रमाण है।

भद्रशाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक इन चार वनों द्वारा यह चारों तरफ से घेरा हुआ है। तीन काण्डकों में से नीचे का पहला काण्डक एक हजार योजन ऊँचा है, जिसका पृथ्वी के भीतर अदृश्य भाग है। इस काण्डक में प्रायः शुद्ध मिट्टी, पत्थर, हीरा और शर्करा ही पाये जाते हैं।

दूसरे और तीसरे काण्डक तो पृथ्वी के ऊपर के दृश्य भाग में ही हैं। इसमें दूसरा काण्डक पृथ्वीतल से लेकर ६३००० हजार योजन की ऊँचाई तक है। इस दूसरे काण्डक में प्रायः करके चांदी-रूपा, सोना, अङ्कुर-रत्नविशेष तथा स्फटिक रत्न ही पाये जाते हैं। दूसरे काण्डक के ऊपर ३६००० योजन की ऊँचाई वाला तीसरा काण्डक-काण्ड है। इस काण्डक में प्रायः सुवर्ण-सोना ही है।

चूला-

इसका दूसरा नाम है चूलिका-शिखर। इस मेरुपर्वत के ऊपर एक चूला यानी चूलिका-शिखर है। वह चालीस योजन ऊँची है। इसकी चौड़ाई मूल में बारह योजन, मध्य में आठ योजन तथा अन्त में चार योजन है। चूलिका भाग में प्रायः करके वैडूर्यमणि ही पाई जाती है।

चार वन-

(१) मेरुपर्वत के मूल में समभूतला पृथ्वी पर पहला भद्रशालवन है। यह गोल है और चारों तरफ से मेरुपर्वत की घेरे हुए है।

(२) भद्रशालवन से ५०० योजन ऊपर चलकर उतनी ही प्रतिक्रान्ति के विस्तार से युक्त दूसरा नन्दनवन है।

(३) नन्दनवन से ६२५०० योजन ऊपर चलकर तीसरा सौमनसवन आता है। इसकी चौड़ाई ५०० योजन की है।

(४) सौमनसवन से ३६००० योजन ऊपर चलकर चौथा पाण्डुकवन आता है। इसकी चौड़ाई ४६४ योजन की है। इसमें चार दिशाओं में चार शिलाएँ आदि हैं। इन शिलाओं पर रहे हुए सिंहासनों पर श्रीजिनेश्वर-तीर्थंकर भगवन्तों के जन्माभिषेक होते हैं।

विशेष यह है कि मेरुपर्वत का विष्कम्भ सर्वस्थल में एक समान नहीं है, किन्तु उसके विष्कम्भ के प्रदेश क्रम से घटते गये हैं। इस हानि का प्रमाण इस प्रकार है कि नन्दनवन और सौमनसवन से लेकर ग्यारह ग्यारह हजार प्रदेशों के ऊपर चलकर विष्कम्भ के एक-एक हजार प्रदेश घटते गये हैं।

इस तरह जम्बूद्वीप का विस्तार तथा आकार इत्यादि कहा। इसमें एक विशेष बात और भी है। इस जम्बूद्वीप के सात भाग हैं, जिनको सात क्षेत्र कहते हैं। वे सात क्षेत्र कौनसे-कौनसे हैं? सो कहने के लिए अब आगे के सूत्र कहते हैं ॥ (३-६) ॥

❀ जम्बूद्वीपे प्रागतानि क्षेत्राणि ❀

卐 सूत्रम्—

तत्र भरत-हैमवत-हरिविदेह-रम्यक-हैरण्यवत-ऐरावतवर्षाः

क्षेत्राणि ॥ ३-१० ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

तस्मिन्नेव जम्बूद्वीपे भरत-हैमवत-हरयो विदेहाश्च रम्यकं हैरण्यवतमिति सप्तवंशाः क्षेत्राणि सन्ति । भरतस्योत्तरदेशे हैमवतकं क्षेत्रम्, हैमवतस्योत्तरतः हरिक्षेत्रम् । इत्थमेवान्येषु अपि सम्भाव्यम्, ज्ञातव्यमिति । अर्थात्—हरितोत्तरतः विदेहः विदेहोत्तरतः रम्यकं रम्यकस्योत्तरतः हैरण्यवतः ततोत्तरतः ऐरावतक्षेत्रमस्ति । वंशा वर्षा वास्या इति त्रैषां पर्यायाणि गुणतः जायन्ते । सर्वेषामेषां व्यवहारनयापेक्षादादित्यकृताद् दिग्नियमादुत्तरतो मेरुः वर्तते, लोकमध्यावस्थितं चाष्टप्रदेशं रुचकं दिग्नियमहेतुं प्रतीत्य यथासम्भवं भवतीति । गुणतः पर्यायाणि कथम् ? गुणतो पर्यायाणि अन्वर्थगुणपेक्षया वर्तते यत् भरतादिकाराणि वंशादिकैरिव विभक्तारः धारका वा । अतः वंशक्षेत्राः, इत्थमेव वर्षवास्यार्थाः यत् वर्षस्य सन्निधानत्वेन वर्षं मनुष्यादिकानां वासेन वास्याः । दिग्नियमोऽपि सूर्यकृताद् नियमाद् भवति । यथा मेरु सर्वाशाभिः उत्तरस्यामेव वर्तते यत् लोके व्यवहारनयापेक्षया एवेतद् ॥ ३-१० ॥

सूत्रार्थ—उस जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरिवर्ष, महाविदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात मनुष्यादिकों के वासक्षेत्र हैं ॥ ३-१० ॥

卐 विवेचनामृत 卐

जिस जम्बूद्वीप का प्रमाण और आकार ऊपर के सूत्र में बताया हुआ है, उस जम्बूद्वीप में ही भरत, हैमवत, हरिवर्ष, महाविदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये मुख्य सात क्षेत्र हैं । उनको वंश, वर्ष या वासक्षेत्र कहते हैं । इनमें भरतक्षेत्र दक्षिण दिशा में आया है ।

जम्बूद्वीप के दक्षिण भाग में (१) भरतक्षेत्र, भरत क्षेत्र से उत्तर (२) हैमवतक्षेत्र, हैमवत क्षेत्र से उत्तर (३) हरिवर्षक्षेत्र, हरिवर्ष क्षेत्र से उत्तर (४) विदेह यानी महाविदेहक्षेत्र, महाविदेह क्षेत्र से उत्तर (५) रम्यकक्षेत्र, रम्यक क्षेत्र से उत्तर (६) हैरण्यवतक्षेत्र, तथा हैरण्यवत क्षेत्र से उत्तर (७) ऐरावतक्षेत्र हैं । इस तरह ये क्षेत्र एक-एक से उत्तर दिशा में हैं । अर्थात् सारांश यह है कि—भरतक्षेत्र से उत्तर में ही हैमवत इत्यादि छह क्षेत्र क्रमशः आये हुए हैं । इनमें

भरत तथा ऐरावत ये दो क्षेत्र, हैमवत तथा हरिष्यवत ये दो क्षेत्र एवं हरिवर्ष और रम्यक ये दो क्षेत्र प्रमाण इत्यादिक से तुल्य-समान हैं ।

जम्बूद्वीप के अति मध्य भाग में ही महाविदेह क्षेत्र आया हुआ है । मेरुपर्वत का व्यवहार सिद्ध दिशा की अपेक्षा से समस्त क्षेत्रों के उत्तर में है । क्योंकि—व्यवहार से जिस दिशा में सूर्य का उदय होता है वह पूर्व दिशा है, तथा जिस दिशा में सूर्य का अस्त होता है वह पश्चिम दिशा है । पूर्व दिशा सम्मुख मुँह कर खड़ा रहने से बायीं तरफ की दिशा उत्तर होती है, तथा दाहिनी तरफ की दिशा दक्षिण होती है ।

भरतक्षेत्र में जिस दिशा में सूर्योदय होता है, वहाँ से विपरीत दिशा में ऐरावत क्षेत्र में सूर्योदय होता है । इस तरह दोनों क्षेत्रों में पूर्व दिशा की तरफ मुँह करते हुए मेरुपर्वत बायीं तरफ रहता है । इसी तरह अन्य क्षेत्रों में भी समझना चाहिए ॥ (३-१०)

❀ जम्बूद्वीपे प्रागताः वर्षधरपर्वताः ❀

५ सूत्रम्—

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्-महाहिमवन्-निषध-नील-रुक्मि-
शिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ३-११ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

एतेषां भरतादिसप्तक्षेत्राणां विभक्तारः षट् वर्षधराः पर्वताः । ते चैते हिमवान् महाहिमवान् निषधो नीलो रुक्मी शिखरीति । तत्र च भरतस्य हैमवतस्य च विभक्ता हिमवान्, हैमवतस्य हरिवर्षस्य च विभक्ता महाहिमवान्, इत्येवं शेषाः । षट्कुलाचलैः विभक्ताश्चैते क्षेत्राः एतेषु प्रमाणेषु विस्तृताः । तत्र पञ्चयोजनशतानि षड्विंशानि षट्चैकोनविंशतिभागाः (५२६ $\frac{१}{२}$) भरतविष्कम्भः स च द्विद्विहिमवद् हैमवतादीनां आविदेहेभ्यः । परतो विदेहेभ्यः अर्धार्धहीनाः ।

स्पष्टतस्तु कुलाचलैः विभक्ताश्चैतेऽनुक्रमतः भरतक्षेत्रस्य प्रमाणः ५२६ $\frac{१}{२}$ योजनप्रमाणभरतक्षेत्रविष्कम्भः । ततोऽग्रतः हिमवान् हैमवतः द्विगुणः द्विगुणः द्विगुणता च विदेहपर्यन्तमेव नैवाग्रे ।

विदेहेभ्यो परतः विष्कम्भः अर्धार्धहीनश्च अर्थात्—भरतक्षेत्रस्य प्रमाणं ५२६ $\frac{१}{२}$, हिमवान्-शिखरीपर्वतयोः प्रमाणं १०५२ $\frac{३}{४}$ योजनानि, हैमवत-हरिष्यवतपर्वतयोः प्रमाणं २१०५ $\frac{५}{८}$ योजनानि, महाहिमवान्-रुक्मिपर्वतयोः ४२१० $\frac{३}{४}$ योजनानि, हरि-रम्यकपर्वतयोः प्रमाणं ८४२१ $\frac{३}{४}$ योजनानि, निषध-नीलवन्तपर्वतयोः प्रमाणं १६८४२ $\frac{३}{४}$

योजनानि, विदेहपर्वतस्य च प्रमाणं ३३६८४ $\frac{३}{४}$ योजनानि सन्ति । पञ्चविंशति-
योजनानि अवगाढो योजनशतोच्छ्रायो हिमवान् ।

भरतक्षेत्रस्य प्रमाणं त्रिभिः ज्ञेयम् । ज्येषुधनुकाष्ठैः हिमवतः संलग्ना ज्येवरेखा
ज्या कथ्यते । तस्य प्रमाणं चतुर्दशसहस्राणि चत्वारि शतान्येकसप्ततीनि षट् च भागा
विशेषतो ज्या । इषुर्यथोक्तो विष्कम्भः । धनुकाष्ठं चतुर्दशसहस्राणि शतानि
पञ्चाष्टविंशानि एकादश च भागाः साधिकाः ।

भरतक्षेत्रमध्ये पूर्वापरायतः उभयतः समुद्रमवगाढो वैताढ्यपर्वतः षड्योजनानि
सक्रोशानि धरणिमवगाढः पञ्चाशद्विस्तरतः पञ्चविंशत्युच्छ्रितः । तस्य विजयार्धेति
अन्यदपि नाम । अन्यदपि विदेहेषु निषधस्योत्तरतः मन्दरस्य दक्षिणतः देवकुरोत्तरकुरु
द्वौ क्षेत्रौ । सर्वदैवभोगभूमिरेषा । तत्रापि निषधस्योत्तरतः मेरोः दक्षिणतः देवकुरु
विद्यते । अनेकानेक-काञ्चन-पर्वतैः शोभायमानः तस्य च पञ्चसरोवराण्यभितः
दशदशसुवर्णपर्वताः । चित्रकूटेन विचित्रकूटेन चोपशोभिताः देवकुरवः विष्कम्भेण
एकादशयोजनसहस्राणि अष्टौ च शतानि द्विचत्वारिंशानि द्वौ च भागौ (११८०० $\frac{३}{४}$) ।
एवमेवोत्तरेणोत्तराः कुटवश्चित्रकूटविचित्रकूटहीना द्वाभ्यां च काञ्चनाभ्यामेव
यमकपर्वताभ्यां विराजिताः ।

यद्यपि जम्बूद्वीपस्य मध्ये निषधनीलयोः अन्तराले सामान्यतः एकमेव विदेहक्षेत्रम्,
तथापि विदेहा मन्दरदेवकुरु-उत्तरकुरुभिः विभक्ताः क्षेत्रान्तरवत् भवन्ति । पूर्वे चापरे
च, पूर्वेषु षोडशचक्रवर्त्तिविजयानदी पर्वतैः विभक्ताश्च परस्परागमाः अपरेऽपि एवं
लक्षणा षोडशैव ।

दक्षिणोत्तरौ वैताढ्यौ हिमाच्छादितौ महाहिमवत् रुक्मिणी निषधनीलौ च
अर्थात् विदेहतोत्तराः पर्वताः समानाः । यथा भरत-ऐरावतयोः प्रमाणं परस्परं
तुल्यमिति । तथैव दक्षिणोत्तरौ वैताढ्यौ आयामविष्कम्भावगाहोच्छ्रायेषु समानौ ।
क्षुद्रमन्दरास्तु चत्वारोऽपि घातकीखण्डकपुष्करार्धका महामन्दरात् पञ्चदशभिः
योजनसहस्रैः हीनोच्छ्रायाः । षड्भिः योजनशतैः पृथिवीतले हीनविष्कम्भाः । तेषां
प्रथमं काण्डं महामन्दरवत् तुल्यम् । द्वितीयञ्च काण्डं सप्तभिः हीनम्, तृतीयकाण्डमपि
अष्टाभिः हीनमस्ति । भद्रशालनन्दनवने महामन्दरवत् । ततः अर्धषट् पञ्चाशद्
योजनसहस्राणि सौमनसवनं पञ्चशतं विस्तृतमेव । ततः अष्टाविंशतिसहस्राणि

चतुर्नवति चतुःशतविस्तृतमेव पाण्डुकवनं भवति । उपरि चाधरश्च विष्कम्भः
अवगाहश्च समानः महामन्दरेण, चूलिका चेति ।

विष्कम्भस्य वर्गेण कृते दशगुणितं मूलं वृत्तपरिक्षेपः । स च विष्कम्भयोः
वर्गविशेषमूलं विष्कम्भात् शोध्यं शेषार्धमिषुः । इषुवर्गस्य षड्गुणस्य ज्यावर्गयुतस्य
कृते मूलं धनुः काष्ठम् । ज्यावर्गचतुर्भाग्-युक्तमिषु वर्गमिषु विभक्तं तत् प्रकृति-
वृत्तविष्कम्भः । उदग्धनुःकाष्ठाद् दक्षिणं शोध्यं शेषार्धं बाहुरिति । अनेन
कारणाभ्युपायैः सर्वेषां क्षेत्राणां सर्वेषाञ्च पर्वतानां आयामविष्कम्भज्येषु धनुः
काष्ठपरिमाणानि ज्ञातव्यानि इति ॥ ३-११ ॥

❀ सूत्रार्थ—उपर्युक्त भरतादिक सात क्षेत्रों का विभाग करने वाले क्रमशः पूर्व-
पश्चिम लम्बे ऐसे हिमवान्, महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि और शिखरी नाम के
'छह' वर्षधर पर्वत हैं ॥ ३-११ ॥

卐 विवेचनान्त 卐

उपर्युक्त सात क्षेत्रों का विभाग करने वाले ये छह पर्वत हैं । इनके नाम हिमवान्,
महाहिमवान्, निषध, नील, रुक्मि तथा शिखरी हैं, जो वर्षधर नाम से भी प्रसिद्ध हैं । वर्ष यानी
क्षेत्र, क्षेत्र की मर्यादा को जो धारण करे वह वर्षधर है । हिमवान् इत्यादि पर्वत भरतादिक क्षेत्रों
की सीमा-मर्यादा को धारण करने वाले होने से वर्षधर कहलाते हैं । ये सभी पूर्व और पश्चिम
लम्बे हैं । अर्थात् इनकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम की ओर है । भरत तथा हैमवत क्षेत्र के मध्यवर्ती
अर्थात् इनका विभाग करने वाला हिमवान् पर्वत है । इसी माफिक हैमवत और हरिवर्षक्षेत्र
को विभाजित करने वाला महाहिमवान् पर्वत है । हरिवर्ष तथा विदेह को पृथक् करने वाला
निषध पर्वत है । विदेह और रम्यक का विभाग करने वाला नील पर्वत है । रम्यक और
हैरण्यवत को विभाजित करने वाला रुक्मि पर्वत है तथा हैरण्यवत और ऐरावत को पृथक् करने
वाला शिखरी पर्वत है ।

उपर्युक्त पर्वतों से भरतादिक सात क्षेत्र विभाजित माने गये हैं । ये पर्वत उन क्षेत्रों के
मध्यवर्ती (बीच में) हैं । उनका क्रमशः स्पष्टीकरण यह है कि—भरत से ऐरावत की तरफ जाते
हुए प्रथम भरत क्षेत्र, पश्चाद् हिमवान् पर्वत, बाद में हैमवत क्षेत्र, पश्चाद् महाहिमवान् पर्वत,
बाद में हरिवर्ष क्षेत्र, पश्चाद् निषध पर्वत, बाद में महाविदेह क्षेत्र, पश्चाद् नील पर्वत, बाद में
रम्यक क्षेत्र, पश्चाद् रुक्मि पर्वत, बाद में हैरण्यवत क्षेत्र, पश्चाद् शिखरी पर्वत, बाद में ऐरावत
क्षेत्र । इस तरह क्रमशः जम्बूद्वीप में भरतादिक क्षेत्र तथा हिमवानादि पर्वत आये
हुए हैं ।

जम्बूद्वीप के सात क्षेत्रों तथा छह पर्वतों का विस्तार :

पहले जम्बूद्वीप का प्रमाण एक लाख योजन का है। एक लाख योजन के एक सौ नब्बे (१६०) खण्ड यानी विभाग होते हैं। उसमें एक खण्ड पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस विभागों में से छह विभाग हैं। अर्थात् $५२६\frac{१}{२}$ योजन प्रमाण भरत क्षेत्र का विष्कम्भ है।

सारांश यह है कि—भरतक्षेत्र का एक खण्ड ५२६ योजन और $६ \times$ कला प्रमाण है। भरतक्षेत्र का विस्तार एक खण्ड प्रमाण समझना चाहिए। भरतक्षेत्र से आगे हिमवान् पर्वत तथा हैमवत इत्यादि क्षेत्रों का विष्कम्भ दूना-दूना ही जानना। किन्तु यह द्विगुणता विदेह पर्यन्त ही है, आगे नहीं है।

महाविदेह क्षेत्र का विस्तार ६४ खण्ड प्रमाण है। पश्चात् क्रमशः पर्वत और क्षेत्र का विष्कम्भ-विस्तार क्रम से आधा-आधा होता गया है। अर्थात्—भरतक्षेत्र का प्रमाण $५२६\frac{१}{२}$ योजन है, इतना ही प्रमाण ऐरावतक्षेत्र का है। हिमवान् तथा शिखरी इत्यादि पर्वतों का भी इसी प्रकार क्रम से समान प्रमाण समझना चाहिए। जैसे—

- (१) हिमवान् और शिखरी का प्रमाण $१०५२\frac{३}{४}$ योजन का है।
- (२) हैमवत तथा हैरण्यवत का प्रमाण $२१०५\frac{१}{२}$ योजन का है।
- (३) महाहिमवान् और रुक्मि का प्रमाण $४२१०\frac{१}{२}$ योजन का है।
- (४) हरिवर्ष तथा रम्यक का प्रमाण $८४२१\frac{१}{२}$ योजन का है।
- (५) निषध और नील का प्रमाण $१६८४२\frac{३}{४}$ योजन का है।
- (६) विदेह का प्रमाण $३३६८४\frac{१}{२}$ योजन का है।

इस उक्त कथन का यन्त्र-कोष्ठक नीचे प्रमाण है—

卐 यन्त्र-कोष्ठक 卐

स्थल	भरत	हिमवन्त	हैमवत	महाहिमवन्त	हरिवर्ष
खण्ड संख्या	१	२	४	८	१६
योजन	५२६	१०५२	२१०५	४२१०	८४२१
कला	६	१२	५	१०	१



स्थल	निषध	महाविदेह	नीलवन्त	रम्यक
खण्ड संख्या	३२	६४	३२	१६
योजन	१६८४२	३३६८४	१६८४२	८४२१
कला	२	४	२	१



स्थल	रुक्मि	हैरण्यवत	शिखरी	ऐरावत	कुल खण्ड
खण्ड संख्या	८	४	२	१	१६०
योजन	४२१०	२१०५	१०५२	५२६	१ लाख
कला	१०	५	१२	६	[१०००००] योजन

षड् पर्वतों का अवगाह तथा ऊँचाई आदि :

उपर्युक्त छह पर्वतों में से हिमवान् पर्वत का अवगाह पच्चीस (२५) योजन है, तथा उसकी ऊँचाई एक सौ (१००) योजन की है। महाहिमवान् पर्वत का अवगाह इससे दूना यानी पचास (५०) योजन है, तथा इसकी ऊँचाई दो सौ (२००) योजन की है। इससे दूना निषध पर्वत का अवगाह सौ (१००) योजन का है, तथा इसकी ऊँचाई चार सौ (४००) योजन की है। निषध पर्वत के समान नील पर्वत का तथा महाहिमवान् पर्वत के समान रुक्मि पर्वत का, एवं हिमवान् पर्वत के समान शिखरी पर्वत का प्रमाण जानना चाहिए।

विशेष—भरतक्षेत्र का प्रमाण ज्या, इषु और धनुकाष्ठ इन तीन तरह से कहा है।

(१) ज्या—हिमवान् पर्वत से लगी हुई धनुष की डोरी के समान जो रेखा है, उसे 'ज्या' कहते हैं। उसका प्रमाण १४४०००^६ योजन का है। अर्थात्—चौदह हजार चार सौ योजन और एक योजन के ७१ भाग में से ६ भाग का है।

(२) **इषु**—धनुष पर बाण रखने के स्थान के समान भरतक्षेत्र की उत्तर और दक्षिण-मध्यवर्ती जो रेखा है, उसे 'इषु' कहते हैं। उसका प्रमाण भी उपर्युक्त के अनुसार ही जानना चाहिए। अर्थात्—५२६६ $\frac{१}{२}$ योजन उसका प्रमाण है।

(३) **धनुकाष्ठ**—धनुष की लकड़ी के समान ही समुद्र के समीपवर्ती परिधिरूप जो रेखा है, उसे 'धनुकाष्ठ' कहते हैं। उसका प्रमाण १४५०० $\frac{३}{४}$ योजन से कुछ अधिक है। अर्थात्—चौदह हजार पाँच सौ योजन और एक योजन के २८ भागों में से ११ भाग से कुछ अधिक है।

भरतक्षेत्र का संक्षिप्त वर्णन :

षट्खण्ड—इस भरतक्षेत्र के छह खण्ड हैं। इसके तीन भाग विजयार्ध के उत्तर में और तीन भाग दक्षिण में हैं।

भरतक्षेत्र के मध्यभाग में एक **वैताढ्य** नाम का पर्वत है। वह पूर्व-पश्चिम लम्बा है। इसका पूर्व भाग पूर्व समुद्र में और पश्चिम भाग पश्चिम समुद्र में प्रविष्ट है। सवा छह योजन पृथ्वी के भीतर है तथा पचास योजन उत्तर-दक्षिण चौड़ा-पहोला एवं पच्चीस योजन ऊँचा है। इस भरतक्षेत्र के दक्षिणार्ध और उत्तरार्ध ये दो भाग पड़े हैं। हिमवन्त पर्वत के पद्मद्रह से निकली हुई और वैताढ्य पर्वत को भेद करके पूर्व-पश्चिम लवणसमुद्र में मिली हुई क्रमशः गंगा और सिन्धु ये दो नदियाँ बहती हैं। इससे इसी भरतक्षेत्र के षट्खण्ड यानी छह भाग होते हैं। इन षट्खण्डों में जो मध्यखण्ड है, उसके मध्यभाग में अयोध्या नगरी है। इस खण्ड में साढ़े पच्चीस आर्यदेश हैं, इसके अलावा अन्य सभी जो देश हैं, वे अनार्यदेश हैं। अन्य पाँच खण्ड भी अनार्य हैं। मात्र मध्यखण्ड में रहे हुए आर्यदेशों में ही श्री तीर्थंकर भगवन्त, चक्रवर्ती, वासुदेव तथा बलदेव इत्यादि श्रेष्ठ पुरुष उत्पन्न होते हैं।

वैताढ्य पर्वत का माप :

वैताढ्य नामक पर्वत का माप पचास योजन पहोला, पच्चीस योजन ऊँचा तथा छह योजन और एक गाउ पृथ्वी में गहरा है।

❀ **नौ कूट**—इस वैताढ्य नामक पर्वत पर नौकूट यानी नौ शिखर आये हुए हैं। उनमें पहला सिद्धायतन नामक कूट पूर्व समुद्र के पास आया है और शेष आठ कूट पश्चिम समुद्र के पास आये हैं। सिद्धायतन नामक कूट पर एक सिद्धायतन-शाश्वत जिनचैत्य यानी जिनमन्दिर है, जिसमें अष्टोत्तर शत यानी १०८ शाश्वत जिन-भूतियाँ-जिन-प्रतिमाएँ हैं। शेष रहे हुए सभी शिखरों पर एक-एक महान् रत्नमय प्रासाद है। जब इन शिखरों के स्वामी देव अपनी राजधानी से यहाँ आते हैं तब प्रासाद में सानन्द रहते हैं।

विद्याधरों का निवास :

वैताढ्य पर्वत पर समभूतला पृथ्वी से ऊँचे दश योजन छोड़कर तथा वैताढ्य पर्वत जितनी ही लम्बी एक मेखला दक्षिण दिशा में और एक मेखला उत्तर दिशा में है। इन दोनों मेखलाओं

पर मेखला के ही माप की विद्याधरों की श्रेणियाँ आयी हैं। उनमें दक्षिण दिशा की श्रेणी में पचास नगर हैं तथा उत्तर दिशा की श्रेणी में साठ नगर हैं। उसके आसपास उस-उस नगरी के देश हैं। इन नगरियों में उत्तम कोटि के रत्नों से बने महलों में विद्याधर रहते हैं।

इन्द्र के लोकपालक देवों के सेवकों का निवास :

उन विद्याधरों की श्रेणी से ऊँचे दश योजन छोड़कर के उपर्युक्त जैसी ही दक्षिण दिशा में तथा उत्तरदिशा में मेखलाएँ और दो श्रेणियाँ हैं। उनमें इन्द्र के लोकपाल देवों के सेवक रत्नमय भवनों में रहते हैं।

व्यन्तरीयों की क्रीड़ा के स्थान :

इन भवनों से ऊँचे पाँच योजन जाते वैताढ्य पर्वत का भाग आता है। इसके मध्य में पद्मवर नामक वेदिका और दोनों तरफ बगीचे हैं। इन बगीचों में रहे हुए छोटे-छोटे क्रीड़ापर्वतों पर कदलीगृहों में तथा वाव-वापी आदि में व्यन्तरदेव क्रीड़ा करते हैं।

गुफाएँ :

वैताढ्य पर्वत में पूर्व दिशा की ओर के विभाग में खण्डप्रपाता नाम की गुफा है, तथा पश्चिम दिशा की ओर के विभाग में तमिस्रा नाम की गुफा है। प्रत्येक गुफा आठ योजन ऊँची, बारह योजन पहोली तथा पचास योजन लम्बी है। वे गुफाएँ सर्वदा अन्धकारमय हैं।

ऋषभ कूट :

हिमवन्त पर्वत के समीप दक्षिण दिशा में गंगानदी और सिन्धुनदी के बीच में ऋषभकूट नामक पर्वत है। उस पर ऋषभ नामक महर्षिक देव का निवास है।

तीर्थ :

जहाँ पर गंगा नदी का समुद्र के साथ संगम होता है, वहाँ पर मागध नामक तीर्थ है तथा जहाँ पर सिन्धु नदी का समुद्र के साथ संगम होता है, वहाँ पर प्रभास नामक तीर्थ है एवं मागध और प्रभास इन दोनों तीर्थों के बीच में वरदाम नामक तीर्थ है।

[यहाँ तीर्थ यानी समुद्र में उतरने का मार्ग जानना।]

बिल-गुफाएँ :

इस वैताढ्य पर्वत की दक्षिण दिशा में गंगा नदी और सिन्धु नदी के पूर्व तथा पश्चिम कांठे के ऊपर नौ-नौ बिल यानी गुफाएँ हैं। कुल छत्तीस (३६) बिल यानी गुफाएँ हैं। इसी तरह वैताढ्य पर्वत की उत्तर दिशा में भी छत्तीस (३६) बिल यानी गुफाएँ हैं। कुल बहत्तर (७२) बिल-गुफाएँ हैं। इन बिलों-गुफाओं में छठे आरे के मनुष्य बसते हैं। इस तरह भरतक्षेत्र का संक्षिप्त सामान्य वर्णन जानना।

लघु हिमवन्त पर्वत :

इस भरतक्षेत्र के पश्चात् हिमवन्त नामक पर्वत है। इस पर्वत के ऊपर पद्म नामक द्रह है। इस पद्मद्रह में पृथ्वीकाय का बना हुआ महापद्म यानी महाकमल है। इस महाकमल की कर्णिका में लक्ष्मीदेवी का भवन है। उसमें लक्ष्मीदेवी रहती है। उस पर ग्यारह (११) कूट यानी शिखर हैं। उसमें पहले सिद्धायतन नाम के कूट—शिखर में स्थित सिद्धमन्दिर में जिनेश्वर भगवान की अष्टोत्तर शत यानी १०८ मूर्तियाँ-प्रतिमाएँ हैं।

छप्पन अन्तर्द्वीप :

हिमवन्त पर्वत से गजदन्त के आकार की चार दाढ़ा निकलती हैं। उनमें से दो दाढ़ा इस पर्वत के पूर्व छेड़े (छोर) से निकलकर लवणसमुद्र में आती हैं, तथा दो दाढ़ा पर्वत के पश्चिम छेड़े (छोर) से निकलकर लवणसमुद्र में आती हैं। प्रत्येक दाढ़ा पर सात-सात द्वीप होने से कुल अट्ठावीस (२८) द्वीप हैं। इसी तरह अट्ठावीस द्वीप शिखरी नामक पर्वत से निकलती हुई चार दाढ़ाओं के ऊपर हैं। सब मिलकर कुल छप्पन (५६) द्वीप हैं। ये सभी द्वीप लवणसमुद्र के भीतर यानी अन्दर होने से अन्तर्द्वीप कहलाते हैं।

हैमवत क्षेत्र :

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र के पश्चात् हिमवन्त नामक पर्वत आता है। बाद में हैमवत नामक क्षेत्र आता है। उसके बराबर मध्य में वेंताद्वय पर्वत आया हुआ है। वह वृत्त यानी गोलाकार रूप होने से वृत्तवेंताद्वय कहा जाता है। उसके आसपास सुन्दर पद्मवेदिका और बगीचा है तथा उसके स्वामी देव का प्रासाद है।

हैमवत क्षेत्र में रोहिताशा और रोहिता ये दोनों नदियाँ हैं। उसमें रोहिताशा नदी पद्मद्रह में से उत्तर दिशा की तरफ निकलती है। यह नदी आगे जाकर हैमवन्त क्षेत्र के वृत्त वेंताद्वय पर्वत से दो गाँव दूर रहकर पश्चिम दिशा की तरफ मुड़कर के लवणसमुद्र में जा मिलती है। तथा रोहिता नदी महाहिमवन्त पर्वत के महापद्मद्रह में से निकल कर दक्षिणदिशा की तरफ बहती है। वह आगे जाती हुई वृत्तवेंताद्वयपर्वत से दो गाँव दूर रहकर पूर्व दिशा की तरफ मुड़ती हुई लवणसमुद्र में जाकर मिलती है।

महाहिमवन्त पर्वत :

हैमवत नामक क्षेत्र के पश्चात् उत्तरदिशा में महाहिमवन्त नामक पर्वत है। उसके ऊपर मध्यभाग में महापद्म नामक द्रह है। उसमें स्थित कमल की कर्णिका पर श्रीदेवी यानी लक्ष्मीदेवी का भवन है। तथा इस पर्वत के ऊपर पूर्व और पश्चिम की श्रेणी में आठ कूट-शिखर हैं। उनमें पहले सिद्धायतन कूट के ऊपर जिनेश्वर भगवान के मन्दिर-प्रासाद में १०८ जिनमूर्तियाँ-जिनप्रतिमाएँ हैं। शेष कूटों पर उनके स्वामी देवों और देवियों के प्रासाद हैं।

हरिखर्ष क्षेत्र :

महाहिमवन्त पर्वत के पश्चात् उत्तरदिशा में हरिखर्ष नाम का क्षेत्र आता है। उसके मध्य भाग में वृत्त वेंताद्वय नामक गोलाकार पर्वत है। इस क्षेत्र में हरिकान्ता और हरिसलिला नाम की

दो नदियाँ हैं। उनमें हरिकान्ता नदी महापद्मद्रह में से निकल कर उत्तरदिशा की तरफ बहती है, फिर आगे जाती वह क्षेत्र के वृत्त बैताढ्य से चार गाउ दूर रहकर के पश्चिमदिशा की तरफ मुड़कर लवण समुद्र में जा मिलती है। हरिसलिला नदी तिगिच्छ द्रह में से दक्षिण दिशा की तरफ निकलती है। आगे जाती वह नदी वृत्त बैताढ्य से चार गाउ दूर रहकर पूर्वदिशा की तरफ मुड़कर लवणसमुद्र में मिलती है।

निषध पर्वत :

हरिवर्ष क्षेत्र के पश्चात् उत्तरदिशा की तरफ निषधपर्वत आता है। उसके मध्य भाग में तिगिच्छ नामक द्रह है। उसमें आये हुए कमल की कणिका पर धोदेवी का भवन है। इस पर्वत के ऊपर पूर्व-पश्चिम श्रेणी में श्रेणिबद्ध ती कूट हैं। उनमें प्रथम कूट के ऊपर स्थित जिनप्रासाद में १०८ जिनमूर्तियाँ-प्रतिमाएँ हैं। शेष कूटों पर उनके स्वामी देवों और देवियों के प्रासाद हैं।

महाविदेह क्षेत्र :

निषध पर्वत के पश्चात् उत्तरदिशा में महाविदेहक्षेत्र है। उसके पूर्वमहाविदेह, पश्चिम महाविदेह, देवकुरु तथा उत्तरकुरु इस तरह चार विभाग हैं। मेरुपर्वत से पूर्व दिशा में पूर्व महाविदेह क्षेत्र है, पश्चिमदिशा में पश्चिम महाविदेहक्षेत्र है, दक्षिण दिशा में देवकुरुक्षेत्र है, तथा उत्तरदिशा में उत्तरकुरुक्षेत्र है। शीता नदी से पूर्वमहाविदेहक्षेत्र के तथा शीतोदानदी से पश्चिममहाविदेहक्षेत्र के दो विभाग पड़ते हैं। इन दोनों नदियों के दोनों तरफ आठ-आठ विजय हैं। उनके कुल बत्तीस विजय हैं। एक-एक विजय के बीच में क्रमशः एक पर्वत और एक नदी आती है। जैसे—पहले विजय, पश्चात् पर्वत, पीछे विजय, बाद में नदी। पश्चाद् विजय, पीछे पर्वत, पश्चाद् विजय, बाद में नदी। इनमें आठ विजय के सात अन्तराल होते हैं। अर्थात्—आठ विजय के बीच में चार पर्वत तथा तीन नदियाँ आती हैं। प्रत्येक विजय में षट् यानी छह खण्ड, गुफाएँ, नदियाँ, बिल, पर्वत, तीर्थ, तथा द्रह इत्यादि आते हैं। उनका वर्णन भरतक्षेत्र के अनुसार जानना।

देवकुरु क्षेत्र में निषध पर्वत से उत्तर दिशा में शीतोदा नदी के पश्चिम और पूर्व के किनारे पर क्रमशः चित्र तथा विचित्र नामके दो कूट हैं।

उत्तरकुरुक्षेत्र में नीलवन्त पर्वत से दक्षिण दिशा में शीता नदी के पूर्व और पश्चिम किनारे पर दो यमक पर्वत हैं।

देवकुरुक्षेत्र में चित्रकूट से उत्तरदिशा में शीतोदा नदी के अन्दर एक सदृश अन्तर वाले अनुक्रम से पाँच द्रह हैं। इन सभी द्रहों की पूर्व और पश्चिमदिशा में काञ्चन नाम के दस-दस पर्वत हैं। कुल सौ (१००) पर्वत हैं। इसी तरह विचित्रकूट की उत्तरदिशा में पाँच द्रहों में से प्रत्येक द्रह के दस-दस पर्वत हैं। इस तरह उत्तरकुरुक्षेत्र में यमक पर्वत की दक्षिणदिशा में शीता नदी में पाँच द्रह और प्रत्येक द्रह की पूर्व तथा पश्चिमदिशा में दस-दस काञ्चन पर्वत हैं। इस प्रकार कुल चार सौ (४००) काञ्चन पर्वत हैं।

शेष पर्वत तथा क्षेत्र :

महाविदेहक्षेत्र के पश्चाद् उत्तरदिशा में क्रमशः नीलवन्त पर्वत, रम्यक्षेत्र, रुक्मि पर्वत, हिरण्यवतक्षेत्र, शिखरी पर्वत तथा ऐरावत क्षेत्र हैं। उन सबका वर्णन क्रमशः निषध पर्वत, हरिवर्ष क्षेत्र, महाहिमवन्त पर्वत, हैमवत क्षेत्र, लघु हिमवन्त पर्वत तथा भरतक्षेत्र के सदृश जानना। किन्तु द्रहों इत्यादिक के नामों में परिवर्तन समझना।

॥ विशेष—

जम्बूद्वीप में भरतादिक मुख्य सात क्षेत्र हैं। इन सातों क्षेत्रों को पृथक् करने के लिए छह पर्वत हैं। वे वर्षधर कहलाते हैं। इनकी लम्बाई पूर्व से पश्चिम की ओर है। भरतक्षेत्र और हैमवतक्षेत्र के मध्यवर्ती हिमवान पर्वत है, हैमवतक्षेत्र और हरिवर्षक्षेत्र के मध्यवर्ती महाहिमवान पर्वत है, हरिवर्षक्षेत्र और विदेहक्षेत्र के मध्यवर्ती निषध पर्वत है, विदेहक्षेत्र और रम्यक्षेत्र के मध्यवर्ती नीलपर्वत है, रम्यक्षेत्र और हिरण्यवतक्षेत्र के मध्यवर्ती रुक्मि पर्वत है, तथा हिरण्यवतक्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र के मध्यवर्ती शिखरी पर्वत है। इन पर्वतों से सात क्षेत्र विभाजित माने गये हैं। इसलिए ये पर्वत उन क्षेत्रों के मध्यवर्ती हैं।

ऊपर विदेहक्षेत्र के मध्य में स्थित मेरुपर्वत का संक्षिप्त वर्णन किया है। इसी तरह जम्बूद्वीप के समान धातकीखण्ड तथा पुष्करार्धद्वीप के मध्य में भी मेरुपर्वत है। परन्तु जम्बूद्वीप से धातकीखण्ड तथा पुष्करार्धद्वीप का प्रमाण दूना है। अतएव इन दोनों द्वीपों में विदेहक्षेत्र भी दो-दो हैं। इसलिए इन चार विदेहक्षेत्रों के मेरुपर्वत भी चार हैं। इन चारों मेरुपर्वतों का प्रमाण जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत के तुल्य नहीं है, किन्तु न्यून-कम है। धातकीखण्ड में दो तथा पुष्करार्ध में दो इस तरह ये चारों मेरु क्षुद्रमेरु कहे जाते हैं। कारण कि इनका प्रमाण महामेरु—जम्बूद्वीप के मध्यवर्ती सुदर्शनमेरुपर्वत से न्यून-कम होते हुए भी इन चारों मेरुओं का प्रमाण परस्पर में समान ही है। इनकी ऊँचाई चौरासी हजार (८४०००) योजन की है।

पृथ्वीतल का इनका विष्कम्भ ६४०० योजन है। चारों क्षुद्र मेरुपर्वतों के पृथ्वी के भीतर का अवगाह महामेरुपर्वत के समान एक हजार योजन है। वह पहला काण्डक है। दूसरा काण्डक ५६ हजार योजन का है। तीसरा काण्डक २८ हजार योजन का है। भद्रशालवन और नन्दनवन महामेरुपर्वत के समान हैं। इन चारों क्षुद्रमेरुपर्वतों के नीचे के विभागों में चारों तरफ पृथ्वी के ऊपर महामेरुपर्वत के समान भद्रशालवन है। उससे साढ़े छप्पन हजार योजन ऊपर चलकर सौमनसवन आता है। उससे २८००० हजार योजन के ऊपर चलकर पाण्डुकवन आता है। सौमनसवन का विस्तार ५०० योजन का है तथा पाण्डुकवन का विस्तार ४६४ योजन का है। इसके अलावा ऊपर का, नीचे का तथा चूलिका का प्रमाण महामेरुपर्वत के समान ही समझना ॥ (३-११)

❀ धातकीखण्डस्तथा पुष्कराद्वीपः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

द्विधातकीखण्डे ॥ ३-१२ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

जम्बूद्वीपे यत् मेरुपर्वतादीनां वर्णनं कृतं तस्माद् द्विगुणा धातकीखण्डे द्वाभ्यामिष्वा-
कारपर्वताभ्यां दक्षिणोत्तरायताभ्यां विभक्ताः सन्ति । एभिः निमित्तैः धातकीखण्डस्य
द्वौ विभागौ जायेते । तौ च पूर्वार्द्ध-पश्चिमाद्धौ । पूर्वार्धे परार्धे च चकार संस्थिता
निषधसमोच्छ्रयाः कालोद-लवणजलस्पर्शनो वंशधराः सेष्वाकाराः । अनेनैव हेतुना
धातकीखण्डस्य द्वौ विभागौ पूर्वार्द्ध-परार्द्धनामभ्याम् । द्वयोः खण्डयोः भरतक्षेत्ररचना
वर्तते । अतः जम्बूद्वीपापेक्षया भरतक्षेत्रप्रमाणं द्विगुणितम् । धातकीखण्डस्याकृति
शकटीरथवच्चाभवत् । यस्यां अरस्थाने पर्वताः तथा चारमध्यवर्तीच्छिद्रस्थानेषु
क्षेत्राणि । अत्र च वर्षधरपर्वताः चतुःशत (४००) योजनप्रमाणानि । यादृशी
रचना च धातकीखण्डे तादृश्यैव पुष्करार्धेऽपि वर्तते ॥ ३-१२ ॥

❀ सूत्रार्थ—उक्त क्षेत्र तथा पर्वतादिक जम्बूद्वीप से दुगुने धातकीखण्ड में हैं ।
अर्थात्—जम्बूद्वीप के पर्वतों और क्षेत्रों से धातकीखण्ड के पर्वत तथा क्षेत्र द्विगुण संख्या
वाले हैं ॥ ३-१२ ॥

卐 विवेचनान्त 卐

जम्बूद्वीप को घेरे हुए लवणसमुद्र है तथा लवणसमुद्र को घेरे हुए धातकीखण्ड है । यह
दूसरा द्वीप कहा जाता है, इसका विष्कम्भ चार लाख योजन का है । जैसे—जम्बू वृक्ष के निमित्त
से पहले द्वीप की जम्बूद्वीप संज्ञा है, वैसे धातकी वृक्ष के निमित्त से इस द्वीप की भी धातकीखण्ड संज्ञा
है । यहाँ पर भरताधिक क्षेत्रों की, हिमवन्तादिक पर्वतों की तथा समुद्रादिक की संख्या जम्बूद्वीप
से दुगुनी है ।

जम्बूद्वीप की अपेक्षा धातकीखण्ड में मेरुपर्वत और वर्षधर दुगुने हैं । जम्बूद्वीप में एक
भरत है, तो यहाँ पर दो हैं, इत्यादि सर्वक्षेत्र और पर्वतादिक दुगुने जानने चाहिए । अर्थात् दो
मेरु, चौदह वर्षक्षेत्र तथा बारह वर्षधर पर्वत समान नामवाले हैं । जो नाम जम्बूद्वीप के पर्वत-क्षेत्रों
के हैं, वे ही नाम यहाँ धातकीखण्ड के पर्वत-क्षेत्रों के हैं ।

वलयाकृत धातकीखण्ड के पूर्वार्द्ध और पश्चिमाद्ध इस तरह दो विभाग हैं । इनमें प्रत्येक
विभाग में एक-एक मेरु, सात-सात वर्षक्षेत्र तथा छह-छह वर्षधर पर्वत हैं । उक्त दोनों विभागों के

मध्य में उत्तर-दक्षिण विस्तार वाले तथा बाण के समान सीधे दो पर्वत हैं । उसी से दो विभागों की कल्पना होती है । उन दो विभागों में पूर्व और पश्चिम दिशा के विस्तार वाले छह-छह वर्षधर पर्वत एवं सात-सात वर्षक्षेत्र हैं । उनके मध्य में एक-एक मेरुपर्वत है । इस पर्वत का अन्दर का भाग लवणसमुद्र तथा बाहर का भाग कालोदधि समुद्र से स्पर्शित रहता है । छह-छह वर्षधर पर्वत शकट-गाड़ी के पहियों में लगे हुए आरों के सरीखे-समान हैं । तथा मध्य भाग में भरतादिक सात क्षेत्र हैं ।

इस सूत्र का सारांश यह है कि जम्बूद्वीप में जिन-जिन नाम वाले क्षेत्र और पर्वत आये हैं, उन-उन नाम वाले क्षेत्र तथा पर्वत धातकीखण्ड में भी आये हुए हैं । परन्तु प्रत्येक क्षेत्र तथा प्रत्येक पर्वत दो-दो हैं । जैसे—दो भरत, दो हैमवत, दो हरिवर्ष, दो महाविदेह, दो रम्यक, दो हरण्यवत, दो ऐरावत, इस तरह दो-दो क्षेत्र हैं । इसी तरह पर्वत भी दो-दो हैं । इस प्रकार धातकीखण्ड द्वीप में क्षेत्रों तथा पर्वतों की संख्या कही है ॥ (३-१२)

५ मूलसूत्रम्—

पुष्करार्धे च ॥ ३-१३ ॥

ॐ सुबोधिका टीका ॐ

यः धातकीखण्डे मन्दरादीनां सेष्वाकारपर्वतानां संख्याविषयनियमः सः पुष्करार्द्धेऽपि वेदितव्यः । पुष्करार्धेऽपि इष्वाकारपर्वतौ । यौ च दक्षिणोत्तरे आयतौ कालोदधि-पुष्करावरसमुद्रजलस्पर्शीपञ्चशतयोजनोत्तुंगौ । अनेनैव पुष्करार्धस्यापि पूर्व-पुष्करार्ध-पश्चिमपुष्करार्धेति द्वौ विभागी ।

ततः परं मानुषोत्तरो नाम पर्वतः मानुषलोकपरिक्षेपी सुनगरप्राकारवृत्तः पुष्करवर, द्वीपार्धविनिविष्टः स्वर्णमयः सप्तदशैकविंशतियोजनशतानि उच्छ्रितः चत्वारिंशानि क्रोशं चाधो धरणीतलमवगाढो योजनसहस्रं द्वाविंशमधस्तात् विस्तृतः सप्तशतानि त्रयोविंशानि मध्ये चत्वारि चतुर्विंशानि उपरीति ।

एष पर्वतः मानुषोत्तरेति नाम्ना किमर्थं व्यवहृतः ? मानुषोत्तरपर्वतात् परे कोऽपि अद्यप्रभृति नैवोत्पन्नः जातः । न च भविष्यतीति संहरणापेक्षयाऽपि मानुषोत्तरे परे न कोऽपि मनुष्यः लभ्यते । चारणविद्याधराश्च ऋद्धिप्राप्ताः अपि मनुष्याः संहरणाहीनाः । अर्थात् समुद्रधातोपपातातिरिक्तः मानुषोत्तरपरं मनुष्यजन्मासम्भवः । अत एव च मानुषोत्तर इत्युच्यते । हरणं कृत्वा नीयते यत् संहरणम् । संहरणमपि श्रमणी, वेदरहितः, परिहारविशुद्धिसंयमितः, पुलाकः, अप्रमत्तः, चतुर्दशपूर्वधारकः,

तथा आहारक-ऋद्धिधारकः, तेषां मुनीनां नैव भवति । आगम-सिद्धान्तेषु निर्दिष्ट-
मिदमेव । तदेवमवर्गं मानुषोत्तरस्थार्धतृतीया द्वीपाः समुद्रद्वयं पञ्चमन्दराः पञ्चत्रिंशत्
क्षेत्राणि त्रिंशद् वर्षधरपर्वताः पञ्चदेवकुरवः पञ्चोत्तराः कुरवः शतं षष्ट्याधिकं
चक्रवर्तिविजयानां द्वे शते पञ्चपञ्चाशदधिके जनपदानामन्तरद्वीपाः षट्पञ्चाशद्
इति । अन्यच्च मानुषोत्तरप्राप्तिपूर्वमेव साधारणमनुष्याणां मरणं भवति ॥ ३-१३ ॥

❀ सूत्रार्थ—धातकीखण्ड के समान ही क्षेत्र और पर्वतादिक पुष्करार्धद्वीप में हैं ।
अर्थात्—पुष्करार्धद्वीप में भी पर्वत और क्षेत्र धातकीखण्ड के समान ही हैं ॥ ३-१३ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

धातकीखण्ड की तथा पुष्करार्ध की रचना समान है । धातकीखण्ड के ही तुल्य पुष्करार्ध
में भी दो इष्वाकार पर्वत हैं । ये दक्षिण और उत्तरदिशा में लम्बे हैं, कालोदधि तथा पुष्करवर
समुद्र के जल का स्पर्श करने वाले हैं एवं पाँच सौ (५००) योजन ऊँचे हैं । पुष्करार्ध के भी दो
भाग हैं । पूर्व पुष्करार्ध और पश्चिम पुष्करार्ध । धातकीखण्ड के तुल्य इनमें भी रचना है ।
जम्बूद्वीप की अपेक्षा यहाँ पर भी क्षेत्रों तथा पर्वतों की संख्या दुगुनी होती है । जैसे—जम्बूद्वीप में
एक भरतक्षेत्र है, तो पुष्करार्ध में दो भरतक्षेत्र हैं । उसमें एक पूर्व पुष्करार्ध में है तथा दूसरा
पश्चिम पुष्करार्ध में है । इसी तरह अन्य क्षेत्रों का तथा पर्वतों का प्रमाण भी जानना ।

धातकीखण्ड के समान यहाँ पर भी दो मेरुपर्वत हैं, जो चौरासी-चौरासी हजार
(८४०००) योजन ऊँचे हैं । वंशधर पर्वत भी चार-चार सौ (४००) योजन ऊँचे हैं । यहाँ सब
धातकीखण्ड के समान ही समझना । कालोदधिसमुद्र को चारों ओर से घेरे हुए पुष्करवर नामका
द्वीप है । इसके मध्य भाग में मानुषोत्तर नाम का एक पर्वत है, जो कंकण के समान गोल है ।
इसने चारों तरफ सम्पूर्ण दिशाओं में पड़े हुए मनुष्यक्षेत्र को घेर रखा है । यह स्वर्णमय मानुषोत्तर
पर्वत सत्रह सौ इक्कीस (१७२१) योजन ऊँचा है, तथा भूभाग में चार सौ तीस (४३०) योजन
एक कोस प्रविष्ट रहा है । इस पृथ्वी पर इसका विस्तार एक हजार बाईस (१०२२) योजन तथा
मध्य से सात सौ तेईस (७२३) योजन और ऊपर चलकर चार सौ चौबीस (४२४) योजन है ।
मनुष्यक्षेत्र के भीतर की तरफ का आकार सपाट दीवार के सदृश है, तथा बाहर की तरफ का आकार
आधी नारङ्गी के तुल्य ढलवाँ होता है । इसीलिए इस निमित्त से ही पुष्करवर द्वीप के दो विभाग
हो गये हैं ।

इस सूत्र का सारांश यह है कि—पुष्करवरद्वीप के मध्य भाग में मानुषोत्तर पर्वत आया है ।
यह किले की भाँति बलयाकार-गोल है । इसीलिए पुष्करवरद्वीप के दो विभाग पड़ जाते हैं । इस
द्वीप का विस्तार कुल सोलह लाख (१६०००००) योजन का है । इसके दो विभाग हो जाने से
प्रथम विभाग आठ लाख (८,००,०००) योजन का है और दूसरा विभाग भी आठ लाख
(८,००,०००) योजन प्रमाण का है । इन दो विभागों में से प्रथम अर्धविभाग में ही क्षेत्र और
पर्वत हैं ।

धातकीखण्ड में जितने क्षेत्र तथा पर्वत हैं, इतने ही क्षेत्र तथा पर्वत पुष्करवरद्वीप के अर्ध विभाग में हैं। इसलिए ही इस सूत्र में धातकीखण्ड के समान पुष्करवर द्वीप के अर्धविभाग में क्षेत्र और पर्वत जम्बूद्वीप से दुगुने हैं, ऐसा कहा है तथा धातकीखण्ड में क्षेत्र और पर्वत भी दो-दो हैं, यह बात भी विवेचनपूर्वक पूर्व में कह दी है। मेरु, वर्ष और वर्षधरों की संख्या और रचना जो धातकीखण्ड की कही है, वही पुष्करार्ध द्वीप की है।

एक जम्बूद्वीप, एक धातकीखण्ड और अर्द्ध पुष्करवरद्वीप, ये सब मिलकर अढ़ाई द्वीप कहलाते हैं। इनमें कुल पाँच मेरु पर्वत, तीस वर्षधर पर्वत और पैंतीस वर्ष/क्षेत्र हैं। इनमें पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच महाविदेह मिलकर पन्द्रह कर्मभूमि कहलाती हैं। यहाँ पर असि, मसि और कृषि इत्यादि कर्म का व्यापार होता है। या कर्मरूपी मल को सर्वथा दूर करके मुक्तिधाम प्राप्त करने के लिए यही योग्य भूमि है। क्योंकि अन्य स्थलों से मुक्ति का अभाव है, इसलिए कर्मों से सर्वथा मुक्त होने के लिए यही कर्मभूमि कहलाती है।

उक्त पैंतीस क्षेत्रों के पाँच महाविदेह क्षेत्रों में पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु तथा एक सौ साठ (१६०) विजय हैं। छप्पन अन्तर्द्वीप केवल लवणसमुद्र में ही हैं। पुष्करवर द्वीप में मानुषोत्तर पर्वत है, जो पुष्करवर द्वीप के मध्य में किले की भाँति गोलाकार खड़ा है, तथा मनुष्यलोक को घेरे हुए है। जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और आधा पुष्करवर द्वीप ये ढाई द्वीप तथा लवणसमुद्र एवं कालोदधि समुद्र, बस इतना ही क्षेत्र यही 'मनुष्यलोक' कहलाता है।

प्रश्न—उक्त क्षेत्र का नाम मनुष्यलोक और उक्त पर्वत का नाम मानुषोत्तर क्यों है ?

उत्तर—इसका कारण यह है कि—इससे आगे कोई भी मनुष्य गमन नहीं कर सकता। इस मानुषोत्तर पर्वत से आगे आज तक कोई भी मनुष्य न तो उत्पन्न हुआ है, न उत्पन्न होता है और न उत्पन्न होगा। इससे बाहर मनुष्य का जन्म-मरण नहीं होता। विद्यासम्पन्न मुनि या वैक्रिय लब्धिधारी मनुष्य ही ढाई द्वीप के बाहर जा सकते हैं, किन्तु उनका भी जन्म-मरण मानुषोत्तर पर्वत के भीतर अन्दर ही होता है। अतएव उक्त क्षेत्र का नाम मनुष्यलोक है तथा उक्त पर्वत का भी नाम मानुषोत्तर है। इस तरह मानुषोत्तर पर्वत के पहले ढाई द्वीप, दो समुद्र, पाँच मेरु, पैंतीस क्षेत्र, तीस वर्षधर पर्वत, पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु, चक्रवर्तियों के एक सौ साठ विजयक्षेत्र, दो सौ पचपन जनपद और छप्पन अन्तर्द्वीप हैं। वे मनुष्य कौनसे हैं ? और कहाँ रहते हैं ? इसी को दिखाने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं। (३-१३)

❀ मनुष्याणां स्थिति-क्षेत्रादयः ❀

॥ मूलसूत्रम्—

प्राग् मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३-१४ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

उपर्युक्तमानुषोत्तरपर्वतपूर्वे प्राग् वा मानुषोत्तरात् पर्वतात् पञ्चत्रिंशत्सु क्षेत्रेषु सान्तरद्वीपेषु जन्मतो मनुष्याः उद्भवन्ति। संहरणविद्यद्वियोगात् तु सर्वेष्वर्धतृतीयेषु

द्वीपेषु समुद्रद्वये च समन्दरशिखरेषु । भारतका हैमवतका इत्येवमादयः क्षेत्रविभागेन । जम्बूद्वीपका लवणका इत्येवमादयः द्वीप-समुद्रविभागेन इति ।

के मनुष्याः ? मनुष्यायुष्य-गतिनामकर्मणि संजातोदये जन्मधारिणः जीवाः मनुष्याः । अतः मनुष्यपर्यायः जन्मापेक्षया न तु केनापि अन्येन हेतुना । मनुष्यजन्म मानुषोत्तरपर्वतान्तरक्षेत्रेषु एव, न तु बहिः ।

के च ते मनुष्याः कति वा प्रकाराः ?

तत्तु कथ्यतेऽत्र अग्निसूत्रे हि ॥ ३-१४ ॥

❀ सूत्रार्थ—मानुषोत्तर पर्वत के पूर्वी भाग में जो द्वीप हैं, उनमें मनुष्य रहते हैं । अर्थात्—मानुषोत्तर पर्वत के भीतर के क्षेत्र में ही मनुष्यों का जन्म-मरण होता है ॥ ३-१४ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

विश्व में मनुष्यायुष्य और मनुष्यगति नामकर्म के उदय से जो जीव मनुष्यरूप में जन्म धारण करता है, उसे मनुष्य कहते हैं । इसलिए यह मनुष्य पर्याय जन्म की अपेक्षा ही कही जाती है, न कि अन्य किसी कारण से । पुष्करवर द्वीप में जो मानुषोत्तर नामक पर्वत है, वह चूड़ी के आकार गोल तथा पुष्करवर द्वीप के मध्य शहर पनाह के समान घिरा हुआ है । इसी कारण द्वीप के दो विभाग हो गये हैं । मनुष्यजन्म मानुषोत्तर पर्वत के भीतर के क्षेत्र में ही होता है, बाहर नहीं । मनुष्यों का निवास-स्थान होने के कारण ही इस पर्वत का नाम मानुषोत्तर रखा है ।

इसके भीतरी विभास में अर्द्ध पुष्करवर द्वीप, कालोदधि समुद्र, धातकीखण्ड, लवण समुद्र, और जम्बूद्वीप, क्रमशः—यथाक्रम से हैं । इन क्षेत्रों में मनुष्यों का जन्म तथा मरण होता है । इसलिए इसे मनुष्यलोक कहते हैं । इसकी सीमा-मर्यादा रखने वाला मानुषोत्तर पर्वत है । इस पर्वत के परे जितने क्षेत्र आये हैं, उनमें मनुष्यों का जन्म या मरण दोनों में से एक भी नहीं होता है । वहाँ पर तो सिर्फ विद्यासम्पन्न मुनियों का और वैक्रियलब्धि वाले मनुष्यों का ही आवागमन होता है । किन्तु उनका जन्म या मरण कभी नहीं होता है । नियमात् उनके जन्म-मरण का स्थान मनुष्यलोक ही है ।

इस सूत्र का सारांश यह है कि—मानुषोत्तर पर्वत के पहले मनुष्यों का वास है । विश्व में भले द्वीप और समुद्र असंख्य हों, किन्तु जन्म से मनुष्यों के निवास मानुषोत्तर पर्वत के पहले जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करवर का अर्ध भाग मिलकर ढाई द्वीप में ही हैं । तथा तिर्यक् प्राणियों का वास ढाई द्वीप उपरान्त बाहर के प्रत्येक द्वीप-समुद्र में भी है ।

ढाई द्वीप के बाहर मनुष्यों का गमनागमन होता है। जैसे—विद्याधर और चारण मुनि नन्दीश्वरद्वीप तक जाते हैं। किसी के द्वारा अपहरण से भी मनुष्य ढाई द्वीप के बाहर ले जाये जाते हैं। किन्तु वहाँ पर कभी मनुष्य का जन्म या मरण नहीं होता है। इसलिए पुष्करवर के अर्ध भाग के बाद आये हुए बलयाकार पर्वत का नाम मानुषोत्तर पर्वत है। यहाँ पर विशेष यह है कि व्यवहार सिद्ध काल, अग्नि, चन्द्र और सूर्यादि का परिभ्रमण, उत्पातसूचक गान्धर्वनगर इत्यादिक चिह्न प्रमुख पदार्थ इस ढाई द्वीप के बाहर नहीं होते हैं। (३-१४)

❀ मनुष्यस्य भेदाः ❀

५ मूलसूत्रम्—

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३-१५ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

मूलरूपेण मनुष्याः द्विविधाः। ते आर्य-म्लेच्छभेदैः विभक्ताः। तत्र आर्याः षड्विधाः। तथाहि—क्षेत्रार्याः, जात्यार्याः, कुलार्याः, कर्मार्याः, शिल्पार्याः, भाषार्या-श्चेति। तत्र क्षेत्रार्याः पञ्चदशसु भूमिषु जाताः। तथा च भरतेषु अर्धषड्विंशतिषु जनपदेषु जाताः। अन्येषु शेषेषु च चक्रवर्त्तिविजयेषु।

जात्यार्याः—यथा क्षत्रियवंशेषु इक्ष्वाकुवंशधारिणः क्षत्रियाः। विदेहा हरयोम्बष्ठाः ज्ञाताः कुरवो वुंवुनाला उग्रा भोगा राजन्यादयः। क्वचित् भोगस्थाने भोजाः अपि। कुलापेक्षया ये आर्याः जाताः ते कुलार्याः। कुलार्याः कुलकराश्चक्रवर्त्तिनः बलदेवा वासुदेवा ये चान्ये आतृतीयादा पञ्चमादा सप्तमाद् वा कुलकरेभ्यो वा विशुद्धान्वयाः ये विशुद्धवेशप्रकृतिधारिणः सन्ति। अनाचार्यकमपिक्षया ये चार्याः ते कर्मार्याः। यथा यजन-याजन-अध्ययन-अध्यापनप्रयोग-कृषि-लिपि-वाणिज्ययोनिपोषणः वृत्तयः।

शिल्पार्याः—तन्तुवाय-कुलाल-नापित - तुन्नवाय - देवटादयोऽल्पसावद्या अगहिताः जीवाः।

भाषार्याः—नाम ये शिष्टभाषानियतवर्णं लोकरूढस्पष्टशब्दं पञ्चविधानामपि आर्याणां संव्यवहारं भाषन्ते।

अनाचार्यकमपिक्षया कर्मार्याः शिल्पार्येभ्यः एते अल्पसावद्याः। अत एते आजीवनागहिताः।

सारांशतः मनुष्याः द्विविधाः, आर्याः म्लेच्छाश्च । गुणाश्रयाः आर्याः, ये च पञ्चविंशजनपदेषु जायन्ते प्रायः तैवार्याः । षड्विधार्याः, अतः क्षेत्रजातिकुलकर्मशिल्प-भाषापेक्षया दर्शनज्ञानचारित्र्यविषये येषामाचरणं शीलशिष्टैः अभिमतं न्यायधर्मेणाविरुद्धं ते च आर्याः । येषामाचरणं शीलञ्च आर्यविपरीतं ते अनार्याः ।

येषाञ्च भाषाव्यक्तानियमिता ते अनार्याः । आर्य-विपरीताचरणाः म्लेच्छाः म्लिशः वा । ते च शक-यवन-किरात-काम्बोज-बाल्हीकप्रभृतयः ।

हिमवतश्चतसृषु विदिक्षु त्रीणि योजनशतानि लवणसमुद्रमवगाह्य चतसृणां मनुष्यविजातीनां चत्वारोऽन्तरद्वीपा जायन्ते त्रियोजनशतविष्कम्भायामाः । ते च एकोरुकाणां आभाषकाणां लाङ्गुलीनां वैषाणिकाणामिति । चत्वारि योजनशतानि अवगाह्य चतुर्योजनशतायामविष्कम्भाः एवान्तरद्वीपाः । ते च हयकर्णानां गजकर्णानां गोकर्णानां शङ्कुलिकर्णानामिति । पञ्चशतानि अवगाह्य पञ्चयोजनशतायां आविष्कम्भाः एवान्तरद्वीपाः । तद्यथा—गजमुखानां व्याघ्रमुखानां आदर्शमुखानां गोमुखानामिति ।

एतेषु प्रदेशेषु जाताः म्लेच्छाः नामाकृतयः नैव भवन्ति, किन्तु स्वरूपसौन्दर्येण तु अतिशोभनाः सौन्दर्ययुक्ता गौराः भवन्ति । सर्वेषु अन्तरद्वीपेषु अपि एवमेव । षड्योजनशतान्यवगाह्य तावदायामविष्कम्भा एवान्तरीयाः द्वीपाः । ते च अश्वमुखानां हस्तिमुखानां सिंहमुखानां व्याघ्रमुखानामिति । सप्तयोजनशतान्यवगाह्य तावदायामविष्कम्भाः एवान्तरीयाः द्वीपाः । ते च अश्वकर्ण-सिंहकर्ण-हस्तिकर्ण-कर्णप्रावरणानामानः । अष्टौ योजनशतानि अवगाह्य अष्टयोजनशतायां आविष्कम्भाः एवान्तरीयाः द्वीपाः । तद्यथा—उल्कामुखविद्युज्जिह्वामेषमुखविद्युदन्तनामानः ।

नवयोजनशतायां आविष्कम्भाः एवान्तरीयाः द्वीपाः भवन्ति । ते च घनदन्त-गूढदन्त-विशिष्टदन्त-शुद्धदन्तनामानः ।

एकोरुकाणामेकद्वीपः । एवं शेषाणामपि शिखरिणोऽपि एवमेव । यथा हिमवतः अष्टाविंशति अन्तरीयाः तथैव शिखरीपर्वतस्यापि अष्टाविंशति अन्तरीयाः । सर्वे च एते षट्पञ्चाशत् सङ्ख्यकाः । एतेषु द्वीपेषु वास्तव्याः म्लेच्छाः अन्तर्द्वीपजाः म्लेच्छेति नामधेयानि ॥ ३-१५ ॥

ॐ सूत्रार्थ—वे मनुष्य आर्य और म्लेच्छ दो प्रकार के हैं । अर्थात्—आर्य और म्लेच्छ के भेद से मनुष्य दो प्रकार के हैं ॥ ३-१५ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

मनुष्यों के मुख्य दो भेद हैं । एक आर्य और दूसरे म्लेच्छ । आर्य यानी श्रेष्ठ । शिष्ट-लोक के अनुकूल जो आचरण करे वह आर्य कहलाता है । आर्य से विपरीत जो मनुष्य प्रतिकूल आचरण करे वह अनार्य-म्लेच्छ कहलाता है । निमित्त भेद से आर्य मनुष्यों के छह भेद हैं । जिनके नाम हैं—(१) क्षेत्रार्य, (२) जात्यार्य (जाति आर्य), (३) कुलार्य, (४) कर्मार्य, (५) शिल्पार्य तथा (६) भाषार्य ।

(१) क्षेत्रार्य—पन्द्रह प्रकार की कर्मभूमि में भरत, ऐरावत के २५५ देश, तथा पाँच महा-विदेह के १६० चक्रवर्ती विजय-ये सब आर्य संज्ञक देश कहे जाते हैं । इन क्षेत्रों में जन्म पाये हुए मनुष्यों को क्षेत्रार्य कहते हैं । अर्थात्—प्रत्येक महाविदेह के ३२ चक्रवर्ती विजय, प्रत्येक भरत के साढ़े पच्चीस देश तथा प्रत्येक ऐरावत के भी साढ़े पच्चीस देश आर्य हैं । इसलिए इन क्षेत्रों में जन्मे हुए मनुष्य क्षेत्र आर्य यानी क्षेत्रार्य कहलाते हैं ।

(२) जात्यार्य—इक्ष्वाकु, विदेह, हरि, अम्बष्ठ, जात, कुरु, बुंबुनाल, उग्र, भोग तथा राजन्य इत्यादि उत्तम वंशों में उत्पन्न हुए मनुष्य जाति आर्य हैं, उनको जात्यार्य कहते हैं ।

(३) कुलार्य—कुल की अपेक्षा जो आर्य हैं, उन्हें कुलार्य कहते हैं । जैसे—कुलकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव इत्यादि उत्तम कुलों में उत्पन्न हुए मनुष्य कुल आर्य हैं, उन्हें कुलार्य कहते हैं ।

(४) कर्मार्य—कर्म यानी धंधा-व्यापार जो अनाचार्यक कर्म की अपेक्षा से आर्य हैं । अर्थात्—ग्रहण पाप वाले धंधे-व्यापार करने वाले मनुष्य कर्म आर्य हैं । उनको कर्मार्य कहते हैं । जैसे—यजन, याजन, अध्यायन, अध्यापन का प्रयोग कर्म करने वाले, तथा कृषि (खेती), लिपि (लेखन), वाणिज्य (व्यापार) की मूलरूप पोषणवृत्ति से प्रजा का पोषण करने वाले हैं । अर्थात् व्यापारी, खेडूत, सुथार, तथा अध्यापक इत्यादि कर्म आर्य हैं । उनको कर्मार्य कहते हैं ।

(५) शिल्पार्य—शिल्प यानी कारीगरी । कारीगरी के कर्म करने की अपेक्षा से जो आर्य हैं । अर्थात्—मानवजीवन में जरूरी कारीगरी करने वाले मनुष्य शिल्प आर्य हैं, उन्हें शिल्पार्य कहते हैं । जैसे—तन्तुवाय-बुनकर (वंस्त्र बुनने वाले), कुलाल-कुंभकार (कुंभार), नापित-नाई (हज्जाम), तुन्नवाय (सूत कातने वाले) तथा देवत इत्यादि ।

(६) भाषार्य—शब्द व्यवहार की अपेक्षा जो आर्य हैं, उनको भाषार्य कहते हैं । अर्थात् शिष्टपुरुषों के मान्य, उत्तम व्यवस्थित शब्दों से युक्त, तथा स्पष्ट उच्चार वाली, ऐसी शिष्ट भाषा जो बोले वे मनुष्य भाषा आर्य हैं । जैसे—श्रुतकेवली श्रीगणधरादिक शिष्ट-विशिष्ट-सर्वातिशय सम्पन्न व्यक्तियों के बोलने की जो संस्कृत या प्राकृत-अर्धमागधी इत्यादि भाषाएँ हैं, उनकी जिसमें मुख्यता पाई जाती है, तथा लोक में जो प्रत्यन्त प्रसिद्ध हैं, एवं स्फुट-बाल-भाषा के सदृश व्यवहार

में अव्यक्त नहीं हैं, इस प्रकार शब्दों का व्यवहार जिनमें पाया जाता है। ऐसे उक्त पाँच प्रकार के आर्य पुरुषों के बोलने की भाषा का जो व्यवहार करते हैं; उनको भाषार्थ कहना चाहिए तथा उसी तरह समझना भी चाहिए।

❀ म्लेच्छः—क्षेत्र, जाति, कुल, कर्म, शिल्प तथा भाषा इनकी अपेक्षा दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य के विषय में जिनका आचरण और शील शिष्ट लोकों के द्वारा सम्मत तथा न्याय और धर्म से अविरोध रहा करता है, उनको आर्य कहा जाता है। इनसे विपरीत को 'म्लेच्छ' कहते हैं। अर्थात्—जिनका आचरण और शील इससे विपरीत है, तथा जिनकी भाषा और चेष्टा भी अव्यक्त एवं अनियत है, उसको म्लेच्छ समझना चाहिए। इनके अनेक भेद हैं। जैसे—शक, यवन, किरात, काम्बोज तथा बालहीक इत्यादि। इनके अलावा अन्तरद्वीपों में जो रहते हैं, वे म्लेच्छ ही हैं। क्योंकि उनके क्षेत्रादिक उपर्युक्त क्षेत्रादिकों से भिन्न हैं। लवणसमुद्र के भीतर तीन सौ योजन से लेकर नौ सौ योजन तक चलकर सात अन्तरद्वीप हैं, जो हिमवान् पर्वत की पूर्व तथा पश्चिम की चारों विदिशाओं के मिलाकर अष्टादश होते हैं।

जिस तरह हिमवान् पर्वत सम्बन्धी अष्टादश अन्तरद्वीप हैं, उसी तरह शिखरी पर्वत सम्बन्धी भी अष्टादश अन्तरद्वीप हैं। कुल मिलाकर छप्पन अन्तरद्वीप होते हैं। इन समस्त द्वीपों में रहने वाले मनुष्य अन्तर्द्वीपज म्लेच्छ ही कहे जाते हैं। कर्मभूमि में यवन, शक, भील इत्यादि जाति के मनुष्य तथा अ-कर्मभूमि के सभी मनुष्य म्लेच्छ हैं ॥ (३-१५)

❀ कर्मभूमेः निर्देशः ❀

॥ मूलसूत्रम्—

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्रदेवकुरुत्तरकुरुभ्यः ॥ ३-१६ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

भरतैरावतविदेहाः पञ्चदशकर्मभूमयो मनुष्यक्षेत्रे भवन्ति। अन्यत्र देवकुरुत्तर-कुरुभ्यः। पञ्चमेर्वधिष्ठितपञ्चत्वारिंशत्लक्षणयोजनविस्तृतमनुष्यक्षेत्रे पञ्चभरतैरावत विदेहक्षेत्राणि, यानि च मिलित्वा पञ्चदशसङ्ख्यकानि भवन्ति। अन्यानि क्षेत्राणि, 'अ-कर्मभूमयः' इति व्याख्याताः।

संसारदुर्गन्तिगमकस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकस्य मोक्षमार्गस्य ज्ञातारः कर्तारः उपदेष्टारश्च भगवन्तः परमर्षयस्तीर्थकराः उत्पद्यन्तेऽत्र। अत्रैव सिद्धाः जायन्ते, नान्यत्र। अतो मोक्षाय कर्मणः सिद्धिभूमयः कर्मभूमयश्चेति। शेषासु विशतिर्विंशः सान्तरद्वीपाः अकर्मकभूमयो भवन्ति। देवकुरुत्तरकुरुवस्तु कर्मभूम्यभ्यन्तरा अपि अकर्मभूमय इति। अन्यच्च नारकादिचतुर्गन्तिमयसंसारः दुर्गमगहनश्च। यत्र

अनेकजाति-योनिपूर्णसंकटमयः जीवनः विद्यते प्राणीनाम् । अस्यान्तश्च सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यस्वरूपमोक्षमार्गोऽयं भवति ।

मोक्षस्य ज्ञातारः प्रदर्शकश्चोपदेष्टाः तीर्थङ्कराः, एतासु पञ्चदशकर्मभूमिषु एव उत्पद्यन्ते । चारित्र्याभावेन देवकुरुत्तरकुरुभूमी अकर्मभूमि ॥ ३-१६ ॥

❀ सूत्रार्थ—उपर्युक्त मनुष्यक्षेत्र में पाँच भरत, पाँच ऐरावत तथा पाँच विदेह ये पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं । शेष देवकुरु और उत्तरकुरु इत्यादि अकर्मभूमियाँ हैं ॥ ३-१६ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

पाँच मेरुपर्वतों से अधिष्ठित तथा पैंतालीस लाख योजन प्रमाण (ऐसे) लम्बे-चौड़े मनुष्य क्षेत्र में पाँच भरतक्षेत्र, पाँच ऐरावतक्षेत्र और पाँच ही महाविदेह क्षेत्र हैं । ये सब मिलकर पन्द्रह कर्मभूमियाँ कहलाती हैं ।

विदेह में देवकुरु तथा उत्तरकुरु का विभाग भी सम्मिलित है । ऐसा होते हुए भी देवकुरु और उत्तरकुरु का विभाग कर्मभूमि नहीं, किन्तु भोगभूमि है । क्योंकि, वहाँ पर चारित्र्य का पालन नहीं होता है ।

सारांश यह है कि—उत्तरकुरु तथा देवकुरु क्षेत्र को छोड़कर पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच महाविदेह को कर्मभूमि कहते हैं । शेष बीसक्षेत्र तथा छप्पन अन्तरद्वीप अकर्मभूमि हैं । देवकुरु, उत्तरकुरु तथा महाविदेह के सम्मिलित होते हुए भी वह अकर्मकभूमि है । जहाँ पर युगलियों का निवास और युगलिक धर्म-व्यवहार हो, उसे अकर्मक भूमि कहते हैं । वहाँ पर चारित्र्यादिक धर्म कभी संभवित नहीं होता है । कर्मभूमि तो कर्म के विध्वंस-विनाश के लिए है । अर्थात् जिस भूमि में कर्म का क्षय-विनाश करके मोक्ष-सिद्धि प्राप्त हो सके, वही कर्मभूमि है । ऐसी कर्मभूमि में ही मोक्षमार्ग के ज्ञाता तथा सद्धर्म के उपदेशक तीर्थंकर भगवन्तादिक उत्पन्न होते हैं । अकर्मकभूमि में कभी नहीं होते ।

❀ मनुष्य के १०१ क्षेत्रों का निर्देश—लघुहिमवन्त पर्वत के छेड़ से ईशान इत्यादि चार विदिशाओं में लवणसमुद्र की तरफ चार दाढ़ा आई हुई हैं । प्रत्येक दाढ़ा के ऊपर सात-सात द्वीप हैं । कुल मिलाकर अठ्ठाईस द्वीप होते हैं । इसी तरह शिखरी पर्वत की चार दाढ़ाओं में कुल अठ्ठाईस द्वीप हैं । ये द्वीप लवणसमुद्र में होने से अन्तर्द्वीप कहे जाते हैं । सब मिलाकर छप्पन (५६) अन्तर्द्वीप हैं । तथा महाविदेह क्षेत्र में मेरुपर्वत की दक्षिण दिशा में देवकुरु क्षेत्र तथा मेरुपर्वत की उत्तरदिशा में उत्तरकुरु क्षेत्र आये हैं ।

छप्पन अन्तर्द्वीप, पाँच देवकुरु, पाँच उत्तरकुरु, पाँच भरत, पाँच महाविदेह, पाँच हैमवत, पाँच हैरण्यवत, पाँच हरिवर्ष, पाँच रम्यक, तथा पाँच ऐरावत क्षेत्र हैं । ये सब मिलकर १०१ क्षेत्र मनुष्य के हैं । शेष समस्त क्षेत्र अकर्मकभूमि के हैं ॥ (३-१६)

❀ मनुष्यायुषस्य कालः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

नृस्थितिपरापरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्त्तौ ॥ ३-१७ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

नृ नरा मनुष्या मानुषा इति शब्दाः पर्यायवाचकाः सन्ति । मनुष्याणां परा स्थितिः त्रीणि पल्योपमानि, अपरा अन्तर्मुहूर्त्तौ । मनुष्यायु-गतिनामकर्मोदयः मनुष्यः । येन मानुषायुकर्मणा पर्यायं प्राप्यते, तस्य प्रमाणं अन्तर्मुहूर्त्तौ त्रीणि पल्योपमानि । संसारिणः नारक-तिर्यञ्च-मनुष्य-देवेषु चतुर्षु विभक्ताः ॥ ३-१७ ॥

❀ सूत्रार्थ—मनुष्यों का उत्कृष्ट आयुष्य तीन पल्योपम का और जघन्य आयुष्य अन्तर्मुहूर्त्त का है ॥ ३-१७ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

मनुष्यों की परस्थिति और अपरस्थिति क्रमशः तीन पल्योपम की और अन्तर्मुहूर्त्त की है । पर यानी उत्कृष्ट-अधिक में अधिक, तथा अपर यानी जघन्य-कम से कम । मनुष्यों का उत्कृष्ट आयुष्य तीन पल्योपम तथा जघन्य आयुष्य अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण का होता है ।

अर्थात्—कोई भी मनुष्य अन्तर्मुहूर्त्त से पहले मर नहीं सकता, तथा तीन पल्योपम से अधिक जीवित नहीं रह सकता है । यह कथन गर्भज मनुष्यों की अपेक्षा जानना, किन्तु संमूर्च्छिम मनुष्यों का आयुष्य जघन्य से और उत्कृष्ट से भी अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण का ही समझना । (३-१७)

❀ तिर्यंचायुषस्य कालः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

तिर्यग्योनीनां च ॥ ३-१८ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

तिर्यग्योनीनां जीवानां उत्कृष्ट-जघन्य-स्थिति अनुक्रमतः त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्त्तौ भवतो यथासंख्यमेव । पृथक्करणं यथासंख्यदोषनिवृत्त्यर्थम् । इतरथा इदमेकमेव

सूत्रं अभविष्यद् उभयत्र चोभे यथासंख्यं स्यातामिति । द्विविधा च एषा मनुष्य-
तिर्यग्योनिजानां जीवानां स्थितिः । एका भवस्थितिः, अन्या कायस्थितिश्च ।
मनुष्याणां यथोक्ते त्रिपत्योपमान्तर्मुहूर्ते परापरे भवस्थितिः । अर्थात् मनुष्यभवे
जीवानां एकभवे स्थिति अन्तर्मुहूर्तात् न तु न्यूना तथा त्रिपत्योपमात् नाधिका ।

कायस्थितिस्तु परा सप्ताष्टौ वा भवग्रहणानि । तिर्यग् योनिजानां च यथोक्ते
समासतः परापरे भवस्थिती विज्ञेयेति ।

विशेषस्तु—शुद्धपृथिवीकायस्य उत्कृष्टस्थितिः द्वादशसहस्रवर्षाणि, खरपृथिवी-
कायस्य द्वाविंशतिसहस्रवर्षाणि, अप्कायस्य सप्तसहस्रवर्षाणि, वायुकायस्य त्रीणि
सहस्रवर्षाणि, तेजःकायस्य त्रीणि रात्रिदिनानि, वनस्पतिकायस्य च दशसहस्रवर्षाणि
सन्ति ।

एषामपि कायस्थितिः असंख्येयाः अवसर्पिण्युत्सर्पिण्यः । वनस्पतिकायस्य
अनन्ताः । द्वीन्द्रियजीवानां भवस्थितिः द्वादशवर्षाणि, त्रीन्द्रियजीवानां एकोनपञ्चाशद्
रात्रिदिनानि । चतुरिन्द्रियजीवानां षण्मासपर्यन्ताः । एषाञ्च कायस्थितिः संख्येयानि
वर्षसहस्राणि ।

पञ्चेन्द्रियजीवाः तिर्यग्योनिजीवाश्च पञ्चविधाः । यथा—मत्स्याः उरगाः
परिसर्पाः पक्षिणाश्चतुष्पदा इति । तत्रापि मत्स्यानां उरगाणां भुजगानां च
पूर्वकोटयैव । पक्षिणां पत्योपमासंख्येयभागः । चतुष्पदानां त्रीणि पत्योपमानि
गर्भजानां जीवानां स्थितिः जायते । तत्रापि मत्स्यजीवानां भवस्थितिः पूर्वकोटिः
त्रिपञ्चाशदुरगाणां द्विचत्वारिंशद् भुजगानां द्विसप्ततिः पक्षिणां स्थलचराणां चतुरशीति-
वर्षसहस्राणि सम्मूर्च्छितानां जीवानां भवस्थितिः । एषाञ्च कायस्थितिः सप्ताष्टौ
भवग्रहणानि ।

सर्वेषां मनुष्यतिर्यग्योनिजानां कायस्थितिस्तु जघन्यप्रमाणान्तर्मुहूर्तमात्रमेव
भवति ॥ ३-१८ ॥

ॐ सूत्रार्थ—तिर्यंच जीवों के भी उत्कृष्ट तथा जघन्य आयुष्य का प्रमाण मनुष्यों के समान तीन पल्योपम उत्कृष्ट और एक अन्तर्मुहूर्त जघन्य है ॥ ३-१८ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

जिस तरह गर्भज मनुष्यों की उत्कृष्ट स्थिति (जीवन काल) तीन पल्योपम की तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण की है, इसी तरह तिर्यंच जीवों की भी उत्कृष्ट तथा जघन्य स्थिति जाननी। अर्थात्—गर्भज मनुष्यों की भांति तिर्यंच जीवों की उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम की है, तथा जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

ॐ पुनः मनुष्यों की तथा तिर्यञ्चों की स्थिति दो प्रकार की है। (१) एक भवस्थिति और (२) दूसरी कायस्थिति। जो जीव-प्राणी अपने जघन्य या उत्कृष्ट आयुष्य प्रमाण से जीवित रहे, उसे भवस्थिति कहते हैं। और वही जीव-प्राणी अन्य-दूसरी जाति में जन्म नहीं लेकर पुनः पुनः बारंवार उसी-उसी जाति में जन्म-मरण करे, उसको कायस्थिति कहते हैं। अर्थात्—एक ही जाति में पुनः पुनः बारंवार पैदा होना-जन्म लेना वह कायस्थिति है। यह स्थिति मनुष्य और तिर्यंच जीवों की बताई है, इसे भवस्थिति कहते हैं। जघन्य कायस्थिति तो मनुष्य जीवों की और तिर्यंच जीवों की भवस्थिति के समान अन्तर्मुहूर्त की है। किन्तु उत्कृष्ट कायस्थिति मनुष्य जीवों की सात-आठ भव की है। अर्थात्—मनुष्य, मनुष्यजाति में लगातार पुनः पुनः (बारंवार) सात, आठ बार पैदा हो सकता है—जन्म ग्रहण कर सकता है। पश्चात्—पीछे अपनी मनुष्य जाति को छोड़कर अन्य जाति में अवश्य ही जाना पड़ता है।

समस्त तिर्यंच प्राणियों की भवस्थिति तथा कायस्थिति समान नहीं है। इसलिए उनको विशेषरूप से यदि जानना हो, तो वह इस प्रकार नीचे लिखे प्रमाण समझना।

(१) शुद्धपृथ्वीकाय जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति बारह हजार (१२०००) वर्ष प्रमाण की है।

(२) खरपृथ्वीकाय जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति बाईस हजार (२२०००) वर्ष प्रमाण की है।

(३) अप्काय (जलकाय) जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति सात हजार (७०००) हजार वर्ष प्रमाण की है।

(४) वायुकाय जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति तीन हजार (३०००) वर्ष प्रमाण की है।

(५) तेउकाय (अग्निकाय) जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति का प्रमाण तीन अहोरात्रि का है।

(६) वनस्पतिकाय जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति दस हजार (१००००) वर्ष प्रमाण की है।

इनमें से वनस्पतिकाय जीवों को छोड़कर शेष जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति का प्रमाण असंख्यात अवसर्पिणी तथा असंख्यात उत्सर्पिणी है।

वनस्पतिकाय जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्त उत्सर्पिणी तथा अनन्त अवसर्पिणी है। द्वीन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति बारह हजार (१२०००) वर्ष की है। त्रीन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति उनंचास (४६) अहोरात्रि (दिन-रात) है और चार इन्द्रिय जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति छह महीना प्रमाण की है। तथा इन तीनों की उत्कृष्ट कायस्थिति संख्यात हजार वर्ष की है।

तिर्यच पंचेन्द्रिय जीव गर्भज और सम्मूर्छिम दो प्रकार के होते हैं। इन दोनों की भवस्थिति भिन्न-भिन्न होती है।

पंचेन्द्रिय तिर्यच जीव पाँच प्रकार के हैं। मत्स्य, उरग, भुजग (परिसर्प), पक्षी और चतुष्पद। इनमें से गर्भज जलचर (मत्स्यादि), गर्भज उरपरिसर्प तथा गर्भज भुजपरिसर्प इनकी भवस्थिति पूर्व क्रोड़ वर्ष की है तथा खेचर पक्षियों की उत्कृष्ट भवस्थिति पत्योपम के असंख्यातवें भाग की है। एवं स्थलचर (चार पाँव वाले जानवरों) की उत्कृष्ट भवस्थिति तीन पत्योपम की है। इसमें सम्मूर्छिम जलचर मत्स्य जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति पूर्व क्रोड़ वर्ष की है। उरपरिसर्प की त्रेपन हजार (५३०००) वर्ष की है। भुजपरिसर्प की बयालीस हजार (४२०००) वर्ष की है। स्थलचर पक्षियों की बहत्तर हजार (७२०००) वर्ष की है। तथा सम्मूर्छिम जीवों की उत्कृष्ट भवस्थिति चौरासी हजार (८४०००) वर्ष की है।

पंचेन्द्रिय तिर्यच जीवों की उत्कृष्ट कायस्थिति सात, आठ भव भ्रमण रूप है एवं सम्मूर्छिम तिर्यच पंचेन्द्रिय की उत्कृष्ट कायस्थिति सात भव भ्रमण की है।

सारांश यह है कि इन सबकी कायस्थिति का उत्कृष्ट प्रमाण सात, आठ भव भ्रमण करने तक है। समस्त मनुष्य और तिर्यच जीवों की कायस्थिति का जघन्य प्रमाण अन्तर्मुहूर्तमात्र है।

✧ उत्कृष्ट-आयुष्य का दिग्दर्शन ✧

जीव और उनके आयुष्य

॥

[१] पृथ्वीकाय — २२ हजार वर्ष [२] अप्काय — ७ हजार वर्ष [३] तेजकाय — ३ अहोरात्रि [४] वायुकाय — ३ हजार वर्ष	[५] वनस्पतिकाय—१० हजार वर्ष [६] वेइन्द्रिय — १२ वर्ष [७] तेइन्द्रिय — ४६ दिन [८] चतुरिन्द्रिय — ६ मास
[९] पंचेन्द्रिय गर्भज— ❧ उरपरिसर्प —पूर्व करोड़ वर्ष ❧ भुजपरिसर्प—पूर्व करोड़ वर्ष ❧ जलचर —पूर्व करोड़ वर्ष ❧ चतुष्पद —तीन पल्योपम ❧ खेचर —पल्योपम का असंख्यातवाँ भाग	[१०] पंचेन्द्रिय सम्मूच्छिम ❧ चतुष्पद —८४००० वर्ष ❧ खेचर —७२००० वर्ष ❧ उरपरिसर्प —५३००० वर्ष ❧ भुजपरिसर्प —४२००० वर्ष ❧ जलचर —पूर्व करोड़ वर्ष ।

* जीव और उनकी कायस्थिति *

॥

(१) पृथ्वीकाय		असंख्यात
(२) अक्काय		उत्सर्पिणी
(३) तेजकाय		तथा
(४) वायुकाय		अवसर्पिणी
(५) प्रत्येक वनस्पतिकाय		
(६) साधारण वनस्पतिकाय—अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी		
(७) विकलेन्द्रिय—संख्याता हजार वर्ष		
(८) पंचेन्द्रिय तिर्यच-मनुष्य—सात-आठ भव तक ।		

सारांश—ऊपर मनुष्य और तिर्यच जीवों की भवस्थिति और कायस्थिति का दिग्दर्शन करवाया ।

वर्तमान भव के आयुष्य की स्थिति भवस्थिति है तथा उसी भव में पुनः पुनः निरन्तर उत्पत्ति का जो काल वह कायस्थिति है । अर्थात्—जिस भव में पुनः पुनः निरन्तर जितने काल तक उत्पन्न हो सके उस भव की इतनी कायस्थिति जाननी । पृथ्वीकाय का जीव असंख्य उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी पर्यन्त पुनः पुनः पृथ्वीकाय रूपे पैदा हो सकता है । इस तरह अक्कायादिक में भी जानना । मनुष्य का जीव-आत्मा पुनः पुनः सात भव तक मनुष्य हो सकता है । आठवें भव में वह जीव देवकुरु या उत्तरकुरुक्षेत्र में युगलिक मनुष्यरूपे उत्पन्न हो जाय तो मनुष्य की कायस्थिति आठ भव की हो जाती है । अन्यथा सात भव की होती है । इस तरह तिर्यच पंचेन्द्रिय जीवों में भी समझना । जघन्य कायस्थिति मनुष्यों की तथा समस्त प्रकार के तिर्यचों की अन्तर्मुहूर्त की है ॥ ३-१८ ॥

५ श्रीनत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य तृतीयाध्यायस्य सारांशः ५

वर्णनं जीवतत्त्वानां, जीवाधारः विशेषकः ।
 अधोलोकस्य सर्वाभूः, सर्वाऽधोऽधः पृथुस्तथा ॥ १ ॥
 तासु रत्नप्रभाद्यासु, आगता नरकोष्टिकाः ।
 रत्न-शर्कर-सप्तापि, वर्णिताः नर्कभूमयः ॥ २ ॥
 तत्रापि कुत्र नर्कत्वं, वसिताः कुत्र नारकाः ।
 किं रूपं नारकाणां हि, लेश्या शुभाशुभातरा ॥ ३ ॥
 वेदनोष्णतरा तीव्रा, स्वभावोऽपि विचित्रितः ।
 क्षेत्रजवेदना केषां, पोडाऽपि असुरैः कृताः ॥ ४ ॥
 यन्त्रपीडादि-दुःखानां, सोढा कथञ्च नारकाः ।
 लभन्ते न कथं मृत्युः कत्यायूत्कृष्ट जायते ॥ ५ ॥
 कीदृशी जाति जीवानां, भुंक्ते दुःखमतीव ये ।
 नरकादि तु भूमीनां, कीदृशी रचना भवेत् ॥ ६ ॥
 किं लोकः ? कीदृशश्चापि, का स्थिति तस्य जायते ।
 तिर्यग् लोकस्य सर्वस्य, संक्षिप्तं वर्णनं कृतम् ॥ ७ ॥
 कथमवस्थिताः द्वीपाः, कीदृशः सागरः स्थितः ।
 जम्बूद्वीपाकृतिश्चैव, विष्कम्भस्तस्य वर्णितः ॥ ८ ॥
 तन्मध्ये मेरुनामानि, वृत्तो जम्बू सुशोभनः ।
 सप्तक्षेत्राः कति जम्बोः, कुलाचलाऽपि कीदृशाः ॥ ९ ॥
 धनुषादि-प्रमाणैश्चा, वगाहा पर्वता कृताः ।
 वर्णनं द्वीपखण्डानां, पुष्करार्धेव धातकीः ॥ १० ॥
 नराः के ? कुत्र जायन्ते, आर्या म्लेच्छाऽपि कीदृशाः ? ।
 तेषां षडपि भेदाश्च, विज्ञानेन विवर्णिताः ॥ ११ ॥
 मनुष्याणां हि क्षेत्राणां, कर्माकर्मैति भूमी च ।
 तेषामायुष्य-प्रामाण्यं, तिर्यञ्चानां तथापि वै ॥ १२ ॥
 तिर्यञ्चानां भवस्थितिः, वर्णिता सुव्यवस्थिताः ।
 तत्त्वार्थाधिगमे शास्त्रे, तृतीयोऽध्याय वर्णितः ॥ १३ ॥

इति श्रीशासनसम्राट्-सूरिचक्रचक्रवर्ति-तपोगच्छाधिपति-भारतीयभव्य-
 विभूति-महाप्रभावशालि-अखण्डब्रह्मतेजोमूर्ति-श्रीकदम्बगिरिप्रमुखानेकप्राचीन-
 तीर्थोद्धारक-श्रीवलभीपुरनरेशाद्यनेक - नृपतिप्रतिबोधक-चिरन्तनयुगप्रधानकल्प-
 वचनसिद्धमहापुरुष-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र-प्रातःस्मरणीय-परमोपकारि-परमपूज्याचार्य-
 महाराजाधिराज श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वराणां दिव्यपट्टालङ्कार-साहित्यसम्राट्-
 व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद-कविरत्न-साधिकसप्तलक्षलोकप्रमाणनूतन-
 संस्कृतसाहित्यसर्जक - परमशासनप्रभावक - बालब्रह्मचारि-परमपूज्याचार्यप्रवर
 श्रीमद्विजयलावण्यसूरीश्वराणां प्रधानपट्टधर - धर्मप्रभावक - शास्त्रविशारद-
 कविदिवाकर-व्याकरणरत्न - स्याद्यन्तरत्नाकराद्यनेकग्रन्थकारक-बालब्रह्मचारि-
 परमपूज्याचार्यवर्य श्रीमद्विजयदक्षसूरीश्वराणां सुप्रसिद्धपट्टधर-जैनधर्मदिवाकर-
 तीर्थप्रभावक-राजस्थानदीपक-मरुधरदेशोद्धारक - शास्त्रविशारद-साहित्यरत्न-
 कविभूषण-बालब्रह्मचारि-श्रीमद्विजयसुशीलसूरिणा श्रीतत्त्वार्थीधगमसूत्रस्य
 तृतीयोऽध्यायस्योपरि विरचिता 'सुबोधिका टीका' एवं तस्य सरलहिन्दीभाषायां
 'विवेचनामृतम्' ।



श्री तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के तृतीय (तीसरा) अध्याय का * हिन्दी पद्यानुवाद *

❀ नरक की सात पृथिवियों के नाम ❀

卐 मूलसूत्रम्-

रत्न-शर्करा-वालुका-पङ्क-धूम-तमो-महातमःप्रभा भूमयो घनाम्बु-वाताऽऽकाश-
प्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः पृथुतराः ॥ ३-१ ॥

तासु नरकाः ॥ ३-२ ॥

नित्याशुभतरलेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः ॥ ३-३ ॥

* हिन्दी पद्यानुवाद-

रत्नप्रभा है नरक पहली, दूसरी शर्करा - प्रभा ।
है तीसरी वालुकाप्रभा, चौथी कही पंकप्रभा ॥
धूमप्रभा ये पंचमी, तथा छठी है तमःप्रभा ।
सप्तमी कही अन्तिम ये, नाम है तमस्तमःप्रभा ॥ १ ॥

ये नरक भूमि सात हैं, अनुक्रमों से अनुक्रमी ।
घनोदधि घनवात और, तनवात आकाशाश्रयी ॥
प्रथम से ये भूमि नारक, अधो अधः पृथुतरी ।
एक से ये एक विस्तृत, क्रमशः पृथुता विस्तरी ॥ २ ॥

इन सात नारक भूमि में, है वास नारक जीव का ।
अशुभ से भी अशुभतर है, दोष नित्य स्वभाव का ॥
एक से फिर दूसरी में, सप्त भूमि की स्थिति ।
अशुभ लेश्या अशुभता से, अशुभ परिणामे बढ़ी ॥ ३ ॥

शुभ नहीं यह देह पिण्ड, अशुभतर है वेदना ।
विक्रिया भी अशुभतर से, देती अति है वेदना ॥
लेश्या तथा परिणाम देहज, वेदना विक्रियता ।
ये निरन्तर नरक सातों, में प्रवर्धित विस्तृता ॥ ४ ॥

❀ नरक में परस्परोदीरित वेदना ❀

卐 मूलसूत्रम्—

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ३-४ ॥

संकलिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ३-५ ॥

❀ नरक जीवों के आयुष्य की उत्कृष्ट स्थिति ❀

卐 मूलसूत्रम्—

तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाः सत्त्वानां परा
स्थितिः ॥ ३-६ ॥

❀ हिन्दी पद्यानुवाद—

ये जीव नारक हैं परस्पर, दुःख से बैरी बने ।
उदीरणा करते निज दुःख की, क्षणिक भी न सुख लहे ॥
कृष्णलेश्यी असुरदेव, अति निर्दयी निज कर्म से ।
रत्नादि तीन नारकों को, दुःख देते अति आस से ॥ ५ ॥

एक तीन और सात दस, सत्तर सागरोपम की ।
बाईस और तैंतीस जानो, स्थिति नारक जीव की ॥
पहली दूसरी तीसरी, चौथी पंचमी भूमि में ।
षष्ठी सप्तमी भूमि में, क्रम से कही यह शास्त्र में ॥ ६ ॥

卐 मूलसूत्रम्—

जम्बूद्वीप-लवणादयः शुभनामानो द्वीप-समुद्राः ॥ ३-७ ॥

द्विद्विविष्कम्भः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो बलयाकृतयः ॥ ३-८ ॥

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥ ३-९ ॥

❀ हिन्दी पद्यानुवाद—

आद्य जम्बूद्वीप सारे, द्वीप में प्रख्यात है ।
तथा सूत्र में भी साथ ये, लवणोदधि विख्यात है ॥
दूसरे भी शास्त्र में है, असंख्य द्वीपोदधि महा ।
बहुश्रुत तथा गणधरों ने, शुभ नाम से इनको कहा ॥ ७ ॥

द्वीप से सागर तथा फिर, उदधि से है द्वीप महा ।
 इस क्रमागत से सुविस्तृत, द्वीप सागर है महा ॥
 विस्तार में क्रमशः सभी ये, एक से द्विगुणित हैं ।
 ये परस्पर हैं सुदेष्टित, वृत्त-कंकणाकारे हैं ॥ ८ ॥

सब द्वीप सागर मध्य में, जम्बूद्वीप ही शोभते ।
 मेरुपर्वत नाभि सम है, ज्ञानी ज्ञानदृष्टि देखते ॥
 फिर आकृति में जम्बूद्वीप, थाली समा यह गोल है ।
 विस्तार में लाख योजन, गुणनिधि ये भी श्रमोल है ॥ ९ ॥

卐 मूलसूत्रम्—

तत्र भरत-हैमवत-हरिविदेह-रम्यक-हैरण्यवत-ऐरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ ३-१० ॥

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्-महाहिमवन्-निषध-नील-रुक्मि-शिखरिणो
 वर्षधरपर्वताः ॥ ३-११ ॥

द्विर्घातकीखण्डे ॥ ३-१२ ॥

पुष्करार्धे च ॥ ३-१३ ॥

* हिन्दी पद्यानुवाद—

जम्बूद्वीप में भरत नाम का, क्षेत्र आद्य रम्य है ।
 दूसरा हैमवन्त क्षेत्र, युगलिक को सुखकर है ॥
 तीसरा हरिवर्ष क्षेत्र भी, युगलिक को सुखकर है ।
 चौथा क्षेत्र महाविदेह, हितकारी पुण्यवन्त है ॥ १० ॥

रम्यक क्षेत्र है पाँचवाँ, भोगभूमि सम रम्य है ।
 हैरण्यवन्त क्षेत्र छठा, भी भोगभूमि सम है ॥
 तथा ऐरावत नाम से, क्षेत्र सातवाँ मानना ।
 ये सातों जम्बूद्वीप के, क्षेत्र सुशोभित जानना ॥ ११ ॥

इन सातों क्षेत्रों की सीमा, करे अलग वे गिरिवरा ।
जम्बूद्वीप में षट् कहा ये, जिनकी शोभा अनुपमा ॥
जो पूर्व-पश्चिम दीर्घ हैं, सुन्दर नामों से भूषित ।
हैं एक से एक सुन्दर, वन सर गिरि निर्भर गुंजित ॥ १२ ॥

प्रथम गिरि का नाम हिमवान, द्वितीय महाहिमवन्त है ।
तृतीय नाम है निषधगिरि, चतुर्थ नाम निलवन्त है ॥
रुक्मि पंचम गिरि कहा है, छठा शिखरी मानते ।
इन छ'ही गिरि नाम वदते, मोह मर्म के ही भेदते ॥ १३ ॥

जम्बूद्वीप में क्षेत्र सात, तथा छ'ही गिरिवर हैं ।
दूसरे धातकी खण्डमहीं, क्षेत्र दुगुणे सुगिरि हैं ॥
पुष्करार्ध द्वीप में भी, चौदह क्षेत्र बारह गिरि हैं ।
जम्बूद्वीप में सब वस्तुएँ, यहाँ द्विगुणित मानी हैं ॥ १४ ॥

卐 मूलसूत्रम्—

प्राग् मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३-१४ ॥

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३-१५ ॥

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरुत्तरकुरुभ्यः ॥ ३-१६ ॥

नृस्थिती परापरे त्रिपत्योपमान्तर्मुहूर्त्ते ॥ ३-१७ ॥

तिर्यग्योनीनां च ॥ ३-१८ ॥

* हिन्दी पद्यानुवाद—

मानुषोत्तर भूधरान्तर, वर्त्ति ढाई द्वीप नर है ।
वे जन्म-मरण-विरति-मुक्ति, आत्मा के साध्य साधन हैं ॥
आर्य और म्लेच्छ ये दो, भेद मानव जाति के ।
जो धर्म और अधर्म सेवे, स्वयं विविध भाँति के ॥ १५ ॥

भरतक्षेत्र कर्मभूमि के, नाम से पहली गिनी ।
 ऐरवत को दूसरी गिन के, विदेह तीसरी गिनी ॥
 देवकुरु को छोड़कर के, उत्तरकुरु भी छोड़कर ।
 विदेह तीसरी कर्मभूमि, मानना भ्रम त्याग कर ॥ १६ ॥

नर तथा तिर्यच का उत्कृष्टायु त्रिपल्योपम का ।
 जानना फिर जघन्यायु, अन्तर्मुहूर्त दोनों का ॥
 उत्कृष्टायु प्रबलतर है, श्रेष्ठ भी मानी गई ।
 अन्तर्मुहूर्त अल्पायु है, सूत्र साक्षी पूर रही ॥ १७ ॥

तत्त्वार्थाधिगमे सूत्रे, कृतेऽनुवादे हरिगीतिकायाम् ।

पद्यानुवादे सरसः कृतोऽयं, पूर्णस्तृतीयः हितबोधनाय ॥

॥ इति श्री तत्त्वार्थाधिगम सूत्र के तृतीयाध्याय का हिन्दी पद्यानुवाद समाप्त ॥



* श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य जैनागमप्रमाणरूप-आधारस्थानानि *

卐 [तृतीयोऽध्यायः] 卐

卐 मूलसूत्रम्—

रत्न-शर्करा-बालुका - पङ्क-धूम-तमो - महातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाता-ऽऽकाश-
प्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः पृथुतराः ॥ ३-१ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) कहि णं भंते ! नेरइया परिवसंति ? गोयमा ! सट्ठाणे एं सत्तसु
पुढविसु, तं जहा-रयणप्पभाए, सक्करप्पभाए, बालुयप्पभाए, पंकप्पभाए, धूमप्पभाए,
तमप्पभाए, तमतमप्पभाए ।

[प्रज्ञा. नरका. पद-२]

(२) अत्थि एं भंते ! इमीसे रयणप्पभाए, पुढवीए, अहे घणोदधीति वा
घणवातेति वा तणुवातेति वा ओवासंतरेति वा । हंता अत्थि एवं जाव अहे
सत्तमाहे ।

[जीवाभि. प्रतिप. २ सूत्र ७०-७१]

卐 मूलसूत्रम्—

तासु नरकाः ॥ ३-२ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) तीसा य पन्नवीसा पण्णरस दसेव तिण्णि य हवंति ।

पंचूणसहसहस्सं पंचेव अणुत्तरा एरगा ।

[प्रज्ञा. पद. २, नरकाधिकार व्या. प्र. श. १, उ. ५ सू. ४३]

(२) तासु त्रिशत्पञ्चविंशतिपञ्चदशदश-त्रिपञ्चोन्नैकनरकशतसहस्राणि पंच
चं व यथाक्रमम् ॥ २ ॥

॥ मूलसूत्रम्—

नित्याशुभतरलेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः ॥ ३-३ ॥

परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ३-४ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) अएण मएणस्स कायं अभिहणमाणा वेयणं उदीरेति इत्यादि ।

[जीवाभिगम. प्रति. ३, उद्दे. २, सूत्र ८६]

(२) इमेहि विविहेहि आउहेहि किं ते मोगगर भुसं ढिकरकय सत्तिहलगय मुसल चक्क कुन्त तोमर सूल लउड भिडिमालि सव्वल पट्टिस चम्मिदु दुहरण मुट्टिय असि खेडग खग चाव नाराय कणग कप्पिणि वासि परसु टंक तिक्ख निम्मल अण्णेहि एवमादिहि असुभेहि वेउव्विएहि पहरणसत्तेहि अणुबन्ध तिक्खवेरा परोप्परं वेयणं उदीरन्ति ।

[प्रश्न. अ. १ नरकाधिकार]

(३) ते रां राग्गा अंतोवट्ठा वाहिं चउरंसा अहे खुरप्पसंठाणा संठिया णिच्चं-धयार तमसा ववगयगहचंदसूरणक्खत्तजोइसप्पहा, मेदवसापूयपडलरुहिरमंसच्चिक्ख-ललित्ताणुलेवणतला, असुईवीसा परमादुग्धिगंधा काऊग्गणिक्खणाभा कक्खडफासा दुरहियासा असुभा णरगा असुभाओ राग्गेसु वेअणाओ इत्यादि ।

[प्रज्ञा. पद २ नरकाधिकार]

(४) नेरइयाणं तओ लेसाओ पणत्ता, तं जहा कण्हलेस्सा नीललेस्सा काऊ-लेस्सा ।

[स्था. स्थान ३, उ. १, सू. १३२]

(५) अतिसितं, अतिउण्हं, अतितण्हा, अतिखहा, अतिभयं वा, शिरएणेरेइ-याणं दुक्खसयाइं अबिस्सामं ।

[जीवा. प्रतिपत्ति ३ उ. १, सू. १३२]

॥ मूलसूत्रम्—

संक्लिष्टाऽसुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ॥ ३-५ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

प्रश्न—किं पत्तियं णं भंते ! असुरकुमारा देवा तच्चं पुढविं गया य गमिस्संति य ?

उत्तर-गोयमा ! पुष्पवेरियस्स वा वेदणउदीरणयाए, पुष्पसंगइस्स वा वेदण-
उवसामणयाए, एवं खलु असुरकुमारा देवा तच्चं पढवि गया य, गमिस्संति य ।

[व्याख्या. श. ३, उ. २, सू. १४२]

॥ मूलसूत्रम्—

तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश-सप्तदश-द्वाविंशति-त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाः सत्त्वानां
परा स्थितिः ॥ ३-६ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

सागरोवममेगं तु, उक्कोसेण विद्याहिया ।
पढमाए जहन्नेणं, दसवाससहस्सिया ॥ १६० ॥
तिण्णेव सागरा ऊ, उक्कोसेण विद्याहिया ।
दोच्चाए जहन्नेणं, एगं तु सागरोवमं ॥ १६१ ॥
सत्तेव सागरा ऊ, उक्कोसेण विद्याहिया ।
तइयाए जहन्नेणं, तिण्णेव सागरोवमा ॥ १६२ ॥
दस सागरोवमा ऊ, उक्कोस विद्याहिया ।
चउत्थीए जहन्नेणं, सत्ते व सागरोवमा ॥ १६३ ॥
सत्तरस सागरा ऊ, उक्कोसेण विद्याहिया ।
पंचमाए जहन्नेणं, दस चेव सागरोवमा ॥ १६४ ॥
बावीस सागरा ऊ, उक्कोसेण विद्याहिया ।
छट्ठीए जहन्नेणं, सत्तरस सागरोवमा ॥ १६५ ॥
तेत्तीस सागरा ऊ, उक्कोसेण विद्याहिया ।
सत्तमाए जहन्नेणं, बावीसं सागरोवमा ॥ १६६ ॥

[उत्तरा. अ. ३६]

॥ मूलसूत्रम्—

जम्बूद्वीप-लवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ३-७ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) असंखेज्जा जम्बूद्वीवा नामधेज्जेहि पणत्ता, केवतिघाणं भंते ! लवण-
समुद्रापणत्ता गोयमा ! असंखेज्जा लवणसमुद्रा नामधेज्जेहि पणत्ता, एवं धायति-

मंडावि, एवं जाव असंखेज्जा सूरदीवा नामधेज्जेहि य । एगे देवे दीवे पणत्ते, एगे देवोदे समुद्दे पणत्ते, एगे एगगे जक्खे भूते जाव एगे सयंभूरमणे दीवे एगे सयंभूरमणे समुद्दे एगामधेज्जेणं पणत्ते ।

[जीवा. प्रति. ३, उ. २, सू. १८६ द्वीप.]

(२) जावतिया लोगे सुभाणामा सुभा वण्णा जाव सुभा फासा एवतिया दीवा समुद्दा णामधेज्जेहि पणत्ता ।

[जीवा. प्रति. ३, उ. २, सूत्र १८६]

卐 मूलसूत्रम्—

द्विद्विविक्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो बलयाकृतयः ॥ ३-८ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) जंबुद्वीवं एगाम दीवं लवणे णामं समुद्दे वट्टे बलयागारसंठाणसंठिते सव्वतो समंता संपरिक्खत्ताणं चिट्ठति ।

[जीवा. प्रति. ३, उ. २, सू. १४४]

(२) जंबुद्वीवाइया दीवा लवणादिया समुद्दा संठाणतो एकविहविधाणा विस्थारतो अरणेगविधविधाणादुगुणे पडुप्पाएमाणा पवित्थरमाणा श्रीभासमाणवीचीया ।

[जीवा प्रति. ३, उ. २, सूत्र १२३]

卐 मूलसूत्रम्—

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविक्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥ ३-९ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) जंबुद्वीवे सव्वद्वीवसमुद्दाणं सव्वब्भंतराए सव्वखुड्डाए वट्टे....एगं जोयरा-सयसहस्सं आयामविक्खंभेणं इत्यादि ।

[जम्बू. सू. ३]

(२) जंबुद्वीवस्स बहुमज्झदेसभाए एत्थणं जंबुद्वीवे मन्दरे णाम्मं पव्वए पणत्ते । णवणउत्तिजोअणसहस्साइं उद्धं उच्चतेरां एगं जोअणसहस्सं उव्वेहेरां ।

[जम्बू. सू. १०३]

卐 मूलसूत्रम्—

भरत-हैमवत-हरिविदेह-रम्यक-हैरण्यवत-रावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ ३-१० ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

जंबुद्वीवे सत्त वासा पणत्ता, तं जहा-भरहे एरवते हेरन्नवते हरिवासे रम्यग्वासे महाविदेहे ।

[स्था. स्थान ७, सू. ५५५]

❧ मूलसूत्रम्—

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन् महाहिमवन् निषध-नील-रुक्मि-शिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ३-११ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) विभयमाणे ।

[जम्बूद्वीप सू. १५]

(२) पाईण पडोणायए ।

[जम्बूद्वीप. सू. ७२]

(३) जंबुद्वीवे छ वासहरपव्वता पणत्ता तं जहा-चुल्लहिमवन्ते महाहिमवन्ते निसडे नीलवन्ते रुप्पि सिहरी ।

[स्था. स्थान ६, सू. ५२४]

❧ मूलसूत्रम्—

द्विर्धातकीखण्डे ॥ ३-१२ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

धायइखंडे दीवे पुरच्छिमद्धे णं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणे णं दो वासा पणत्ता, बहुसमतुल्ला जाव भरहे चेव एरावए चेव....धातकीखंडदीवे पच्चच्छिमद्धे णं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणे णं दो वासा पणत्ता बहुसमतुल्ला जाव भरहे चेव एरावए चेव । इच्चाइ ।

[स्था. स्थान २, उद्दे. ३, सू. ६२]

❧ मूलसूत्रम्—

पुष्कराद्ध च ॥ ३-१३ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

पुक्खरदीवद्धे पुरक्खिमद्धे णं मंदरस्स पव्वयस्स उत्तरदाहिणे णं दो वासा पणत्ता, बहुसमतुल्ला जाव भरहे चेव एरावहे चेव तहेव जाव दो कुडाओ पणत्ता ।
[स्था. स्थान २, उद्दे ३, सू. ६३]

❧ मूलसूत्रम्—

प्राग् मानुषोत्तरान् मनुष्याः ॥ ३-१४ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

माणुसुत्तरस्स णं पव्वयस्स अंतो मणुआ ।

[जीवा. प्रति. ३, मानुषोत्तरा. उद्दे. २, सू. १७८]

❧ मूलसूत्रम्—

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३-१५ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

ते समासओ दुविहा पणत्ता, तं जहा आरिआय मिलक्खू य ।

[प्रज्ञा. पद. १ मनुष्याधिकार]

❧ मूलसूत्रम्—

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरुत्तरकुरुभ्यः ॥ ३-१६ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

से किं तं कम्मभूमगा ? कम्मभूमगा पण्णरसविहा पणत्ता, तं जहा-पंचहि भरहेहि पंचहि एरावएहि पंचहि महाविदेहेहि ।

से किं तं अकम्मभूमगा ? अकम्मभूमगा तीसइ विहा पणत्ता, तं जहा-पंचहि हेमवएहि, पंचहि हरिवासेहि, पंचहि रम्मगवासेहि, पंचहि एरण्णवएहि, पंचहि देवकुरुहि, पंचहि उत्तरकुरुहि । सेतं अकम्मभूमगा ।

[प्रज्ञा. पद-१, मनुष्याधि. सूत्र ३२]

❧ मूलसूत्रम्—

नृस्थिती परापरे त्रिपत्योपमान्तमुहूर्त्ते ॥ ३-१७ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) पलिओवमाउ तिन्नि य, उक्कोसेण वियाहिया । आउट्टिई मणुयाणं, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ।

[उत्तरा. अध्यायन ३६, गाथा-१६८]

(२) मणुस्साणं भंते ! केवइयं कालट्टिई पणत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं अंतो मुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाई ।

[प्रज्ञा. पद-४ मनुष्याधिकार]

卐 मूलसूत्रम्—

तिर्यग्गोनीनां च ॥ ३-१८ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) असंखिज्जवासाउय सन्निपंचिदिय तिरिक्खजोणियाणं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाई पन्नत्ता ।

[समवा. सू. समवाय-३]

(२) पलिओवमाई तिण्णि उ उक्कोसेण वियाहिया ।

आउट्टिई थलयरणां, अंतोमुहुत्तं जहन्निया ॥

[उत्तरा. अध्यायन-३६. गाथा-१८३]

(३) गढभवकंतिय चउप्पय थलयर पंचिदिय तिरिक्खजोणियाणं पुच्छा ? जहण्णेणं अंतोमुहुत्तं उक्कोसेणं तिण्णि पलिओवमाई ।

[प्रज्ञा. स्थितिपद ४ तिर्यगाधिकार]

॥ इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य तृतीयाध्याये संगृहीते जैनागम-प्रमाणरूप-
आधारस्थानानि ॥



तृतीयाध्यायस्य
* **सूत्रानुक्रमणिका** *

सूत्रांक	सूत्र	पृष्ठ सं.
१.	रत्न-शर्करा-वालुका-पङ्क-धूम-तमो-महातमःप्रभाभूमयो घनाम्बु- वाताऽऽकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः पृथुतराः ॥ ३-१ ॥	१
२.	तासु नरकाः ॥ ३-२ ॥	७
३.	नित्याशुभतरलेश्या-परिणाम-देह-वेदना-विक्रियाः ॥ ३-३ ॥	६
४.	परस्परोदीरितदुःखाः ॥ ३-४ ॥	१५
५.	संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ॥ ३-५ ॥	१७
६.	तेष्वेक-त्रि-सप्त-दश - सप्तदश - द्वाविंशति - त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाः सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ३-६ ॥	२२
७.	जम्बूद्वीप-लवणादयः शुभनामानो द्वीप-समुद्राः ॥ ३-७ ॥	२८
८.	द्विद्विविष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो बलयाकृतयः ॥ ३-८ ॥	३०
९.	तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ॥ ३-९ ॥	३१
१०.	भरत-हैमवत-हरिविदेह-रम्यक- हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ॥ ३-१० ॥	३५
११.	तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषध- नील-रुक्मि-शिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ३-११ ॥	३६
१२.	द्विर्धातिकीखण्डे ॥ ३-१२ ॥	४६
१३.	पुष्करार्धे च ॥ ३-१३ ॥	४७
१४.	प्राग् मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३-१४ ॥	४९
१५.	आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३-१५ ॥	५१
१६.	भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः ॥ ३-१६ ॥	५४
१७.	नृस्थितौ परापरे त्रिपत्योमान्तर्मुहूर्ते ॥ ३-१७ ॥	५६
१८.	तिर्यग्योनीनां च ॥ ३-१८ ॥	५६

॥ इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य तृतीयाध्याये सूत्रानुक्रमणिका समाप्ता ॥

तृतीयाध्यायस्य
* अकारादिसूत्रानुक्रमणिका *

क्रम	सूत्र	सूत्राङ्क	पृष्ठ सं.
१.	आर्या म्लेच्छाश्च ।	१५	५१
२.	जम्बूद्वीपलवणादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः ।	७	२८
३.	तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन् महाहिमवन् निषध-नील-रुक्मि-शिखरिणो वर्षधरपर्वताः ।	११	३६
४.	तन्मध्ये मेरुनाभिवृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्भो जम्बूद्वीपः ।	६	३१
५.	तत्र भरतहैमवतहरिविदेहरम्यक- हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि ।	१०	३५
६.	तासु नरकाः ।	२	७
७.	तिर्यग् योनीनां च ।	१८	५६
८.	तेष्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाः सत्त्वानां परास्थितिः ।	६	२२
९.	द्विद्विंशतिविष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो बलयाकृतयः ।	८	३०
१०.	द्विर्धतिकीखण्डे ।	१२	४६
११.	नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः ।	३	६
१२.	नृस्थिती परापरे त्रिपत्योपमान्तमुहूर्त्तौ ।	१७	५६
१३.	परस्परोदीरितदुःखाः ।	४	१५
१४.	पुष्करार्धे च ।	१३	४७
१५.	प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ।	१४	४६
१६.	भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरुत्तरकुरुभ्यः ।	१६	५४
१७.	रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः पृथुतराः ।	१	१
१८.	संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः ।	५	१७

श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रे
श्रीजैनश्वेताम्बर-दिगम्बरयोः सूत्रपाठ-भेदः
[तृतीयोऽध्यायः]

❁ श्रीश्वेताम्बरग्रन्थस्य सूत्रपाठः ❁

卐 सूत्राणि 卐

सूत्र सं.

१. रत्न-शर्करा-वालुका-पङ्क-धूम-तमो-
महातमःप्रभा भूमयो घनाम्बु-वाता-
ऽऽकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽधोऽधः
पृथुतराः ॥ ३-१ ॥
२. तासु नरकाः ॥ ३-२ ॥
३. नित्याशुभतरलेश्या-परिणाम-देह-
वेदना-विक्रियाः ॥ ३-३ ॥
७. जम्बूद्वीपलवणादयः शुभनामानो
द्वीपसमुद्राः ॥ ३-७ ॥
१०. भरत-हैमवत - हरिविदेह-रम्यक-
हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि
॥ ३-१० ॥

❁ श्रीदिगम्बरग्रन्थस्य सूत्रपाठः ❁

卐 सूत्राणि 卐

सूत्र सं.

१. रत्न-शर्करा - वालुका - पङ्क-धूम-
तमो-महातमःप्रभाभूमयो घना-
म्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताऽ-
धोऽधः ॥ ३-१ ॥
२. तासु त्रिंशत् पञ्चविंशतिपञ्चदश-
दशत्रिपञ्चोनैकनरकशतसहस्राणि
पञ्च चैव यथाक्रमम् ॥ ३-२ ॥
३. नारका नित्याऽशुभतरलेश्यापरि-
णामदेहवेदना विक्रियाः ॥ ३-३ ॥
७. जम्बूद्वीप-लवणोदादयः शुभ-
नामानो द्वीप-समुद्राः ॥ ३-७ ॥
१०. भरत-हैमवत-हरिविदेह-रम्यक-
हैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि
॥ ३-१० ॥

सूत्र सं.

१७. नृस्थिती परापरे त्रिपल्योपमान्त
मुहूर्त्त ॥ ३-१७ ॥

१८. तिर्यग्योनीनां च ॥ ३-१८ ॥

सूत्र सं.

१२. हेमार्जुनतपनीय - वैडूर्यरजतहेम-
मयाः ॥ ३-१२ ॥

१३. मणिविचित्रपाशर्वाजपरि मूले च
तुल्यविस्ताराः ॥ ३-१३ ॥

१४. पद्ममहापद्मतिगिञ्छकेसरिमहा-
पुण्डरीकपुण्डरीका हृदास्तेषामुपरि
॥ ३-१४ ॥

१५. प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्ध-
विष्कम्भो हृदः ॥ ३-१५ ॥

१६. दशयोजनावगाहः ॥ ३-१६ ॥

१७. तन्मध्ये योजनं पुष्करम्
॥ ३-१७ ॥

१८. तद्विगुणद्विगुणा हृदाः पुष्कराणि
च ॥ ३-१८ ॥

१९. तस्मिन्वासिन्यो देव्यः श्रीहीधृति-
कीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पल्योपमस्थि-
तयः ससामानिकपरिषत्काः
॥ ३-१९ ॥

२०. गङ्गासिन्धुरोहिद्रोहितास्याहरि-
द्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनर-
कान्तासुवर्णरूप्यकूलारक्तारक्तोदाः
सरितस्तन्मध्यगाः ॥ ३-२० ॥

२१. द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः
॥ ३-२१ ॥

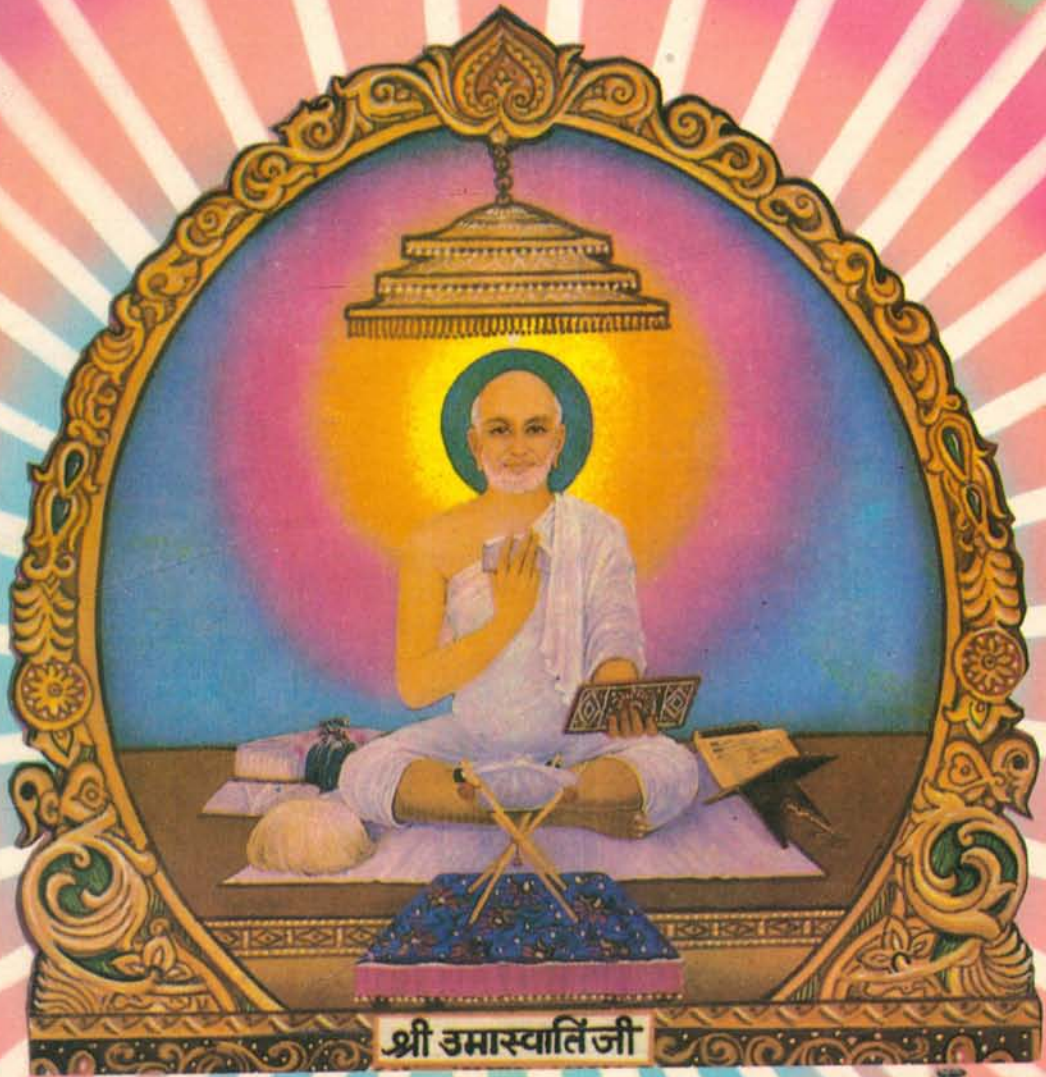
सूत्र सं.

सूत्र सं.

२२. शेषास्त्वपरगाः ॥ ३-२२ ॥
२३. चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गङ्गा-
सिन्धवादयो नद्यः ॥ ३-२३ ॥
२४. भरतः षट्विंशतिपञ्चयोजनशत-
विस्तारः षड् चैकोनविंशतिभागा
योजनस्य ॥ ३-२४ ॥
२५. तद्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षधर-
वर्षा विदेहान्ताः ॥ ३-२५ ॥
२६. उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ ३-२६ ॥
२७. भरतैरावतयोर्वृद्धिहासौ
षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यव-
सर्पिणीभ्याम् ॥ ३-२७ ॥
२८. ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः
॥ ३-२८ ॥
२९. एकद्वित्रिपत्योपमस्थितयो हैमवत-
कहारिवर्षकदैवकुरबकाः ॥ ३-२९ ॥
३०. तथोत्तराः ॥ ३-३० ॥
३१. विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३-३१ ॥
३२. भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य
नवतिशतभागः ॥ ३-३२ ॥
३८. नृस्थिती परावरे त्रिपत्योपमान्त-
मुहूर्त्तं ॥ ३-३८ ॥
३९. तिर्यग्योनिजानाञ्च ॥ ३-३९ ॥



पूर्वधर-परमर्षि-श्रीउमास्वातिवाचकप्रवरेण
विरचितम्



श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम्



卐 श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र की महत्ता 卐



जैनागमरहस्यवेत्ता पूर्वधर वाचकप्रवर श्री उमास्वाति महाराज ने अपने संयम-जीवन के काल में पञ्चशत (५००) ग्रन्थों की अनुपम रचना की है। वर्तमान काल में इन पञ्चशत (५००) ग्रन्थों में से श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, प्रशमरतिप्रकरण, जम्बूद्वीपसमासप्रकरण, क्षेत्रसमास, श्रावकप्रज्ञप्ति तथा पूजाप्रकरण इतने ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

पूर्वधर - वाचकप्रवरश्री की अनमोल ग्रन्थराशिरूप विशाल आकाशमण्डल में चन्द्रमा की भाँति सुशोभित ऐसा सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ यह श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र है। इसकी महत्ता इसके नाम से ही सुप्रसिद्ध है।

पूर्वधर - वाचकप्रवरश्री उमास्वाति महाराज जैन आगम सिद्धान्तों के प्रखर विद्वान् और प्रकाण्ड ज्ञाता थे। इन्होंने अनेक शास्त्रों का अवगाहन कर के जीवाजीवादि तत्त्वों को लोकप्रिय बनाने के लिए अतिगहन और गम्भीर दृष्टि से नवनीत रूप में इसकी अति सुन्दर रचना की है। यह श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र संस्कृत भाषा का सूत्ररूप से रचित सबसे पहला अत्युत्तम, सर्वश्रेष्ठ महान ग्रन्थरत्न है।

यह ग्रन्थ ज्ञानी पुरुषों को, साधु-महात्माओं को, विद्वद्बर्ग को और मुमुक्षु जीवों को निर्मल आत्मप्रकाश के लिए दर्पण के सदृश देदीप्यमान है और अहर्निश स्वाध्याय करने लायक तथा मनन करने योग्य है। पूर्व के महापुरुषों ने इस तत्त्वार्थसूत्र को 'अर्हत् प्रवचनसंग्रह' रूप में भी जाना है।



पुरोवचन



पूर्वधर महर्षि श्री उमास्वातिवाचक प्रणीत श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र के इस चतुर्थ अध्याय में कुल सूत्रों की संख्या तिरैपन (५३) है।

जीव तत्त्व का निरूपण चल रहा है। उसमें तीसरे अध्याय में नारक, मनुष्य और तिर्यञ्च जीवों के आश्रय से प्रतिपादन किया गया है। अब इस चतुर्थ अध्याय में देवगति सम्बन्धी अनेक विषयों का प्रतिपादन करते हैं।

इस अध्याय में देवों के भेद, ज्योतिष्क देवों की लेश्या, भवनपति आदि प्रत्येक के अवान्तर भेद, व्यन्तर-ज्योतिषी देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल का अभाव, भवनपति तथा व्यन्तरनिकाय में इन्द्रों की संख्या, भवनपति और व्यन्तरनिकाय में इन्द्रों की संख्या, भवनपति और व्यन्तरनिकाय में लेश्या, देवों में मैथुन-सेवन की विचारणा, ईशान देवलोक से परे मैथुनसेवन का अभाव, भवनपति निकाय के दश भेद व्यन्तरनिकाय के आठ भेद, तीसरे ज्योतिष्क निकाय के पाँच भेद, ज्योतिष्क विमानों के परिभ्रमण क्षेत्र, ज्योतिष्क गति से काल, मनुष्य लोक के बाहर ज्योतिष्क की स्थिरता, वैमानिक देवों के मुख्य दो भेद, वैमानिक निकाय के देवलोक का अवस्थान, वैमानिक भेदों के क्रमशः नाम, ऊपर-ऊपर स्थित आदिक की अधिकता, ऊपर-ऊपर गति आदिक की हीनता, देवों सम्बन्धी विशेष माहिती, वैमानिक निकाय में लेश्या, कल्प की अवधि, लोकान्ति देवों का स्थान, नव प्रकार के लोकान्तिक देव, अनुसरवासी विजयादि चार विमान के देवों का संसार-काल, तिर्यञ्च सजावाले प्राणी, उनकी स्थिति, भवनपति निकाय में उत्तरार्ध के इन्द्रों की उत्कृष्ट स्थिति, भवनपति निकाय के

इन्द्रों की स्थिति में अपवाद, जघन्य स्थिति के अधिकार का प्रारम्भ, व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट स्थिति, ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट स्थिति जिज्ञासुओं को इस चतुर्थ अध्याय से उपर्युक्त जानकारी होगी।
तथा ज्योतिष्क देवों की जघन्य स्थिति का वर्णन है।



॥ अहंम् ॥

ॐ श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रम् ॐ

तस्यायं

चतुर्थोऽध्यायः

अधोलोक-मध्यलोकयोः वर्णनं तृतीयेऽध्याये कृतं, चतुर्थेऽध्याये तु ऊर्ध्वलोकस्य वर्णनमत्र क्रियते ।

❀ देवानां भेदाः ❀

ॐ मूलसूत्रम्—

देवाश्चतुर्निकायाः ॥ ४-१ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

यदा देवाः अधोलोके मध्यलोकेऽपि च निवसन्ति तदा ऊर्ध्वलोक एव देवानां आवासभूमिः कथम् ? अत्रोच्यते—

देवाश्चतुर्निकायाः भवन्ति । ते चानुक्रमतः भवनवासी-व्यन्तर-ज्योतिषी-वैमानिकाः । भवनवासी अधोलोके, व्यन्तर-ज्योतिषाश्च तिर्यग्लोके भवन्ति । किन्तु तेषु देवेषु वैमानिकदेवाः प्रधानदेवाः सन्ति । ते च ऊर्ध्वलोके भवन्ति । के देवाः ? दिव्यन्तीति देवाः । अन्यच्च क्रोडाविजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतीनामर्थे व्यवहियते दिव् धातुः । देवगतिनामकर्मोदयो देवक्रीडासक्तः क्षुधा-पिपासारहितः, तस्य बपुः—रस-रक्तादि रहितः, दीप्तिमन्तो देवाः । शीघ्रचपल-गतियुक्तदेवः ।

देवानां स्वरूपवर्णनं कृतञ्च, तेषां चत्वार निकायाः अपि वर्णिताः । किन्तु ते देवा इन्द्रियैः न प्रत्यक्षाः तर्हि तेषामस्तित्वविषये सन्देहः क्रियते । अत्रोच्यते, देवगतेः एकदेशप्रत्यक्षीभूतेन शेषापि अनुमानप्रमाणेन ज्ञायन्ते । यत् चतुर्निकायेषु ज्योतिष्क-देवाः प्रत्यक्षाः सन्ति ॥ ४-१ ॥

❧ सूत्रार्थ—देव चार निकाय वाले हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक ॥ ४-१ ॥

卐 विवेचनमृत 卐

तीसरे अध्याय में नारकी, मनुष्य तथा तिर्यक् जीवों का वर्णन किया गया है, अब इस चतुर्थ अध्याय में देवों-देवताओं का वर्णन करते हैं।

देव चार निकाय वाले हैं। एक प्रकार के समूह या जाति को निकाय कहते हैं। इसलिए देवों के चार निकाय हैं। अर्थात् देव-देवता चार निकाय यानी चार प्रकार के होते हैं। (१) भवनपति, (२) व्यन्तर, (३) ज्योतिष्क-ज्योतिषी और (४) वैमानिक। उन देवों के निवास और उत्पत्ति के स्थान भिन्न-भिन्न हैं और ये चार प्रकार के हैं। उनका वर्णन करते हुए कहा है कि—

अधोलोक में पहली रत्नप्रभा पृथ्वी का पिण्ड एक लाख और अस्सी हजार (१,८०,०००) योजन का है। उसमें ऊपर और नीचे का एक-एक हजार योजन छोड़कर मध्य के एक लाख और इट्टोत्तर हजार (१,७८,०००) योजन में भवनपति देवों के निवास है। ऊपर जो एक हजार योजन का भाग छोड़ा है, उसमें से ऊपर नीचे सौ-सौ योजन छोड़कर मध्य में आठ सौ योजन के भाग में व्यन्तर देवों के निवास है। ऊपर के सौ योजन में से ऊपर नीचे दस-दस योजन छोड़कर मध्य के नब्बे योजन में वाण-व्यन्तर देवों के निवास हैं। समभूतला पृथ्वी से ऊँचे (ऊर्ध्व) सात सौ नब्बे (७६०) योजन प्रमाण विस्तार में ज्योतिष देवों के निवास हैं। वहाँ से कुछ अधिक अर्धरज्जु ऊपर जाने के पश्चात् वैमानिक देवों की सीमा हृद प्रारम्भ होती है।

यहाँ पर भवनपति आदि देवों के जो स्थान बताये गये हैं, वे स्थान जन्म के आश्रय से हैं। किन्तु अपने-अपने उत्पत्ति स्थान में उत्पन्न हुए ऐसे भवनपति आदि देव लवणसमुद्र आदि स्थलों में आये हुए निवासों में भी रहते हैं तथा जम्बूद्वीप की जगती के ऊपर आई हुई वेदिका पर और अन्य अति रमणीय स्थलों में क्रीड़ा करते हैं।

मध्यलोक में जम्बूद्वीप से असंख्य द्वीप-समुद्र जाने के बाद भी व्यन्तर देवों के आवास हैं। वहाँ पर कोई व्यन्तर देव उत्पन्न नहीं होता है। पूर्व में बताये हुए स्थानों में उत्पन्न हुए व्यन्तरदेव ही वहाँ आकर निवास करते हैं।

❧ प्रश्न—जब देव-देवता अधोलोक और मध्यलोक में भी रहते हैं, तो फिर ऊर्ध्वलोक को ही देवों/देवताओं का आवास क्यों कहा जाता है ?

उत्तर—देवों/देवताओं के चार निकाय हैं। भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक। उनमें भवनवासी अधोलोक में रहते हैं, व्यन्तर तथा ज्योतिषी तिर्यक्-तिर्य्छालोक में रहते हैं। किन्तु देवों में वैमानिकदेव मुख्य-प्रधान हैं, तथा उनका आवास-निवास ऊर्ध्वलोक में ही है। इस हेतु से ऊर्ध्वलोक को ही देवों/देवताओं का आवास-निवास कहा गया है।

❀ प्रश्न—देव किसे कहते हैं ?

उत्तर—‘दिव्यन्तीति देवाः ।’ इस निरुक्ति से ही इसका उत्तर मिल जाता है । देव शब्द दिव् धातु से बना है, जो कि क्रीड़ा, विजिगिषा, व्यवहार, छुति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति तथा गति अर्थ में आती है । देवगति नामकर्म के उदय से ही जो जीव देव पर्याय को धारण करता है, अर्थात् देवरूप में उत्पन्न होता है, वह आत्मस्वभाव से ही क्रीड़ा करने में आसक्त रहता है । उसको भूख-प्यास की बाधा नहीं होती । उसका देह-शरीर रस और रक्तादिक से रहित, तथा देदीप्यमान होता है । उसकी गति भी अति शीघ्र और चपल होती है । इत्यादि अर्थों के कारण ही उसे देव कहते हैं ।

❀ प्रश्न—देव प्रत्यक्ष इन्द्रियों के द्वारा दिखाई नहीं देते हैं, इसलिए उनका मूल में अस्तित्व भी है या नहीं ? अथवा यह कैसे जाना जाता है कि वास्तव में देवगति का अस्तित्व है ?

उत्तर—देवगति के एकदेश को देखकर शेष भेदों के अस्तित्व को भी अनुमान से ही जाना जा सकता है । जैसे भवनवासी आदि चार निकायों में से ज्योतिष्क-ज्योतिषी देवों का अस्तित्व प्रत्यक्ष है ॥ (४-१)

❀ ज्योतिष्कदेवानां लेश्या ❀

❀ मूलसूत्रम्—

तृतीयः पीतलेश्यः ॥ ४-२ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

उपर्युक्ताः चतुर्निकायाः तेषु देवनिकायेषु तृतीयः देवनिकायः पीतलेश्यः एव भवति । कश्चासौ ? ज्योतिष्केति ॥ ४-२ ॥

❀ सूत्रार्थ—तीसरी (ज्योतिष्क-ज्योतिषी) निकाय के देव पीत यानी तेजो-लेश्यावाले होते हैं ॥ ४-२ ॥

❀ विवेचनान्त ❀

पूर्व सूत्र में देवों के जो चार निकाय बताये हैं, उनमें से तीसरे निकाय के देवों के पीतलेश्या यानी तेजोलेश्या ही होती है । अर्थात् वे तेजोलेश्या वाले ज्योतिष्क-ज्योतिषी देव कहलाते हैं । यहाँ लेश्या शब्द वर्ण अर्थ में है । द्रव्य लेश्या अर्थात् शारीरिक वर्ण से है, किन्तु अर्धवसाय रूप भावलेश्या नहीं है । भावलेश्या तो चारों निकायों के देवों में कृष्णादि छत्रों प्रकार की होती हैं । आकाश में रहे हुए चन्द्र और सूर्य इत्यादि विमान प्रत्यक्ष दिखते हैं । उनमें रहने वाले देव ज्योतिष्क देव कहे जाते हैं । जिस तरह रहने के स्थान-भूतानों को देखकर, उनमें रहने वालों का

अस्तित्व अनुमान से मालूम होता है, उसी तरह उन चन्द्र-सूर्य इत्यादि देवों का अस्तित्व भी जान लेना चाहिए ॥ (४-२)

❀ देवानामवान्तरभेदाः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

दशाऽष्ट-पञ्च-द्वादश-विकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ४-३ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

द्विविधाः वैमानिकाः, कल्पोपपन्नकल्पातीताः । तेषु च वक्ष्यमाणेन्द्रसामानिक-भेदाः भवन्ति देवानाम् । कल्पैव स्वर्गः । ते च देवनिकाया यथासंख्यमेवं विकल्पा जायन्ते । तद्यथा—

दशविकल्पा भवनवासिनोऽसुरकुमारादय दशभेदाः । अष्टविकल्पा व्यन्तराः किन्नरादयः । पञ्चविकल्पा ज्योतिष्काः सूर्यादयः । द्वादशविकल्पाः वैमानिका कल्पोपपन्नपर्यन्ताः सौधर्मादिषु । प्रथमसौधर्मदेवलोकाद् द्वादशपर्यन्ताऽच्युतदेवलोक-पर्यन्तः 'कल्पः' कथ्यते । तत्रत्यानां देवानां द्वादशभेदाः । द्वादशदेवलोकानां इन्द्राः द्वादशाः । अच्युतदेवलोकोपरि देवाः द्विविधा ग्रैवेयकाः, अनुत्तरवासिनश्च । ते चाहमिन्द्राः इन्द्राभावात् ॥ ४-३ ॥

❀ सूत्रार्थ—वैमानिक देव कल्पोपपन्न और कल्पातीत के भेद से दो प्रकार के हैं । उपर्युक्त भवनपति आदि चारों निकाय के कल्पोपपन्न देवों-देवताओं के क्रमशः दस, आठ, पाँच और बारह भेद हैं ॥ ४-३ ॥

卐 विवेचनमृत 卐

पूर्वोक्त भवनपति आदि चार प्रकार के देवों के अनुक्रम से भवनपति के दस, व्यन्तर के आठ, ज्योतिष्क के पाँच और वैमानिक के बारह भेद होते हैं । ये समस्त देव कल्पोपपन्न कहे जाते हैं । कल्प यानी मर्यादा-आचार है । जहाँ छोटे-बड़े आदि की परस्पर मर्यादा होती है तथा जहाँ पूज्यों की पूजा इत्यादि करने के आचार होते हैं, वहाँ उत्पन्न हुए देव कल्पोपपन्न कहलाते हैं । जैसे—भवनपति देवों से लेकर बारहवें अच्युतदेवलोक पर्यन्त देवों में छोटे-बड़े की मर्यादा, तथा पूज्य की पूजा प्रमुख का आचार होता है । इसलिए भवनपति देवों से अच्युत देवलोक के देवों तक सभी कल्पोपपन्न कहे जाते हैं ।

इस तरह कहने का तात्पर्य यह है कि—वैमानिक देवों के दो भेद हैं । कल्पोपपन्न और कल्पातीत । इनमें से उक्त भेद कल्पोपपन्न के ही जानने चाहिए । क्योंकि, सौधर्मदेवलोक से

यावत् अच्युत देवलोक पर्यन्त बारह देवलोक कल्प कहलाते हैं तथा बारह देवलोक के ऊपर के देव कल्पातीत हैं । इसका वर्णन आगे करेंगे ॥ (४-३)

❀ चतुर्निकायकानां श्रवान्तरभेदाः ❀

मूलसूत्रम्—

इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद्या-ऽऽत्मरक्ष-लोकपालाऽनीक-

प्रकीर्णकाऽऽभियोग्य-किल्बिषिकाश्चैकशः ॥ ४-४ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

एतेषु देवनिकायेषु देवाः दशविधाः भवन्ति प्रतिनिकाये । ते च इन्द्राः सामानिकाः त्रायस्त्रिंशाः पारिषद्याः आत्मरक्षाः लोकपालाः अनीकानि अनीकाधिपतयः प्रकीर्णकाः आभियोग्याः किल्बिषिकाश्चेति ।

तत्रेन्द्राः भवनवासि-व्यन्तर-ज्योतिष्कविमानाधिपतयः । इन्द्रसदृशाः सामानिकाः श्रमात्यपितृगुरुपाध्यायमहत्तरवत् केवलमिन्द्रत्वहीनाः । त्रायस्त्रिंशा मन्त्रिपुरोहित-स्थानीयाः पारिषद्याः वयस्यस्थानीयाः । आत्मरक्षा शिरोरक्षस्थानीयाः । लोकपाला आरक्षिकार्थचरस्थानीयाः । अनीकाधिपतयो दण्डनायकस्थानीयाः । अनीकान्यनीकस्थानीयान्येव । प्रकीर्णकाः पौरजनपदस्थानीयाः । आभियोग्याः दासस्थानीयाः । किल्बिषिका अन्तस्थस्थानीया इति । यत्र यथा मृत्युलोके राज्यव्यवस्थापनार्थं अङ्गानां स्थापनं क्रियते तथैव देवलोक देवेषु अपि । इन्द्रस्य स्थानापन्नाः सामानिकामात्याः पितरः गुरवश्चेति ॥ ४-४ ॥

❀ सूत्रार्थ—उपर्युक्त चारों निकायों में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद्य, आत्मरक्षक, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक आभियोग्य और किल्बिषिक के भेद से दस प्रकार के देव रहते हैं ॥ ४-४ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

पूर्वोक्त चार निकायों में प्रत्येक निकाय के इन्द्र, सामानिक इत्यादि एकैक भेद करने से उक्त दस भेद होते हैं । वे दस प्रकार कौनसे हैं सो बताते हैं—

(१) इन्द्र—जो स्व-स्व निकायवर्ती समस्त देवों के अधिपति यानी स्वामी हैं उनको 'इन्द्र' कहते हैं ।

(२) सामानिक—जो इन्द्र के समान ऋद्धि वाले तथा पिता, गुरु और उपाध्याय आदि के समान सम्मान्य महत्त्व या महिमा वाले हों अर्थात् इन्द्र को भी आदरणीय एवं पूजनीय हों (केवल इन्द्रत्व उनमें नहीं होता) ऐसे वे देव सामानिक कहे जाते हैं ।

(३) त्रायस्त्रिंश—जो मन्त्री या पुरोहित का काम करते हैं वे देव त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं । अर्थात्—इन्द्र को सलाह देने वाले मन्त्री तथा शान्तिक-पौष्टिक कर्म द्वारा प्रसन्न रखने वाले पुरोहित के समान देव त्रायस्त्रिंश कहे जाते हैं । भोगों में अति आसक्त रहने से उनको दोगुंदाक भी कहते हैं ।

(४) पारिषद्य—जो मित्र के समान हैं, या सभासदों के स्थानापन्न हैं, उन देवों को पारिषद्य कहते हैं । अर्थात्—जो इन्द्र की सभा के सम्य हैं, वे इन्द्र के मित्र भी होते हैं । तथा इन्द्र को समय-समय पर विनोद आदि द्वारा आनन्द प्रदान करते हैं ।

(५) आत्मरक्ष—शस्त्र-हथियार लिये हुए पीठ की तरफ रक्षा करने के लिए जो खड़े रहते हैं, तथा स्वामी की सेवा में भी सदा सन्नद्ध रहा करते हैं, ऐसे अङ्गरक्षकों के समान जो देव होते हैं, उनको आत्मरक्ष-आत्मरक्षक कहते हैं ।

अर्थात्—इन्द्र की रक्षा के लिए अपने अंग पर कवच धारण कर, शस्त्र-हथियार युक्त इन्द्र के पीछे खड़े रहने वाले देव । यद्यपि इन्द्र को किसी प्रकार का भय होता नहीं, तो भी इन्द्र की विभूति बताने के लिए तथा अन्य देवों पर भी प्रभाव डालने के लिए आत्मरक्षक देव होते हैं ।

(६) लोकपाल—जो सरहद भूमि की चोर इत्यादिक से रक्षा करने वाले चोकियात-कोतवाल के तुल्य हैं, उनको लोकपाल कहते हैं ।

(७) अनीक—सैन्य-लश्कर तथा सैनिक, सेनाधिपति । जो सेनाधिपति के समान हैं, उनको अनीकाधिपति कहते हैं ।

(८) प्रकीर्णक—जो नगरवासी के समान हैं—प्रजा के स्थानापन्न हैं, उनको प्रकीर्णक कहते हैं ।

(९) आभियोग्य—जो दास-नौकर-सेवक के समान हैं, उनको आभियोग्य कहते हैं ।

(१०) किल्बिषिक—जो शूद्र यानी नीच जाति के समान हैं, अर्थात् नगर के बाह्य रहने वाले चाण्डालादि के तुल्य हैं, उनको किल्बिषिक कहते हैं । (अन्त्यज के समान हलके देव) यद्यपि यहाँ मनुष्य लोक की भाँति देवलोक में इन किल्बिषिक देवों को शूद्रों के कार्य नहीं करने पड़ते हैं, किन्तु इनकी गिनती हलके देवों की कोटि में होती है । इसलिए अन्य देव उनको हलकी दृष्टि से देखते हैं ।

उपर्युक्त कथन से देवों के चारों ही निकायों में ये दस प्रकार के देव होते हैं । अतएव उसमें जो विशेषता है, उसको अब बतायेंगे ॥ ४-४ ॥

❀ व्यन्तर-ज्योतिष्कदेवेषु त्रायस्त्रिंश-लोकपालदेवयोः अभावः ❀

❀ मूलसूत्रम्—

त्रायस्त्रिंश-लोकपालवज्या व्यन्तर-ज्योतिष्काः ॥ ४-५ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

तत्र चतुर्निकायेषु व्यन्तराः ज्योतिष्कनिकायेषु चाष्टविधाः देवाः भवन्ति ।
त्रायस्त्रिंश-लोकपालवज्या इति ॥ ४-५ ॥

❀ सूत्रार्थ—व्यन्तर और ज्योतिष्क निकाय में त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल नहीं होते हैं । अर्थात्—व्यन्तर तथा ज्योतिष्क देव त्रायस्त्रिंश और लोकपाल रहित होते हैं ॥ ४-५ ॥

❀ विवेचनामृत ❀

पूर्वसूत्र के भवनपति इत्यादि चारों जाति के अवान्तर प्रत्येक भेद के इन्द्र आदि दस भेद कहे हैं, किन्तु व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल का अभाव होने से ही इस सूत्र में इन दोनों का निषेध किया है । इससे व्यन्तर और ज्योतिष्क के अवान्तर प्रत्येक भेद के त्रायस्त्रिंश तथा लोकपाल रहित इन्द्रादि आठ भेद हैं ।

अर्थात्—इस सूत्र का सारांश यह है कि, आठ प्रकार के व्यन्तर तथा पाँच प्रकार के ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल रहित शेष इन्द्रादिक आठ भेद ही होते हैं ॥ ४-५ ॥

❀ भवनपति-व्यन्तरदेवयोः इन्द्राणां सङ्ख्या ❀

❀ मूलसूत्रम्—

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ४-६ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

चतुर्षु देवनिकायेषु पूर्वयोर्देवनिकाययोः भवनवासि-व्यन्तरयोः देवविकल्पानां द्वौ द्वाविन्द्री भवतः । तद्यथा—भवनवासिषु तावद् द्वौ असुरकुमाराणां इन्द्रौ भवतः चमरो बलिश्च । नागकुमाराणां इन्द्रौ धरणी भूतानन्दश्च । विद्युत्कुमाराणां इन्द्रौ हरिः हरिहसश्च । सुपर्णकुमाराणां इन्द्रौ वेणुदेवो वेणुदारी च । अग्निकुमाराणां इन्द्रौ अग्निशिखः अग्निमाणवश्च । वायुकुमाराणां इन्द्रौ वेलम्बः प्रभञ्जनश्च । स्तनितकुमाराणां इन्द्रौ सुघोषः महाघोषश्च । उदधिकुमाराणां इन्द्रौ जलकान्तः

जलप्रभश्च । द्वीपकुमाराणां इन्द्रौ पूर्णः अवशिष्टश्च । दिक्कुमाराणां अमितः अमितवाहनश्चेति ।

व्यन्तरेषु अपि द्वौ किन्नराणां इन्द्रौ किन्नरः किम्पुरुषश्च । किम्पुरुषाणां इन्द्रौ सत्पुरुषः महापुरुषश्च । महोरगाणां इन्द्रौ अतिकायः महाकायश्च । गन्धर्वाणां इन्द्रौ गीतरतिः गीतयशाश्च । यक्षाणां इन्द्रौ पूर्णभद्रः मणिभद्रश्च । राक्षसानां इन्द्रौ भीमः महाभीमश्च । भूतानां इन्द्रौ प्रतिरूपः अतिरूपश्च । पिशाचानां कालः महाकालश्चेति ।

ज्योतिष्काणां तु बहवः सूर्याः चन्द्रमसश्च । वैमानिकानां एकैक एव । ते चानुक्रमतः सौधर्मदेवलोके शक्रेन्द्रः, ईशानदेवलोके ईशानेन्द्रः, सनत्कुमारदेवलोके सनत्कुमारेन्द्रः, माहेन्द्रदेवलोके महेन्द्रः, ब्रह्मादेवलोके ब्रह्मान्द्रः, लान्तकदेवलोके लान्तकेन्द्रः, महाशुक्रदेवलोके महाशुक्रेन्द्रः, सहस्रारदेवलोके सहस्रारेन्द्रः, आनत-प्राणतदेवलोकयोः प्राणतेन्द्रः, आरण-अच्युतदेवलोकयोः अच्युतेन्द्रश्चेति ।

इत्थं सर्वकल्पेषु स्वकल्पाह्वाः परतस्तु इन्द्रादयो दशविशेषा न भवन्ति, सर्वेऽपि स्वतन्त्राः । ते स्वतन्त्रा अहमिन्द्राः कथ्यन्ते गमनागमनरहिताश्च ते । द्वादशाच्युतस्वर्गपर्यन्तः कल्पः । अतः तत्रैवेन्द्रादिकाः कल्पन्ते ॥ ४-६ ॥

ॐ सूत्रार्थ-पहले की दो (भवनवासी और व्यन्तर) निकाय में दो-दो इन्द्र हैं ॥ ४-६ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

पूर्वोक्त चार निकायों में से पहली दो भवनवासी तथा व्यन्तर निकाय में जितने देवों के विकल्प हैं, उन समस्त में दो-दो इन्द्र होते हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं—

भवनवासियों के असुरकुमार इत्यादि दस भेद हैं । जिनमें से असुरकुमारों के चमर और बलि नाम के दो इन्द्र हैं । इस तरह नागकुमारों के धरण तथा भूतानन्द, विद्युत्कुमारों के हरि और हरिहस, सुपर्णकुमारों के वेणुदेव तथा वेणुदारी, अग्निकुमारों के अग्निशिख और अग्निमाशख, वातकुमारों के वेलम्ब तथा प्रभञ्जन, स्तनितकुमारों के सुघोष और महाघोष, उदधिकुमारों के अलकान्त तथा जलप्रभ, द्वीपकुमारों के पूर्ण और अवशिष्ट एवं दिक्कुमारों के अमित तथा अमितवाहन ये दो इन्द्र हैं ।

❖ भवनवासियों के बीस इन्द्रों के नाम का कोष्ठक ❖

संख्या	देवों के नाम	दक्षिणेन्द्र	उत्तरेन्द्र
१	असुरकुमार	चमरेन्द्र	बलीन्द्र
२	नागकुमार	धरणेन्द्र	भूतानदेन्द्र
३	विद्युत्कुमार	हरीन्द्र	हरिहसेन्द्र
४	सुपणकुमार	वेणुदेवेन्द्र	वेणुदारीन्द्र
५	अग्निकुमार	अग्निशिखेन्द्र	अग्निमाणवेन्द्र
६	वातकुमार	वेलम्बेन्द्र	प्रभञ्जनेन्द्र
७	स्तनितकुमार	सुघोषेन्द्र	महाघोषेन्द्र
८	उदधिकुमार	जलकान्तेन्द्र	जलप्रभेन्द्र
९	द्वीपकुमार	पूर्णन्द्र	अवशिष्टेन्द्र
१०	दिङ्कुमार	अमितेन्द्र	अमितवाहनेन्द्र

❖ व्यन्तरनिकाय के सोलह इन्द्रों के नाम का कोष्ठक ❖

संख्या	देवों के नाम	दक्षिणेन्द्र	उत्तरेन्द्र
१	किन्नर	किन्नरेन्द्र	किम्पुरुषेन्द्र
२	किंपुरुष	सत्पुरुषेन्द्र	महापुरुषेन्द्र
३	महोरग	अतिकायेन्द्र	महाकायेन्द्र
४	गन्धर्व	गीतरतीन्द्र	गीतयशेन्द्र
५	यक्ष	पूर्णभद्रेन्द्र	मणिभद्रेन्द्र
६	राक्षस	भीमेन्द्र	महाभीमेन्द्र
७	भूत	प्रतिरूपेन्द्र	अतिरूपेन्द्र
८	पिशाच	कालेन्द्र	महाकालेन्द्र

प्रस्तुत सूत्र में पहले की दो निकायों 'भवनपति-व्यन्तर' में दो-दो इन्द्र कहे हैं। इससे यह सूचित होता है कि शेष दो निकायों में उक्त संख्या का अभाव है।

ज्योतिष्क निकाय में सूर्य और चन्द्र ये दो इन्द्र हैं, किन्तु ये सूर्य और चन्द्र एक-एक ही नहीं, किन्तु गिनती में असंख्याते हैं। क्योंकि-मनुष्यलोक में चन्द्र और सूर्य के २६४ विमान कहे हैं, तथा शेष तिर्था लोक में असंख्याते विमान हैं। उन सर्व के पृथक् दो इन्द्र हैं, इसलिए असंख्याते इन्द्र होते हैं। वैमानिक निकाय में प्रत्येक कल्प का एक-एक इन्द्र है। जैसे—

- (१) पहले सौधर्म देवलोक में शक्नेन्द्र है ।
- (२) दूसरे ईशान देवलोक में ईशानेन्द्र है ।
- (३) तीसरे सनत्कुमार देवलोक में सनत्कुमारेन्द्र है ।
- (४) चौथे माहेन्द्रदेवलोक में महेन्द्र है ।
- (५) पाँचवें ब्रह्मदेवलोक में ब्रह्मेन्द्र है ।
- (६) छठे लान्तकदेवलोक में लान्तकेन्द्र है ।
- (७) सातवें महाशुकदेवलोक में महाशुकेन्द्र है ।
- (८) आठवें सहस्रार देवलोक में सहस्रारेन्द्र है ।
- (९) नवमे आनतदेवलोक तथा—
- (१०) दसवें प्राणतदेवलोक में एक ही प्राणतेन्द्र है ।
- (११) ग्यारहवें आरणदेवलोक तथा—
- (१२) बारहवें अच्युतदेवलोक में एक ही अच्युतेन्द्र है ।

उन इन्द्रों के नाम कल्पों के नाम के अनुसार ही हैं । इसी प्रकार सर्व देवलोकों में उसी देवलोक के नाम वाले एकैक इन्द्र हैं । किन्तु आनत-प्राणत नाम वाले इन दो देवलोकों का एक ही इन्द्र है, उसे प्राणतेन्द्र कहते हैं तथा आरण-अच्युत नामवाले इन दो देवलोकों में भी एक ही इन्द्र है, उसे अच्युतेन्द्र कहते हैं एवं भवनपतियों के २० इन्द्र हैं, व्यन्तरों के १६ इन्द्र हैं, ज्योतिषियों के २ इन्द्र हैं तथा वैमानिकों के १० इन्द्र हैं । सब मिलाकर कुल ४८ इन्द्र हुए । अन्य शास्त्रों में भी ६४ इन्द्र कहे हुए हैं । जैसे—दस भवनपतियों के २० इन्द्र, सोलह व्यन्तरों के ३२ इन्द्र, ज्योतिषियों के २ इन्द्र, तथा वैमानिकों के १० इन्द्र । सब मिलाकर कुल ६४ इन्द्र माने गये हैं । ये सभी सम्मिलित हो के श्री तीर्थंकर भगवान के जन्माभिषेकादि महोत्सव करने के लिए अवश्य ही आते हैं ।

सारांश—असुरकुमार इत्यादिक प्रत्येक भेद के देवों में दो-दो इन्द्र होने से भवनपति के कुल २० इन्द्र हैं । व्यन्तरनिकाय के व्यन्तर और बाणव्यन्तर इस तरह दो भेद हैं । इन दोनों के अवान्तर भेद आठ-आठ हैं । प्रत्येक अवान्तर भेद के देवों में दो-दो इन्द्र होने से व्यन्तरों के १६ भेद तथा बाणव्यन्तरों के १६ भेद, दोनों मिलाकर व्यन्तरनिकाय के कुल ३२ इन्द्र हैं ।

ज्योतिष्कनिकाय के सूर्य और चन्द्र ये दो इन्द्र हैं । वैमानिक निकाय के प्रथम आठ देवलोक के ८ इन्द्र तथा नौवें-दसवें देवलोक का एक इन्द्र एवं ग्यारहवें-बारहवें देवलोक का एक इन्द्र, इस तरह कुल १० इन्द्र हैं । मिलकर इन समस्त इन्द्रों की संख्या ६४ होती है । ये चौसठ इन्द्र प्रत्येक तीर्थंकर के जन्म होने के पश्चात् प्रभु को मेरुपर्वत के शिखर पर आये हुए पाण्डुक वन में लाते हैं तथा उस वन में स्थित शिलाओं पर विद्यमान सिंहासन पर उनका जन्माभिषेक करते हैं ।

ज्योतिष्क देवों में प्रत्येक सूर्यविमान में तथा प्रत्येक चन्द्रविमान में एक-एक इन्द्र होता है । आकाश में सूर्य के विमान एवं चन्द्र के विमान असंख्यात होते हुए भी यहाँ जाति की अपेक्षा से ज्योतिषी देवों के दो ही इन्द्रों की गिनती की है । इसलिए यहाँ ज्योतिषी देवों के दो ही इन्द्र जानना । बारह देवलोक से ऊपर नौ प्रवेयक तथा पाँच अनुत्तर आये हुए हैं । वहाँ के देव कल्पातीत अर्थात् कल्प से रहित होने से वहाँ इन्द्र आदि के भेद नहीं हैं ॥ ४-६ ॥

❀ भवनपति-व्यन्तरनिकाययोः लेश्या ❀

❀ मूलसूत्रम्—

पीतान्तलेश्याः ॥ ४-७ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

प्रथम-द्वयोः निकाययोः देवानां पीतपर्यन्तश्चतस्रलेश्याः भवन्ति । अत्र लेश्याभिप्रायं द्रव्यलेश्या, अर्थात् भवनवासी-व्यन्तरनिकायानां देवानां वर्णः कृष्ण-नील-कापोत-पीतः । एतेषु चतुर्षु लेश्यासु कापि एकलेश्यास्वरूपं शक्यते । न कोऽपि नियमः भावलेश्यायाः पूर्वयोः निकाययोः देवानां षड् लेश्यापि सम्भवाः ।

तत्रापि त्रिविधाः देवाः । तेष्वेकः देविसहितश्च प्रवीचारः । द्वितीयः देविविरहितः किन्तु प्रवीचारः तृतीयः देविप्रवीचारहीनः ॥ ४-७ ॥

❀ सूत्रार्थ—उक्त दोनों निकायों में पीत पर्यन्त चार लेश्याएँ होती हैं ॥ ४-७ ॥

❀ विवेचनामृत ❀

पहले दोनों भवनपति-व्यन्तर निकायों के देवों के पीतपर्यन्त चार लेश्याएँ मानी गई हैं । अर्थात् भवनपति और व्यन्तर जाति के देवों में शारीरिक वर्ण रूप द्रव्यलेश्या चार मानने में आई हैं । यहाँ पर लेश्या से अभिप्राय द्रव्यलेश्या का है । अर्थात् लेश्या शब्द का प्रयोग शारीरिक वर्ण के अर्थ में करने में आया है । क्योंकि अध्यवसाय रूप लेश्या तो छहों ही होती हैं ।

भवनवासी और व्यन्तर निकाय के देवों के देह-शरीर का वर्ण कृष्ण, नील, कापोत और पीत इन चार लेश्याओं में से किसी भी एक लेश्या रूप हो सकता है ।

भावलेश्या के विषय में किसी भी प्रकार का नियम नहीं है । दोनों निकायों के देवों के छहों प्रकार की भावलेश्या हो सकती है ।

पूर्वकथित चारों निकाय के देव तीन विभागों में विभक्त किये जा सकते हैं—

- (१) एक तो वे हैं कि जिनके देवियाँ भी हैं तथा प्रवीचार भी है ।
 (२) दूसरे वे हैं कि जिनके देवियाँ नहीं हैं, तो भी प्रवीचार पाया जाता है ।
 (३) तीसरे वे हैं कि जिनके न देवियाँ हैं और न प्रवीचार है ।

इनमें से वे देव कौनसे हैं जिनके देवियाँ हैं तथा प्रवीचार भी है ? उन्हीं को बताने के लिए अब आगे के सूत्र में कहते हैं ॥ (४-७)

❀ देवीनां प्रचारणा ❀

卐 मूलसूत्रम्—

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ४-८ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

काय नाम शरीरम् । प्रवीचारं मैथुनसेवनम् । शरीरेणोन्द्रियैः स्त्रीसम्भोगः कायप्रवीचारः । भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्म-ईशान-पर्यन्ताः देवाः कायप्रवीचाराः भवन्ति । कायेन येषां प्रवीचारः ते कायप्रवीचाराः । ते चातिसंकलेशयुक्ताः प्रवीचारो नाम मैथुनविषयोपसेवनम् । ते हि संक्लिष्टकर्माणि मनुष्यवत् मैथुनसुख-मनुप्रलीयमानाः तीव्रानुशयाः कायसंकलेशजं सर्वाङ्गीणं स्पर्शसुखमवाप्य प्रीतिं वारतिमुपलभन्ते ।

अत्र देवीनां अस्तित्वं किमपि नैव निर्दिष्टम् । अतः व्याख्यानतो 'विशेषः प्रतिपत्तिः' इत्यागमव्याख्यानेन ज्ञातव्यम् । तथाहि—

“अस्माद् भवनवासि-व्यन्तर-ज्योतिष्क-सौधर्मेशानकल्पेषु जन्मोत्पद्यन्ते देव्यः, न परत इति ।” (श्री सिद्धसेनगणी) ॥ ४-८ ॥

❀ सूत्रार्थ—भवनवासी देवों से ईशान स्वर्ग पर्यन्त के देव ही देह-शरीर द्वारा प्रवीचार यानी मैथुन (विषय) सेवन करते हैं ॥ ४-८ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

काय नाम देह-शरीर का है, तथा प्रवीचार नाम मैथुन-विषयसेवन का है । देह-शरीर के द्वारा जो स्त्रीसम्भोग, मैथुन-विषयसेवन किया जाता है, उसे कायप्रवीचार कहते हैं । भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, पहले सौधर्म और दूसरे ऐशान देवलोक के वैमानिक देव ये सभी मनुष्यों के समान काय-प्रवीचार करते हैं । अर्थात् सर्वाङ्ग देह-शरीर द्वारा मैथुन—विषयों का उपभोग-संभोग करते हुए प्रसन्नता को प्राप्त होते हैं ।

सारांश यह है कि—भवनवासी देवों से लेकर ऐशान स्वर्ग तक के देवों के कायप्रवीचार है। वे देह-शरीर द्वारा ही मैथुन-विषयसेवन में अति अनुरक्त-मग्न रहने वाले तथा उसका पुनः सेवन करने वाले हैं। क्योंकि, मैथुन संज्ञा के उनके परिणाम अतिशय तीव्र रहा करते हैं। इसलिए वे देह-शरीर के संक्लेश से उत्पन्न हुए तथा सर्वाङ्गीण स्पर्श-सुख को मनुष्यों की भाँति पाकर ही प्रीति क। प्राप्त हुआ करते हैं।

देवियों के अस्तित्व के विषय में यहाँ पर कोई उल्लेख नहीं किया गया है। “व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः” इस सिद्धान्त के अनुसार उसे आगम के व्याख्यान से जानना चाहिए। आगमशास्त्र में कहा है कि—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क तथा सौधर्म-ऐशान कल्प में ही देवियाँ जन्म के द्वारा उत्पन्न होती हैं, इसके आगे नियमात् उत्पन्न नहीं होती हैं। अतएव जन्म की अपेक्षा देवियों का अस्तित्व ऐशान कल्प पर्यन्त ही है। अन्य प्रकार के देव वे बताये हैं, जिनके देवियों का सद्भाव तो नहीं है, किन्तु प्रवीचार (मैथुनसेवन) की सत्ता पाई जाती है। उनके मैथुनसेवन किस तरह से होता है, यह आगे के सूत्र में कहते हैं॥ (४-८)

॥ मूलसूत्रम्—

शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ॥ ४-६ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

अत्र ये च त्रिविधाः देवाः वर्णिताः तेषु ये अदेवीकाः सप्रवीचाराः, तेषां वर्णनं क्रियते - शेषशब्देनाभिप्रायः कल्पोपपन्नदेवेषु सौधर्मैशानस्वर्गदेवान् विहाय शेषाः। ऐशानादूर्ध्वं कल्पोपपन्नाः देवाः द्वयोर्द्वयोः कल्पयोः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः भवन्ति। ते च यथा सनत्कुमार-माहेन्द्रयोः देवान् मैथुनसुखप्रेप्सुनुत्पन्नास्थान् विदित्वा देव्योपतिष्ठन्ते। नियोगिन्यः देव्यः स्वयमेवोपतिष्ठन्ते। ताः स्पृष्ट्वैव च प्रीतिसुखमुपलभन्ते। तेषां वासनाशा तेनैव विनिवृत्ता भवन्ति।

तथैव ब्रह्मलोकस्य लान्तककल्पस्य वा देवान् एवंभूतोत्पन्नास्थान् ज्ञात्वा देव्यः प्रदीप्तानि स्वभावद्योतितानि सर्वाङ्गसुन्दराणि शृङ्गारोदाराभिजाता कारविलासानि प्रोज्ज्वलवेषभूषाभरणयुक्तानि स्वस्य रूपाणि प्रदर्शयन्ति। तानि दृष्ट्वैव ते सन्तुष्टि-मुपगम्यन्ते निवृत्तास्थाश्च भवन्ति।

तथा च महाशुक्र-सहस्रारयोः देवान् उत्पन्नप्रवीचारस्थान् ज्ञात्वा देव्यः श्रुति-विषयसुखानि अत्यन्ताकर्षकशृङ्गारैः हावभावविलासयुक्त-कटाक्षविक्षेपणैः हसित-कथितनीतशब्दान् उदीरयन्ति। तान् शब्दान् श्रुत्वा प्रीतिं सन्तुष्टिं प्राप्यन्ते ते देवाः।

आनतप्राणतारणाच्युतकल्पवासिनो देवाः प्रवीचाराय उत्पन्नस्थाः देवीः मनसि संकल्पयन्ति । संकल्पमात्रेणैव च ते परां प्रीतिमुपलभन्ते विनिवृत्तास्थाश्च भवन्ति । एभिश्च प्रवीचारैः परतः परतः प्रीतिप्रकर्षविशेषोऽनुपमगुणो भवति, प्रवीचारिणामल्प-सङ्क्लेशत्वात् । अत्रोच्यते मात्रस्पर्शेन दर्शनेन वा शब्दापनेन मनसि संकल्पमात्रेण यत् प्रवीचारसुखं भवति । तेषु चोत्तरोत्तरसुखं न्यूनतरं भवति ।

वस्तुतः प्रवीचारसुखं नैव सुखम्, प्रवीचारसुखं तु वेदना । सा यत्र-यत्र यादृशः प्रमाणेन न्यूना भवेत् सुखस्य प्रमाणं तत्र-तत्राधिकप्रमाणेन भवति । ये च कल्पातीता ते अप्रवीचाराः, अतः मानसिकप्रवीचारीणां अपेक्षया सुखिनः सन्ति ॥ ४-६ ॥

ॐ सूत्रार्थ—वैमानिकों में सौधर्म और ईशान देवों को छोड़कर शेष देवों में दो-दो कल्पवासी देव अनुक्रम से स्पर्श, रूप, शब्द और मन के द्वारा मैथुन सेवन करते हैं । हैं ॥ ४-६ ॥

卐 विवेचनानृत 卐

जैसे भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क, पहले सौधर्म स्वर्ग और दूसरे ईशान स्वर्ग के वैमानिक देव, ये सभी मनुष्यों के समान काय-प्रवीचार करते हैं अर्थात् सर्वाङ्ग शरीर द्वारा मैथुन विषयों का उपभोग—संभोग करते हुए प्रसन्नता को प्राप्त होते हैं; वैसे तीसरे स्वर्ग से यावत् बारहवें स्वर्ग पर्यन्त के देव मनुष्यों के समान सर्वाङ्ग देह-शरीर स्पर्श द्वारा काम-सुख भोगने वाले नहीं होते हैं । वे अन्य रूप से विषयसुख का अनुभव करते हैं । जैसे—

ॐ तीसरे सनत्कुमार और चौथे माहेन्द्र स्वर्ग के देव जब मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है, तब वे देवियों के स्पर्श मात्र से ही मैथुन सेवन करते हैं अर्थात्—कामवासना से तृप्त होकर प्रसन्नचित्त हो जाते हैं ।

ॐ पाँचवें ब्रह्मलोक और छठे लान्तक स्वर्ग के देव जब विषय-वासना उत्पन्न होती है, तब वे उन देवियों के ऐसे मनोहर और सुन्दर शृङ्गार तथा वेषभूषा से सुसज्जित रूप को देखकर ही विषयजनित सुख से सन्तुष्ट हो जाते हैं ।

ॐ सातवें महाशुक्र तथा आठवें सहस्रार स्वर्ग के देव, जब उन्हें प्रवीचार की आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है तब वे देवियों के मुखारविन्द से मनोहर विलासजनित मधुर संगीत, मृदु हास्य तथा अलंकारों की ध्वनि इत्यादिक के श्रवणमात्र से प्रीति को प्राप्त हो जाते हैं तथा उनकी यह अभिलाषा भी उसी से निवृत्त हो जाती है ।

ॐ नौवें आनत, दसवें प्राणत, ग्यारहवें आरारण तथा बारहवें अच्युत इन चार देवलोकों के देव जिस समय प्रवीचार (मैथुन-सेवन) का विचार करते हैं और देवियों का संकल्प करते हैं, उसी

समय अपने मन के संकल्प मात्र से ही वे परमप्रीति को प्राप्त होते हैं। इनको देवियों के स्पर्श या रूप देखने की अथवा मधुर गीतगानादि सुनने की भी आवश्यकता नहीं रहती है।

यहाँ पर इतना ध्यान रखना अतिआवश्यक है कि, देवियों की उत्पत्ति का स्थान पहला सौधर्म देवलोक तथा दूसरा ऐशान देवलोक ही है। तथापि वे कामवासना-विषयसुख की उत्सुकता के कारण या उन देवताओं को अपनी ओर आदरशील जानकर तीसरे इत्यादि देवलोकों में रहे हुए देवों के पास दैवी शक्ति से स्वयमेव पहुँच जाती हैं, और उनकी इच्छा पूर्ण करती हैं।

सौधर्म देवलोक में तथा ईशान देवलोक में दो प्रकार की देवियाँ होती हैं। परिगृहीता और अपरिगृहीता। उनमें देव की पत्नी तरीके रही हुई देवियाँ परिगृहीता कही जाती हैं, तथा सर्व सामान्य अर्थात् सर्व देवों के उपभोग में आने वाली देवियाँ अपरिगृहीता कही जाती हैं। अपरिगृहीता देवियाँ ऊपर के देवलोक के देवों के संकल्प मात्र से ही उस देव के पास दैवी शक्ति से उपस्थित होती हैं, तथा उनकी इच्छाएँ पूर्ण करती हैं।

सारांश यह है कि—

- ❀ पहले और दूसरे देवलोक के देव काया से मैथुन सेवन करते हैं।
- ❀ तीसरे और चौथे देवलोक के देव स्पर्श से मैथुन सेवन करते हैं।
- ❀ पाँचवें और छठे देवलोक के देव देवियों के रूप-दर्शन से मैथुन सेवन करते हैं।
- ❀ सातवें और आठवें देवलोक के देव देवियों के शब्द-श्रवण से मैथुन सेवन करते हैं।
- ❀ नौवें, दसवें, ग्यारहवें और बारहवें देवलोक के देव मन से मैथुन सेवन करते हैं।

इस तरह मैथुन संज्ञा के उदय से देवों में भी कामवासना-विषयवासना होती है। उनमें नीचे-नीचे के देवों में विशेष-विशेष होने से उसको शान्त करने के लिए अधिक यत्न तथा सामग्री की आवश्यकता रहती है। किन्तु ऊपर-ऊपर के देवों में विषयवासना अल्प-अल्प होने से उसकी शान्ति अल्प प्रयत्न से हो जाती है ॥ (४-६)

❀ मैथुनसेवनस्याऽभावः ❀

॥ मूलसूत्रम्—

परेऽप्रवीचाराः ॥ ४-१० ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

पूर्वं वैमानिकदेवेषु कल्पोपपन्नदेवानां प्रवीचारकाणां वर्णनं कृतम्। कल्पोपपन्नेभ्यः परे देवा अप्रवीचाराः भवन्ति। अल्पसंवेलेऽश्वत्वात् ते च स्वस्थाः भवन्ति शीतीभूताः भवन्ति। पञ्चविध-प्रवीचारोद्भावादपि प्रीतिविशेषाद् अपरिमितगुणप्रीतिप्रकर्षाः परमसुखतृप्ताः भवन्ति।

प्रवीचारगन्धरहिता ते कल्पातीतदेवाः आत्मसमुत्थोपम-सुखमनुभवन्ति ।
रूपरसगन्धस्पर्शशब्दाः प्रवीचारहेतुकाः । तेभ्यः अपि अपरिमितगुणा प्रीतिविशेष-
प्रमोदात्मिका सुखिनः देवाः भवन्ति ॥ ४-१० ॥

❀ सूत्रार्थ—कल्पातीत देव प्रवीचार (मैथुनसेवन) से सर्वथा रहित हैं । अर्थात्—
बारहवें देवलोक से ऊपर के देवों में मैथुन सेवन का अभाव है ॥ ४-१० ॥

卐 विवेचनामृत 卐

कल्पोपपन्न बारहवें अच्युत देवलोक के पश्चात्, कल्पातीत नौ ग्रैवेयक तथा विजयादि पाँच अनुत्तरवासी देव हैं । ये देव प्रवीचार से रहित माने गये हैं । अर्थात् इन्हें कामवासना नहीं होती, इसलिये ये उपरोक्त देवियों के स्पर्शादिक की अपेक्षा भी नहीं रखते हैं । वे अन्य देवों से अधिक संतुष्ट और सुखी होते हैं । पहले तथा दूसरे देवलोक की अपेक्षा यावत् बारहवें देवलोक के देव मन्द, मन्दतर, मन्दतम विषयवासना वाले होते हैं । अर्थात् ऊपर-ऊपर के स्वर्गों के देवों के नीचे के स्वर्गों की अपेक्षा कामवासना मन्द होने से उनके चित्त में संकलेश की मात्रा भी कम होती है । कामभोग के साधन भी कम होते हैं । बारहवें देवलोक से ऊपर के नौ ग्रैवेयक तथा पाँच अनुत्तरवासी देव शान्त और सन्तोषजन्य परम सुख में नित्य निमग्न रहते हैं ।

पाँच प्रकार के प्रवीचार से उत्पन्न होने वाली प्रीतिविशेष से भी इनकी प्रीति के प्रकर्ष का महत्त्व अपरिमित है । इसलिए ये परमसुख के द्वारा सर्वदा तृप्त ही रहा करते हैं । अतएव ये जन्म से लेकर मृत्यु-मरण तक निरन्तर सुखी रहा करते हैं ॥ (४-१०)

❀ भवनपतिनिकायस्य देवानां दशभेदानां नामानि ❀

卐 मूलसूत्रम्—

भवनवासिनोऽसुर-नाग-विद्युत्-सुवर्णाग्नि-वात-स्तनितोदधि-द्वीप-

दिक्कुमाराः ॥ ४-११ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

भवनवासीति प्रथमनिकायः । एते च तस्य दश भेदाः । तद्यथा—असुरकुमाराः,
नागकुमाराः, विद्युत्कुमाराः, सुवर्ण (सुपर्ण) कुमाराः, अग्निकुमाराः, वातकुमाराः,
स्तनितकुमाराः, उदधिकुमाराः, द्वीपकुमाराः, दिक्कुमाराश्चेति ।

एते च कुमारवत् सुकुमाराः, रम्यदर्शनाः, मृदु-मधुर-ललितगतिवन्ताः, शृङ्गाराभि-
जातरूपविक्रियाः, कुमारवच्चोद्धतरूपवेषभाषाभूषणप्रहरणावरणायानवाहनाः कुमार-
वच्चोबल्लणरागाः क्रीडापराश्चेत्यतः कुमारा इत्युच्यन्ते ।

असुरकुमारावासेषु असुरकुमाराः प्रतिवसन्ति शेषास्तु भवनेषु । महामन्दरस्य दक्षिणोत्तरयोः दिग्विभागयोः बह्वीषु योजनशतसहस्रकोटिकोटिषु आवासाः भवनानि च दक्षिणार्धाधिपतीनां उत्तरार्धाधिपतीनां च यथास्वं भवन्ति । तत्र च भवनानि रत्नप्रभायां बाह्यार्धमवगाह्या मध्ये भवन्ति । भवनेषु वसन्तीति भवनवासिन्यः । असुरकुमारास्तु दशविधभवनवासीनां प्रायः आवासेषु एव निवसन्ति । अन्ये च नवविधा भवनवासिनः आवासेषु नैव वसन्ति । ते तु भवनेषु एव निवसन्ति ।

एषाञ्च देवानां नामकर्मनियमात् स्वजातिविशेषनियता विक्रियाः अपि भवन्ति । ताश्च या गम्भीराः श्रीमन्तः कृष्णवर्णाः महाकायाः रत्नोत्कटमुकुटभास्वराश्चूडामणिलक्ष्मा असुरकुमाराः देवाः भवन्ति । शिरोमुखेषु अधिक-प्रतिरूपाः कृष्णश्यामा मृदुललितगतयः शिरस्सु फणिचिह्नाः नागकुमाराः देवाः भवन्ति । स्निग्धाः भ्राजिष्णवः अवदाता वज्रचिह्नाः विद्युत्कुमाराः देवाः भवन्ति । अधिकरूपग्रीवोरस्काः श्यामावदाताः गरुडलक्ष्माः सुपर्णकुमाराः देवाः भवन्ति । मानोन्मानप्रमाणयुक्ता भास्वन्तोऽवदाताघटचिह्नाः अग्निकुमाराः देवाः भवन्ति । स्थिर-पुष्टवृत्तगात्राणि निमग्नोदराः अश्वचिह्नाः अवदाता वातकुमाराः देवाः भवन्ति ।

स्निग्धाः स्निग्धगम्भीरानुनादमहास्वनाः कृष्णाः वर्धमानचिह्नाः स्तनितकुमाराः देवाः भवन्ति ।

उरुकटिष्वधिकप्रतिरूपाः कृष्णश्यामाः मकरचिह्नाः उदधिकुमाराः देवाः भवन्ति ।

उरस्कन्धबाह्वग्रहस्तेष्वधिक-प्रतिरूपाः श्यामावदाताः सिंहचिह्नाः द्वीपकुमाराः देवाः भवन्ति ।

जङ्घाग्रचरणेषु अधिकप्रतिरूपाः श्यामागजचिह्नाः दिक्कुमाराः देवाश्च भवन्ति । सर्वेऽपि विविधवस्त्रालङ्कारभूषणभूषिताः प्रहरणावरणा भवन्तीति ।

लोके प्रसिद्धं यत् असुराः देवविरोधिनः नेतद् एतेऽपि देवयोनिजाः प्रथमभवनपति-निकायोत्पन्नाः देवाः अतिशोभनाः भवन्ति असुराः । किन्त्वेते कर्मजनिजातिप्रकृत्या-कुमारवदाचरन्ति । अतः कुमारेति अभिधीयन्ते ॥ ४-११ ॥

❀ सूत्रार्थ—भवनवासी निकाय के देव असुरकुमार (१), नागकुमार (२), विद्युत्कुमार (३), सुवर्ण (सुपर्ण) कुमार (४), अग्निकुमार (५), वातकुमार (६), स्तनितकुमार (७), उदधिकुमार (८), द्वीपकुमार (९) तथा दिक्कुमार (१०), दस प्रकार के हैं ॥ ४-११ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

चार प्रकार के निकायों में से पहला निकाय भवनवासी देवों का है। इसलिए क्रमशः पहले इन्हीं का वर्णन करते हैं। दस प्रकार के भवनपति देवों के आवास-स्थान महामन्दर-सुदर्शन भेरुपर्वत के नीचे या तिरछे उत्तर दक्षिण दिशा में अनेक कोटाकोटि लक्ष योजन प्रमाण पर्यन्त हैं।

असुरकुमार देव विशेष आवासों में तथा कभी-कभी भवनों में निवास करते हैं। शेष नागकुमारादिक नौ प्रकार के देवों का निवास प्रायः भवनों में ही होता है। आवास देवों के देहप्रमाण ऊँचे और समचौरस होते हैं। वे आवास चारों तरफ से खुले होने से महामण्डप जैसे लगते हैं। तथा भवन बाहर से गोल और अन्दर से चौकोर होते हैं। भवनों का तलिया पुष्पकणिका के आकार वाला होता है। इन भवनों का विस्तार जघन्य से जम्बूद्वीप प्रमाण, मध्यम से संख्याता योजनप्रमाण तथा उत्कृष्ट से असंख्याता योजन प्रमाण का होता है।

ये भवन रत्नप्रभा नरक के पृथ्वी पिण्ड को एक हजार योजन ऊर्ध्व और अधो भाग में छोड़कर शेष एकलाखअठहत्तरहजार (१,७८,०००) योजन में होते हैं, तथा रत्नप्रभानरक के नीचे नगर के समान होते हैं, अतः उन्हें भवन कहते हैं। आवास तो विशेष रूप में सब जगह पाये जाते हैं, तथा वे मण्डप के आकार के होते हैं।

पहला देवनिकाय भवनवासी है। उसके दस भेद हैं—(१) असुरकुमार, (२) नागकुमार, (३) विद्युत्कुमार, (४) सुवर्ण (सुपर्ण) कुमार, (५) अग्निकुमार, (६) वातकुमार, (७) स्तनितकुमार, (८) उदधिकुमार, (९) द्वीपकुमार, तथा (१०) दिक् कुमार।

❀ प्रश्न—किसलिये भवनपतिदेवों को कुमार तथा भवनपति कहते हैं ?

उत्तर—वे भवनपति देव कुमारों के सदृश दिखने में आते हैं। मनोहर, सुकुमार, मृदु, मधुर ललितगति वाले और क्रीड़ाशील होते हैं; इसलिये कुमार कहे जाते हैं।

भवनपति निकाय के महाभाग के देव भवनों में बसते हैं, इसलिये भवन के पति यानी भवनपति कहे जाते हैं।

पूर्वोक्त दस प्रकार के भवनपति देवों के चिह्नादि, सम्पत्ति स्वजाति के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। जैसे—

(१) असुरकुमार—गम्भीर, सम्पूर्ण अंग तथा उपांगों के द्वारा सुन्दर, कृष्णवर्ण, महाकाय और रत्नों से उरकट मुकुट के द्वारा देदीप्यमान हैं। इनका चिह्न चूड़ामणि रत्न है।

(२) नागकुमार—कृष्णश्याम-अत्यधिक श्यामवर्ण वाले, एवं मृदु तथा ललितगति वाले हैं। इनके सिरों पर नाग-सर्प का चिह्न है।

(३) विद्युत्कुमार—स्निग्ध प्रकाशशील तथा उज्ज्वल शुक्लवर्ण वाले हैं। इनका चिह्न वज्र है।

(४) सुवर्ण(सुपर्ण) कुमार—ग्रीवा और वक्षस्थल में अतिसुन्दर श्याम, किन्तु शुद्ध वर्ण के धारक हैं। इनका चिह्न गरुड़ है।

(५) अग्निकुमार—मान और उन्मान-चीड़ाई और ऊँचाई के प्रमाण से युक्त, तथा देदीप्यमान और शुद्ध वर्ण के धारक हैं। इनका चिह्न घट है।

(६) वातकुमार—स्थिर, स्थूल तथा गोल शरीर को रखने वाले, और निमग्न उदर से सहित एवं शुद्ध वर्ण के धारक हैं। इनका चिह्न अश्व है।

(७) स्तनितकुमार—चिक्कण और स्निग्ध गम्भीर-प्रतिध्वनि तथा महानाद करने वाले एवं कृष्ण वर्ण वाले हैं। इनका चिह्न वर्धमान है।

(८) उदधिकुमार—जङ्घा तथा कटि भाग में अधिक सुन्दर और कृष्णश्याम वर्ण के धारक हैं। इनका चिह्न मकर है।

(९) द्वीपकुमार—वक्षःस्थल, स्कन्ध-कंधा, बाहुओं का अग्रभाग एवं हस्त-स्थल में विशेष सुन्दर हुआ करते हैं, शुद्ध श्याम तथा उज्ज्वल वर्ण को धारण करने वाले हैं। इनका चिह्न सिंह है।

(१०) दिक्कुमार—ये जङ्घाओं के अग्रभाग में तथा पैरों में अधिक सुन्दर होते हैं। एवं श्यामवर्ण को धारण करने वाले हैं। इनका चिह्न हाथी है।

इस तरह भवनवासी देवों की भिन्न-भिन्न विक्रियाओं का अंशतः स्वरूप कहा। इसके सिवाय ये सभी देव विविध प्रकार के वस्त्र-शस्त्राभूषणादिक से भी युक्त होते हैं।

विशेष—भवनपति देवों के मुकुट में विशेष प्रकार के चिह्न, शरीर के वर्ण भी भिन्न-भिन्न, तथा वस्त्रों के वर्ण भी विविध प्रकार के होते हैं; जिनका वर्णन पूर्व में किया है।

अब इन तीनों के बाबत का तथा भवनों की संख्या का कोष्ठक नीचे प्रमाणे है—

❀ भवनपति देव सम्बन्धी कोष्ठक ❀						
क्रम संख्या	भवन पति निकाय	मुकुट में चिह्न	शरीर का वर्ण	वस्त्र का वर्ण	भवनों की संख्या	
					दक्षिण दिशा में	उत्तर दिशा में
१.	अमुर कुमार	चूड़ामणि	काला	राता	३४ लाख	३० लाख
२.	नाग कुमार	सर्प-फणा	गौर	हरा (नीला)	४४ लाख	४० लाख
३.	विद्युत् कुमार	वज्र	रक्त (लाल)	हरा (नीला)	३८ लाख	३४ लाख
४.	सुवर्ण कुमार	गरुड़	पीला	श्वेत (धोला)	४० लाख	३६ लाख
५.	अग्नि कुमार	कलश	रक्त (लाल)	हरा (नीला)	४० लाख	३६ लाख
६.	वात कुमार	भगर	हरा (नीला)	संध्यावत्	४० लाख	३६ लाख
७.	स्तनित कुमार	शराव-संपुट	पीला	श्वेत (धोला)	४० लाख	३६ लाख
८.	उदधि कुमार	अश्व	गौर	हरा (नीला)	४० लाख	३६ लाख
९.	द्वीप कुमार	सिंह	रक्त (लाल)	हरा (नीला)	५० लाख	४६ लाख
१०.	दिक् कुमार	हाथी	पीला	श्वेत (धोला)	४० लाख	३६ लाख

❀ व्यन्तरनिकायस्य अष्टभेदानां नामानि ❀

❀ मूलसूत्रम्—

व्यन्तराः किन्नर-किंपुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-
भूत-पिशाचाः ॥ ४-१२ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

द्वितीयो देवनिकायः अष्टविधः । अस्य च एतानि अष्टविधनामानि भवन्ति । तथाहि—किन्नरः [१], किंपुरुषः [२], महोरगः [३], गन्धर्वः [४], यक्षः (५), राक्षसः [६], भूतः [७], पिशाचश्च [८] इति । किमयमेते व्यन्तराः ? वि-
विविधं अन्तरं निवासं येषां ते व्यन्तराः, अथवा विगतः अन्तरः यस्य सः व्यन्तरः ।

अधस्तिर्यगूर्ध्वं च त्रिष्वपि लोकेषु भवननगरेषु आवासेषु च प्रतिवसन्ति । यस्माच्च अधस्तिर्यगूर्ध्वं च त्रीनपि लोकान् स्पृशन्तः स्वातन्त्र्यात् पराभियोगात् च प्रायेण प्रतियान्ति अनियतगतिप्रचारा मनुष्यानपि केचिद् भृत्यवदुपचरन्ति । विविधेषु च शैलकन्दरान्तरवनविवरादिषु प्रतिवसन्त्यतो व्यन्तरा इति उच्यन्ते । मनुष्या-
वशिष्टताऽपि प्राप्यते व्यन्तरेषु । यद्वा गोवद्गृह्या द्वितीयदेवनिकायाः व्यन्तरेति व्यवहियते ।

व्यन्तराणामष्टभेदाः, तेषु आद्यः किन्नरः ।

❀ तत्र किन्नराः अपि दशविधाः भवन्ति । तद्यथा—[१] किन्नराः, [२] किंपुरुषाः, [३] किंपुरुषोत्तमाः, [४] किन्नरोत्तमाः, [५] हृदयंगमाः, [६] रूपशालिनः, [७] अनिन्दिताः, [८] मनोरमाः, [९] रतिप्रियाः, [१०] रतिश्रेष्ठाश्चेति ।

❀ तत्र च किंपुरुषाः अपि दशविधाः सन्ति । ते च—[१] पुरुषाः, [२] सत्पुरुषाः, [३] महापुरुषाः, [४] पुरुषवृषभाः, [५] पुरुषोत्तमाः, [६] अतिपुरुषाः, [७] मरुदेवाः, [८] मरुतः, [९] मेरुप्रभाः, [१०] यशस्वन्तश्चेति ।

❀ महोरगाः अपि दशविधाः भवन्ति । यथानुक्रमतः—[१] भुजगाः, [२] भोगशालिनः, [३] महाकायाः, [४] अतिकायाः, [५] स्कन्धशालिनः,

[६] मनोरमाः, [७] महावेगाः, [८] महेश्वक्षाः, [९] मेरुकान्ताः, [१०] भास्वन्तश्चेति ।

❖ गान्धर्वाः अपि द्वादशविधाः भवन्ति । यथा ते—[१] हाहा, [२] हूह, [३] तुम्बुरवः, [४] नारदाः, [५] ऋषिवादिकाः, [६] भूतवादिकाः, [७] कादम्बाः, [८] महाकादम्बाः, [९] रैवताः, [१०] विश्वावसवः, [११] गीतरतयः, [१२] गीतयशसश्चेति ।

❖ यक्षाः अपि त्रयोदशविधाः भवन्ति । तद्यथा—[१] पूर्णभद्राः, [२] माणिभद्राः, [३] श्वेतभद्राः, [४] हरिभद्राः, [५] सुमनोभद्राः, [६] व्यतिपातिकभद्राः, [७] सुभद्राः, [८] सर्वतोभद्राः, [९] मनुष्ययक्षाः, [१०] वनाधिपतयः, [११] वनाहाराः, [१२] रूपयक्षाः, [१३] यक्षोत्तमाश्चेति ।

❖ राक्षसाः सप्तविधाः भवन्ति । तद्यथा—[१] भीमाः, [२] महाभीमाः, [३] विघ्नाः, [४] विनायकाः, [५] जलराक्षसाः, [६] राक्षसराक्षसाः, [७] ब्रह्मराक्षसाश्चेति ।

❖ भूताः नवविधाः भवन्ति । तद्यथा—[१] सुरूपाः, [२] प्रतिरूपाः, [३] अतिरूपाः, [४] भूतोत्तमाः, [५] स्कन्दिकाः, [६] महास्कन्दिकाः, [७] महावेगाः, [८] प्रतिच्छन्नाः, [९] आकाशगाश्चेति ।

❖ पिशाचाः पञ्चदशभेदाः भवन्ति । तद्यथा—[१] कूष्माण्डाः, [२] पटकाः, [३] जोषाः, [४] आल्लाकाः, [५] कालाः, [६] महाकालाः, [७] चौक्षाः, [८] अचौक्षाः, [९] तालपिशाचाः, [१०] मुखरपिशाचाः, [११] अधस्तारकाः, [१२] देहाः, [१३] महाविदेहाः, [१४] तृष्णीकाः, वनपिशाचाश्चेति ।

तेषां अष्टानामनुक्रमतः विक्रियाध्वजलक्ष्माः भाष्यन्ते ।

तेषु किन्नराः प्रियङ्गुमणिरिव श्यामाः सौम्याः सौम्यदर्शनाः भवन्ति । मुखेषु अत्यधिकरूपशोभामुकुटमौलिभूषणाः अशोकवृक्षध्वजाः अवदाताः भवन्ति ।

किम्पुरुषाः उरुबाहुषु शोभमानाः मुखभास्वराः विविधाभरणाभूषितचित्रस्रगनुलेपनाश्चम्पकवृक्षध्वजाः भवन्ति ।

महोरगास्तु कृष्णावदाताः महावेगाः सौम्याः सौम्यदर्शनाः महाकायाः पृथुमीन-
स्कन्धग्रीवाः विविधानुविलेपना चित्रविचित्राभरणभूषणाः नागवृक्षध्वजाः भवन्ति ।

गान्धर्वाः रक्तावदाताः गम्भीराः प्रियदर्शनाः सुरूपाः सुमुखाकाराः सुस्वराः
मौलिधराः मालाविभूषणास्तुम्बरुवृक्षध्वजाः भवन्ति ।

यक्षाः श्यामावदाताः गम्भीराः तुन्दिलाः वृन्दारकाः प्रियदर्शनाः मानोन्मान-
प्रमाणयुक्ताः रक्तपाणिपादतलनखतालुजिह्वौष्ठाः भास्वरमुकुटमौलिनः नानारत्नधारकाः
वटवृक्षध्वजाः भवन्ति ।

राक्षसाः अवदाताः भीमाः भीमदर्शनाः शिरःकरालाः रक्तलम्बौष्ठधारिणः
तपनीयविभूषणाः नानाभक्तिविलेपनाः खट्वाङ्गध्वजाः भवन्ति ।

सूताः श्यामाः सुरूपाः सौम्याः आपीवराः नानाभक्तिविलेपनाः सुलसध्वजाः
कालाः भवन्ति ।

पिशाचाः सुरूपाः सौम्यदर्शनाः हस्तग्रीवासु मणिरत्नविभूषणाः कदम्बवृक्षध्वजाः
भवन्ति ।

एतानि च व्यन्तराणां वैक्रियाणि रूपाणि भवन्तीति ।

❧ सूत्रार्थ—किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच
के भेद से आठ प्रकार के व्यन्तर निकाय के देव हैं ॥ ४-१२ ॥

❧ विवेचनामृत ❧

दूसरा निकाय व्यन्तर है । वह आठ प्रकार का है । उन आठ भेदों के नाम इस प्रकार
हैं—[१] किन्नर, [२] किम्पुरुष, [३] महोरग, [४] गन्धर्व, [५] यक्ष, [६] राक्षस,
[७] भूत, और [८] पिशाच ।

❧ इस तरह व्यन्तरों के आठ भेदों के नाम जो बताये हैं, उनमें पहला भेद किन्नर का है ।
उसके दस भेद हैं । यथा—[१] किन्नर, [२] किम्पुरुष, [३] किपुरुषोत्तम, [४] किन्नरोत्तम,
[५] हृदयंगम, [६] रूपशाली, [७] अनिन्दित, [८] मनोरम, [९] रतिप्रिय, और
[१०] रतिश्रेष्ठ ।

❧ दूसरा भेद किम्पुरुष का है । उसके भी दस भेद हैं । यथा—[१] पुरुष, [२]
सत्पुरुष, [३] महापुरुष, [४] पुरुषवृषभ, [५] पुरुषोत्तम, [६] अतिपुरुष, [७] मरुदेव,
[८] मरुत्, [९] मेरुप्रभ, तथा [१०] यशस्वान् ।

❀ तीसरा भेद महोरग का है। उसके भी दस भेद हैं। यथा—[१] भुजग, [२] भोगशाली, [३] महाकाय, [४] अतिकाय, [५] स्कन्धशाली, [६] मनोरम, [७] महावेग, [८] महेष्वक्ष, [९] मेरुकान्त और [१०] भास्वान्।

❀ चौथा भेद गन्धर्व का है। उसके बारह भेद हैं। यथा—[१] हाहा, [२] हूह, [३] तुम्बरु, [४] नारद, [५] ऋषिवादि, [६] भूतवादि, [७] कादम्ब, [८] महाकादम्ब, [९] रैवत, [१०] विश्वावसु, [११] गीतरति, तथा [१२] गीतयशा।

❀ पाँचवाँ भेद यक्ष का है। उसके भी तेरह भेद हैं। यथा—[१] पूर्णभद्र, [२] माणिभद्र, [३] श्वेतभद्र, [४] हरिभद्र, [५] सुमनोभद्र, [६] व्यतिपातिकभद्र, [७] सुभद्र, [८] सर्वतोभद्र, [९] मनुष्ययक्ष, [१०] वनाधिपति, [११] वनाहार, [१२] रूपयक्ष और [१३] यक्षोत्तम।

❀ छठा भेद राक्षस का है। उसके भी सात भेद हैं। यथा—[१] भीम, [२] महाभीम, [३] विघ्न, [४] विनायक, [५] जलराक्षस, [६] राक्षसराक्षस, तथा [७] ब्रह्मराक्षस।

❀ सातवाँ भेद भूत का है। उसके भी नौ भेद हैं। यथा—[१] सुरूप, [२] प्रतिरूप, [३] अतिरूप, [४] भूतोत्तम, [५] स्कन्दिक, [६] महास्कन्दिक, [७] महावेग, [८] प्रतिच्छन्न, और [९] आकाशग।

❀ आठवाँ भेद पिशाच का है। उसके भी पन्द्रह भेद हैं। तथाहि—[१] कुष्माण्ड, [२] पटक, [३] जोष, [४] आह्लक, [५] काल, [६] महाकाल, [७] चौक्ष, [८] अचौक्ष, [९] तालपिशाच, [१०] मुखरपिशाच, [११] अधस्तारक, [१२] देह, [१३] महाविदेह, [१४] तूष्णीक, तथा [१५] वनपिशाच।

(१) उक्त आठ प्रकार के व्यन्तरों में से पहले प्रकार के किन्नर जाति के व्यन्तरदेव प्रियङ्गुमणि के समान श्याम वर्ण, सौम्यस्वभाव और आह्लादकर होते हैं। इनके रूप की शोभा मुख भाग में अधिक होती है और शिरोभाग मुकुट के द्वारा सुशोभित होता है। इनका चिह्न अशोकवृक्ष की ध्वजा है, तथा वर्ण अवदात, शुद्ध स्वच्छ एवं उज्ज्वल है।

(२) उक्त आठ प्रकार के व्यन्तरों में से दूसरे प्रकार के किम्पुरुष जाति के व्यन्तरदेव की शोभा उर, जङ्घा तथा बाहुओं में अधिक होती है। इनका मुख का भाग अधिक भास्वर प्रकाशशील होता है, और ये अनेक प्रकार के अलंकारों से भूषित रहा करते हैं तथा चित्र-विचित्र प्रकार की मालाओं से भी सुसज्जित एवं नाना प्रकार के अनुलेप इत्र इत्यादिक से अनुलिप्त रहते हैं। इनका चिह्न चम्पक वृक्ष की ध्वजा है।

(३) उक्त आठ प्रकार के व्यन्तरों में से तीसरे प्रकार के महोरग जाति के व्यन्तरदेव श्यामवर्ण वाले होते हुए भी अवदात शुद्ध स्वच्छ और उज्ज्वल होते हैं। इनका स्वरूप देखने में सौम्य है। शरीर महान् तथा स्कन्ध और ग्रीवा का भाग विशाल एवं स्थूल हुआ करता है। ये भिन्न-भिन्न प्रकार के विलेपनों से युक्त और चित्र-विचित्र आभूषणों से विभूषित रहा करते हैं। इनका चिह्न नागवृक्ष की ध्वजा है।

(४) उक्त आठ प्रकार के व्यन्तरो में से चौथे प्रकार के गन्धर्व जाति के व्यन्तरदेव शुद्ध स्वच्छ लालवर्ण के तथा गम्भीर-घन शरीर को धारण करने वाले होते हैं। उनका स्वरूप देखने में प्रिय होता है। ये सुन्दर रूप तथा सुन्दर वदन के आकार एवं मनोज्ञ स्वर के धारक होते हैं। अपने मस्तक पर मुकुट को रखने वाले तथा गले में हार से सुशोभित रहा करते हैं। इनका चिह्न तुम्बू वृक्ष की ध्वजा है।

(५) उक्त आठ प्रकार के व्यन्तरो में से पाँचवें प्रकार के यक्ष जाति के व्यन्तरदेव निर्मल श्यामवर्ण के होते हुए भी गम्भीर तथा तुन्दिल हुआ करते हैं। मनोज्ञ और देखने में प्रिय होते हैं, तथा मान और उन्मान के प्रमाण से भी युक्त होते हैं। हाथ और पाँव के तल भाग में तथा नख, तालु, जिह्वा और ओष्ठ के प्रदेश में लालवर्ण के हुआ करते हैं। देदीप्यमान मुकुटों को धारण करने वाले और अनेक प्रकार के रत्न या रत्नजड़ित आभूषणों से भूषित रहते हैं। इनका चिह्न वटवृक्ष की ध्वजा है।

(६) उक्त आठ प्रकार के व्यन्तरो में से छठे प्रकार के राक्षस जाति के व्यन्तरदेव शुद्ध निर्मल वर्ण के धारक, भीम तथा देखने में भयंकर होते हैं। मस्तक के भाग में अत्यन्त कराल एवं लालवर्ण के लम्बे होठों से युक्त होते हैं। तपाये हुए सुवर्ण के आभूषणों से भूषित तथा अनेक प्रकार के विलेपनों से युक्त होते हैं। इनका चिह्न खट्वाङ्ग की ध्वजा है।

(७) उक्त आठ प्रकार के व्यन्तरो में से सातवें प्रकार के भूत जाति के व्यन्तरदेव श्यामवर्ण होते हुए भी सुन्दर रूप को धारण करने वाले, सौम्य स्वभाव वाले, तथा अतिस्थूल अनेक प्रकार के विलेपनों से युक्त कालरूप हुआ करते हैं। इनका चिह्न सुलस ध्वजा है।

(८) उक्त आठ प्रकार के व्यन्तरो में से आठवें प्रकार के पिशाच जाति के व्यन्तरदेव हैं। ये सुन्दर रूप के धारक, देखने में सौम्य तथा हाथ और ग्रीवा में मणियों एवं रत्नजड़ित भूषणों से सुशोभित रहते हैं। इनका चिह्न कदम्ब वृक्ष की ध्वजा है।

सारांश—व्यन्तरनिकाय के आठ प्रकार के व्यन्तरदेव पर्वत, गुफा और वन इत्यादि के विविध आंतरे में रहने से या भवनपति तथा ज्योतिष्क इन दो निकायों के आंतरे में रहने से व्यन्तर कहे जाते हैं। ये व्यन्तरदेव प्रथम रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर के एक हजार योजन में से ऊपर तथा नीचे सौ सौ योजन छोड़कर मध्य के आठ सौ योजन प्रमाण भाग में ही उत्पन्न होते हैं। किन्तु उनके निवास ऊर्ध्व, अधो और मध्य-इन तीनों लोकों में होते हैं। वे किन्नरादि व्यन्तर भवनों में, नगरों में और आवासों में रहते हैं। ये व्यन्तरदेव चक्रवर्त्ती इत्यादि पुण्यशाली मनुष्यों की भी सेवक की माफिक सेवा करते हैं।

विशेष—व्यन्तरनिकाय के व्यन्तरदेवों में किन्नर आदि आठ जाति के देवों बिना वाणव्यन्तर जाति के देव भी हैं। रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपर के भाग में सौ योजन में से ऊपर तथा नीचे दस-दस योजन छोड़कर शेष अस्सी (८०) योजन के भाग में वाणव्यन्तर देवों का जन्म होता है। ये देव प्रायः पर्वत की गुफा इत्यादि स्थलों में रहते हैं।

* व्यन्तर देवों के अवान्तर भेद तथा ध्वजादिक का कोष्ठक *

जाति	भेद	ध्वजा में चिह्न	शारीरिक वर्ण
किन्नर	किम्पुरुष आदि दस	अशोक वृक्ष	हरा (नीला)
किम्पुरुष	पुरुष आदि दस	चम्पक वृक्ष	श्वेत
महोरग	भुजग आदि दस	नाग वृक्ष	श्याम
गन्धर्व	हाहा आदि बारह	तुम्बरु वृक्ष	श्याम
यक्ष	पूर्णभद्र आदि तेरह	वट वृक्ष	श्याम
राक्षस	भीम आदि सात	खट्वाङ्ग	श्वेत
भूत	सुरूप आदि नव	सुलस वृक्ष	श्याम
पिशाच	कुष्माण्ड आदि पन्द्रह	कदम्ब वृक्ष	श्याम

॥ ४-१२ ॥

* ज्योतिष्कनिकायस्य पञ्चभेदाः *

卐 मूलसूत्रम्—

ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो-ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णकतारकाश्च ॥ ४-१३ ॥

* सुबोधिका टीका *

तृतीयो देवनिकायः ज्योतिष्कः । ज्योतिष्काः पञ्चविधाः भवन्ति । यथा सूर्यश्चन्द्रौ ग्रहाः नक्षत्राणि प्रकीर्णकतारकाः । असमासकरणमार्षाच्च सूर्या चन्द्रमसोः क्रमभेदः कृतः । यथा—गम्येते एतद् एवैषामूर्ध्वनिवेश आनुपूर्व्यमिति । तद्यथा—सर्वाधस्तात् सूर्यास्तितश्चन्द्रमसः, ततः ग्रहाः, ततो नक्षत्राणि, ततोऽपि प्रकीर्णकताराः ।

ताराग्रहास्त्वनियतचारित्वात् सूर्यचन्द्रमसामूर्ध्वमधश्च चरन्ति । सूर्येभ्यः दशयोजनावलम्बिनः भवन्ति । समभूतलाद् भूमिभागाद् अष्टसु योजनशतेषु सूर्याः, ततो योजनानां अशीत्यां चन्द्रमसः, ततो योजनानां विशत्यां तारा इति ।

द्योतयन्तः प्रकाशयन्तः वा इति ज्योतीषि विमानानि तेषु भवा ज्योतिष्काः ज्योतिषो वा देवा ज्योतिरेव वा ज्योतिष्काः ।

मौलिमुकुटेषु शिरोमुकुटोपगूहितैः प्रभामण्डलकल्पैः उज्ज्वलैः सूर्य-चन्द्र-तारामण्डलैः यथास्वं चिह्नैः शोभमानाः प्रकाशमन्तः ज्योतिष्काः भवन्तीति ।

चलज्योतिष्काः सर्वत्र गतिमन्ताः भ्रमणशीलाः भवन्ति ॥ ४-१३ ॥

ॐ सूत्रार्थ—ज्योतिष्क निकाय के देव सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारा के भेद से पाँच प्रकार के हैं ॥ ४-१३ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

तीसरा निकाय ज्योतिष्क देवों का है । वह पाँच प्रकार का है—सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारा ।

ज्योतिष्क का स्थान—

मेरु पर्वत की समतल भूमि से ७६० योजन तक ऊँचाई का परिमाण कहा है, तथा तिछी भी असंख्याता द्वीपसमुद्र परिमाण कहा है । समतल भूमि से ८०० योजन की ऊँचाई पर सूर्य का विमान है । सूर्यविमान से ८० योजन की ऊँचाई पर चन्द्र का विमान है । चन्द्र के विमान से बीस योजन ग्रह, नक्षत्र तथा तारागण हैं ।

कितने ही तारागण अनियतचारी होते हैं । वे किसी समय सूर्य और चन्द्र के नीचे तथा किसी समय ऊपर भी गति करते हैं । जब नीचे गति करते हैं तब उस समय वे सूर्य से दस योजन पर्यन्त नीचे रहते हैं ।

चन्द्र से तीन योजन ऊँचाई में नक्षत्रों के विमान आते हैं । फिर आगे नक्षत्रों से तीन योजन की ऊँचाई में बुधग्रह, बुधग्रह से तीन योजन की ऊँचाई में शुक्रग्रह, शुक्रग्रह से तीन योजन की ऊँचाई में गुरुग्रह, गुरुग्रह से चार योजन की ऊँचाई में मंगलग्रह, तथा मंगलग्रह से चार योजन की ऊँचाई में शनिग्रह आते हैं ।

इस प्रकार सम्पूर्ण ज्योतिषचक्र की ऊँचाई एक सौ दस (११०) योजन प्रमाण की है । तथा तिर्यग्-लम्बाई में असंख्य द्वीपसमुद्र प्रमाण की है ।

इन ज्योतिष्क देवों के विमान उद्योतशील हैं। उन विमानों में जो रहे हुए हैं, उनको ज्योतिष्क या ज्योतिष देव भी कहते हैं। ज्योतिष्क और ज्योतिष् शब्द का अर्थ एक ही है। इन ज्योतिष्क देवों के मुकुटों में जो-जो चिह्न रहा करते हैं, वे मस्तक के मुकुटों से समलंकृत तथा प्रभामण्डल के समान एवं उज्ज्वल वर्ण के होते हैं। तथा वे यथायोग्य सूर्यमण्डल, चन्द्रमण्डल और तारामण्डल के रूप में हैं।

ज्योतिष्कदेव इन चिह्नों से युक्त प्रकाशमान हैं। उनके मस्तक पर जो मुकुट हैं उनमें उज्ज्वल देदीप्यमान सूर्यमंडल के सदृश सूर्य के तथा चन्द्रादि, एवं ताराओं के मंडल रूप अपने-अपने चिह्न यथाक्रम से चिह्नित हैं। इनका अस्तित्व समस्त द्वीपों और समुद्रों में है। किस-किस द्वीप में और किस-किस समुद्र में कितने-कितने प्रमाण में कौन-कौन से ज्योतिष्क विमान हैं? यह ग्रागमशास्त्र के अनुसार समझना चाहिये। ये ज्योतिष्क देव सर्वत्र समान गति वाले और भ्रमण करने वाले हैं, या उनमें किसी प्रकार का अन्तर है? इसका वर्णन अब आगे के सूत्र में करते हैं ॥ (४-१३)

❀ ज्योतिष्कविमानानां परिभ्रमणक्षेत्रम् ❀

❀ मूलसूत्रम्

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नूलोके ॥ ४-१४ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

मनुष्यलोकस्य प्रमाणं पूर्वमेवोक्तम्। मानुषोत्तरपर्वतपर्यन्तः मनुष्यलोकः। अर्थात्-जम्बूद्वीप-धातकीखण्डश्च पुष्करद्वीपस्यार्धश्च तस्य मध्यवर्त्ति लवणसमुद्र-कालोद-समुद्रपर्यन्तक्षेत्रं मनुष्यलोकः। मानुषोत्तरपर्यन्तो मनुष्यलोक इत्युक्तम्। तस्मिन् ज्योतिष्काः मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो भवन्ति।

मेरोः प्रदक्षिणा नित्या गतिरेषामिति। एकादशसु एकविंशेषु योजनशतेषु मेरोश्चतुर्दिशं प्रदक्षिणं चरन्ति। तत्र द्वौ सूर्यौ जम्बूद्वीपे भवतः, लवणसमुद्रे चत्वारः सूर्याः भवन्ति, धातकीखण्डे द्वादशसूर्याः वर्तन्ते, कालोदधिसमुद्रे द्वाचत्वारिंशत् सूर्याः सन्ति, पुष्करार्धद्वीपे च द्विसप्ततिः सूर्याः भवन्ति। इत्येवं मनुष्यलोके द्वात्रिंशत्सूर्यशतं भवति।

चन्द्रस्यापि एषैव नियमः। अष्टाविंशतिर्नक्षत्राणि सन्ति। अष्टाशीतिर्ग्रहाः भवन्ति। तथा षट्षष्टिः सहस्राणि नवशतानि पञ्चसप्ततीनि तारा कोटाकोटीनामे-कैकस्य चन्द्रमसः परिग्रहः। सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहाः नक्षत्राणि च तिर्यग् लोके सन्ति, शेषास्तु ऊर्ध्वलोके ज्योतिष्काः भवन्ति।

अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्ठिभागाः सूर्यमण्डलस्य विष्कम्भो भवति । तथा चन्द्रमसः षट्पञ्चाशत्, ग्रहाणामर्धयोजनम्, नक्षत्राणां गव्यूतम्, सर्वोत्कृष्टायास्ताराया अर्धकोशो, जघन्यायाः पञ्चधनुः शतानि सन्ति ।

विष्कम्भार्धबाहुल्याश्च भवन्ति निखिलाः सूर्योदयः, मनुष्यलोक इति वर्तते । बहिस्तु विष्कम्भबाहुल्याभ्यां अतोऽर्धं भवन्ति । एतानि च ज्योतिष्कविमानानि सन्ति । तेषां लोकस्थित्या प्रसक्तावस्थितगतीन्यपि ऋद्धिविशेषार्थमाभियोग्यनामकर्मोदयाच्च नित्यं गतिरतयो देवाः बहन्ति एव । तथाहि—पूर्वतः केसरिणः, दक्षिणतः कुञ्जराः, पश्चिम-तो वृषभाः, उत्तरतो जविनोऽश्वाश्चेति ॥ ४-१४ ॥

सूत्रार्थ—मनुष्य लोक में उक्त पाँचों प्रकार के ज्योतिष्क विमान मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए नित्य गतिशील हैं ॥ ४-१४ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

चर ज्योतिष्क—

पूर्व के तीसरे अध्याय और चौदहवें सूत्र में कहकर आये हैं कि मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त मनुष्यलोक है । इसमें रहने वाले ज्योतिष्क नित्य गतिशील यानी परिभ्रमणशील होकर मेरुपर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए सदैव परिभ्रमण किया करते हैं । तथा वे सूर्यादि सभी, मेरुपर्वत से ११२१ योजन दूर रहते हैं ।

मनुष्यलोक में सूर्यादिक की संख्या

ज्योतिष्क देवों के जो पाँच भेद बताये हैं, उनमें से जम्बूद्वीप में दो सूर्य हैं, लवणसमुद्र में चार सूर्य हैं, धातकी खण्ड में बारह सूर्य हैं, कालोदधि समुद्र में बयालीस सूर्य हैं, तथा पुष्करवर-द्वीप के मनुष्यक्षेत्र सम्बन्धी अर्धभाग में बहत्तर सूर्य हैं ।

इस तरह मनुष्यलोक में कुल मिलाकर एक सौ बत्तीस (१३२) सूर्य होते हैं ।

इसी प्रकार चन्द्रमा भी जम्बूद्वीप में दो, लवणसमुद्र में चार, धातकीखण्ड में बारह, कालो-दधिसमुद्र में बयालीस और पुष्करार्ध द्वीप में बहत्तर हैं । वे भी सब मिलाकर एक सौ बत्तीस [१३२] चन्द्रमा होते हैं । ग्रह, नक्षत्र और तारा ये तीनों चन्द्र के परिवार हैं । चन्द्र का परिवार सूर्य का भी परिवार है, क्योंकि सूर्य का परिवार पृथग् नहीं है । उसका कारण यही है कि चन्द्र सूर्य से अधिक ऋद्धिमान और पुण्यशाली है । प्रत्येक चन्द्रमा का परिवार-परिग्रह इस प्रकार है—

अठासी (८८) ग्रह, अट्ठाईस (२८) नक्षत्र तथा छयासठ हजार नौ सौ पचहत्तर (६६६७५) कोड़ाकोड़ी तारा । इतना परिवार एक चन्द्र का होता है ।

जम्बूद्वीप में दो चन्द्र होने से ग्रह, नक्षत्र और तारा की संख्या द्विगुणी हो जाती है ।

ढाई द्वीप-समुद्र में ग्रह, नक्षत्र और ताराओं की संख्या

द्वीप-समुद्र	ग्रह	नक्षत्र	तारा
जम्बूद्वीप	१७६	५६	१३३६५० कोड़ाकोड़ी
लवणसमुद्र	३५२	११२	२६७६०० कोड़ाकोड़ी
धातकीखण्ड	१०५६	३३६	८०३७०० कोड़ाकोड़ी
कालोदधि समुद्र	३६६६	११७६	२८१२६५० कोड़ाकोड़ी
पुष्करार्ध द्वीप	६३३६	२०१६	४८२२२०० कोड़ाकोड़ी

ये समस्त ज्योतिष्क जम्बूद्वीप के मेरुपर्वत के चारों तरफ परिमंडलाकार (गोल घेराव प्रमाणे) परिभ्रमण करते रहते हैं । अर्थात्—ये ज्योतिष्क विमान लोकमर्यादा या प्राकृतिक स्वभाव से सदैव स्वयं फिरा करते हैं । तथापि ऋद्धिविशेष के लिए आभियोग्य (सेवक) नामकर्म उदय है जिनको ऐसे नित्यगति से स्नेह रखने वाले देव भ्रमण कराते हैं । अर्थात् वे क्रीड़ाशील होकर पूर्व दिशा में सिंहाकृति, दक्षिण दिशा में गजाकृति, पश्चिम दिशा में वृषभाकृति तथा उत्तर दिशा में अश्वाकृति रूप को धारण करके विमान को उठाकर अत्यन्त वेग से भ्रमण कराते हैं । वे देव परिभ्रमण करते हुए विमानों के नीचे गमन करते हैं तथा सिंह आदि के रूप में विमानों को वहन करते हैं ।

❖ चन्द्र के विमान को सोलह हजार (१६०००) देव वहन करते हैं ।

❖ सूर्य के विमान को सोलह हजार (१६०००) देव वहन करते हैं ।

❖ ग्रह के विमान को आठ हजार (८०००) देव वहन करते हैं ।

❖ नक्षत्र के विमान को चार हजार (४०००) देव वहन करते हैं ।

❖ तारा के विमान को दो हजार (२०००) देव वहन करते हैं ।

इन विमानों की इस प्रकार की बलयाकार गोल गति स्वभाव सिद्ध है, किन्तु कृत्रिम नहीं है । ये विमान अर्धकोठा के फल के आकार वाले और स्फटिक रत्नमय होते हैं ।

चन्द्र आदि की परिभ्रमण गति क्रमशः अधिक-अधिक है। चन्द्र की गति सबसे न्यून है। चन्द्र से सूर्य की गति अधिक है। सूर्य से ग्रह की गति अधिक है। ग्रह से नक्षत्र की गति अधिक है तथा नक्षत्र से तारा की गति अधिक है।

ऋद्धि के विषय में उक्त क्रम से विपरीत क्रम जानना। जैसे—तारा की ऋद्धि सबसे न्यून है। तारा से नक्षत्र की ऋद्धि विशेष है। नक्षत्र से ग्रह की ऋद्धि विशेष है। ग्रह से सूर्य की ऋद्धि विशेष है और सूर्य से चन्द्र की ऋद्धि विशेष है।

सूर्यादि विमान का प्रमाण—

सूर्यमण्डल का विष्कम्भ अड़तालीस योजन और एक योजन के साठ भागों में से एक भाग प्रमाण (४८ $\frac{१}{१०}$) है। चन्द्रमण्डल का विष्कम्भ छप्पन (५६) योजन है। ग्रहों का विष्कम्भ अर्ध योजन है। नक्षत्रों का विष्कम्भ दो कोस है तथा ताराओं में से सबसे बड़े तारे का विष्कम्भ उत्कृष्ट प्रमाण आधा कोस और सबसे छोटे तारा का विष्कम्भ जघन्य प्रमाण पाँच सौ धनुष है।

इन मण्डलों के विष्कम्भ का जो प्रमाण कहा है, उससे आधा मोटाई या ऊँचाई का प्रमाण समझना चाहिए। जघन्य स्थिति वाले तारा की लम्बाई-पहोलाई पाँच सौ (५००) धनुष्य की तथा ऊँचाई ढाई सौ (२५०) धनुष्य की होती है।

विमान	लम्बाई-पहोलाई	ऊँचाई
चन्द्र	$\frac{५६}{६१}$ योजन	$\frac{२८}{६१}$ योजन
सूर्य	$\frac{४८}{६१}$ योजन	$\frac{२४}{६१}$ योजन
ग्रह	२ गाउ	१ गाउ
नक्षत्र	१ गाउ	०॥ गाउ
तारा	०॥ गाउ	०। गाउ

इस तरह सूर्य इत्यादि सम्पूर्ण ज्योतिष्क देवों का जो प्रमाण यहाँ पर कहा है, वह मनुष्यलोक की अपेक्षा से है। तथा मनुष्यक्षेत्र के बाहर जितने सूर्य हैं, उनमें से प्रत्येक सूर्यमण्डल का विष्कम्भ चौबीस योजन और एक योजन के साठ भागों में से एक भाग प्रमाण (२४ $\frac{१}{१०}$) है। इससे आधा प्रमाण बाहुल्य का जानना।

इसी भाँति चन्द्रमण्डल इत्यादिक का भी जो प्रमाण मनुष्यलोक में कहा है, उससे आधा मनुष्यक्षेत्र के बाहर के चन्द्रमण्डलादि का समझना ॥ (४-१४)

✽ ज्योतिष्कगतेः कालविभागः ✽

卐 मूलसूत्रम्—

तत्कृतः कालविभागः ॥ ४-१५ ॥

✽ सुबोधिका टीका ✽

वर्तना परिणामक्रिया परत्वापरत्वलक्षणकालः । कालोऽनन्तसमयः वर्तनादिलक्षणः । तस्य विभागो ज्योतिष्काणां गतिविशेषः कृतश्चारविशेषण हेतुना । सूर्यचन्द्रमसोः गतिः चारः कथ्यते । चारोऽयं विभिन्नः सूर्यचन्द्रयोः । तद्यथा—अणुभागाश्चारा अंशाः कला लवा नालिका मुहूर्त्ताः दिवसाः रात्रयः पक्षाः मासाः ऋतयः अयनानि संवत्सराः युगमिति लौकिकसमो विभागः । पुनरन्यो विकल्पः प्रत्युत्पन्नोऽतीतोऽनागत इति त्रिविधः । पुनस्त्रिविधः संख्येयः, असंख्येयश्चानन्त इति ।

उपर्युक्तयोऽपि कालविभागः कृतः तत्र सूक्ष्मतमः समयः । तस्य परमसूक्ष्मक्रियस्य सर्वजघन्यगतिपरिणतस्य परमाणोः स्वावगाहनक्षेत्रव्यतिक्रमकालेति आख्यातस्य समयेति परमदुरधिगमोऽनिर्देश्यः । ते हि भगवन्त परमर्षयः केवलिनः मात्रं जानन्ति । न तु निर्दिशन्ति परमनिरुद्धत्वात् । परमनिरुद्धे हि, तस्मिन् समये भाषाद्रव्याणां ग्रहणप्राकृतयोः करणप्रयोगः नैव सम्भव भवति ।

असंख्यातसमयानामेकावली आवलिका कथ्यते । ता संख्येयाः उच्छ्वासः तथा निश्वासः । यः कायेनाक्षीणः बलीश्च वर्तते । पट्विन्द्रियस्य तस्य कल्पस्य मध्यवयसः स्वस्थमनसः पुंसः प्राणः । ते सप्त स्तोकः । ते सप्त लवः, तेऽष्टात्रिंशदधं च नालिका । ते द्वे मुहूर्त्तः । ते त्रिंशदहोरात्रम् । तानि पञ्चदश पक्षः । तौ च द्वौ सित-कृष्णौ मासः । तौ द्वौ मासावृतुः । ते त्रयोऽयनम् । ते द्वे संवत्सरः (वर्षः) ते पञ्चचन्द्रचन्द्राभिर्वर्धित चन्द्राभिर्वर्धिताख्या युगम् । तन्मध्ये अन्ते च अधिकमासकौ । सूर्यसवनचन्द्रनक्षत्राभिर्वर्धितानि युगनामानि । शतवर्षसहस्रं चतुरशीतिगुणितं पूर्वाङ्गम् । पूर्वाङ्गशतसहस्रं चतुरशीति गुणितं पूर्वम् । एवं तानि अयुतकमलनलिनकुमुदतुटचडडाववाहाहाहूहू-चतुरशीतिशतसहस्रगुणाः सङ्ख्येयः कालः । अतः ऊर्ध्वमुपमानियतं कथयिष्यते ।

यथा योजनविस्तृतं योजनोच्छ्रायं वृत्तं पत्यमेकरात्राद्युत्कृष्टसप्तरात्रजाताना-
मङ्गलोन्मां गाढं पूर्णं स्याद् वर्षशताद् वर्षशतादेकैकस्मिन्नुद्ध्यमाणे यावता कालेन
तद् रिक्तं स्यात् एतद् पत्योपमम् । तद्दशभिः कोटाकोटिभिः गुणितं सागरोपमम् ।
तेषां कोटाकोटचत्वारः सुषुमसुषमा, तिस्रः सुषमा, द्वे सुषमदुःषमा, द्विचत्वारिंशद्वर्ष
सहस्राणि हित्वा एका दुःषमसुषमा वर्षसहस्राणि एकविंशतिः दुःषमा, तावत्येव दुःषम-
दुःषमा । ता अनुलोमप्रतिलोमा अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी च भरतैरावतेषु अनाद्यनन्तं
परिवर्तन्ते अहोरात्रवत् । तयोः शरीरायुः शुभपरिणामानामनन्तर-गुणहानिवृद्धी
अशुभपरिणामवृद्धिहानी । अवस्थिताऽवस्थितगुणाचैकैकानि । यथा च कुरुषु सुषमसुषमा
हरिरम्यकवासेषु सुषमा, हैमवत-हैरण्यवतेषु सुषमदुःषमा, विदेहेषु सान्तरद्वीपेषु
दुःषमसुषमा इत्यादिमनुष्यक्षेत्रे पर्यायापन्नः कालविभागः ज्ञातव्यः ।

एतेषु भेदेषु बाह्यविभागः कृतः । अन्येऽपि अनेके भेदाः सन्ति कालविभागस्य ।
सर्वेषां कालविभागानां व्यवहारः प्रधानतया मनुष्यक्षेत्रे एव भवति । मनुष्यलोके
ज्योतिष्कचक्रस्य भ्रमणशीलतया एवात्र कालविभागः भवति ।

अत्र शङ्क्यते—मनुष्यलोके तु ज्योतिष्चक्रं मेरुगिरिं प्रदक्षिणति च नित्यमेव
जातिशीलः, परन्तु तद्बहिः कीदृशः ? ॥ ४-१५ ॥

✽ सूत्रार्थ—इन चर ज्योतिष्क-ज्योतिषीदेव विमानों की गतिविशेष के द्वारा
मनुष्यलोक में काल का विभाग होता है ॥ ४-१५ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

“वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वलक्षणकालः” वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व और
अपरत्व ये कालद्रव्य के लक्षण हैं । ऐसा कालद्रव्य अनन्त समयों के समूह रूप है । उस काल
का विभाग इन ज्योतिष्क देवों के विमानों की गति विशेष के द्वारा होता है ।

मुख्य और औपचारिक अर्भत् निश्चय तथा व्यवहार इस तरह काल दो प्रकार का है । मुख्य
काल अनन्त समयात्मक है । यह काल एकस्वरूप है अर्थात् भेदरहित है । इसलिये भेदरहित
मुख्यकाल के ज्योतिष्क-ज्योतिषी विमानों की गति से दिवस और रात्रि इत्यादिक के भेद होते हैं ।
पूर्वदिशा के अमुक नियत स्थान से सूर्य की गति के प्रारम्भ को सूर्योदय कहने में आता है । तथा
पश्चिमदिशा के अमुक नियत स्थान में सूर्य के पहुँचने को सूर्यास्त कहने में आता है । सूर्योदय से
प्रारम्भ होकर सूर्यास्त तक का काल दिन-दिवस कहा जाता है, तथा सूर्यास्त से प्रारम्भ होकर
सूर्योदय तक का काल रात-रात्रि कही जाती है । पन्द्रह रात्रि-दिन का एक पक्ष होता है । शुक्ल
और कृष्ण रूप दो पक्ष का एक मास-महीना होता है । दो मास-महीने की एक ऋतु होती है ।

तीन ऋतुओं का एक अयन होता है। दो अयनों का एक संवत्सर यानी वर्ष होता है। पाँच वर्ष का एक युग होता है।

विशेष—

पाँच वर्ष के समूह को युग कहते हैं। युग के भी पाँच प्रकार हैं। वे पाँचों नाम इस प्रकार हैं—चन्द्र, सूर्य, अभिवर्द्धित, सवन तथा नक्षत्र। पाँच वर्ष के युग में मध्य और अन्त में मिलकर दो अधिक मास आते हैं। पाँच प्रकार के संवत्सरों में से अभिवर्द्धित संवत्सर में अधिक मास होता है, तथा अन्त में अभिवर्द्धित संवत्सर ही हुआ करता है।

ॐ चन्द्र संवत्सर में मास-महीने का प्रमाण २६ ३/४ दिन का होता है। इसलिये इस हिसाब से वर्ष में बारह मास-महीनों के ३५४ ३/४ दिन होते हैं। यही चन्द्रसंवत्सर का प्रमाण है।

ॐ सूर्य संवत्सर में महीने का प्रमाण ३० १/२ दिन का होता है। इसलिए इस हिसाब से वर्ष में बारह मास-महीनों के ३६६ दिन होते हैं।

ॐ अभिवर्द्धित संवत्सर में मास का प्रमाण ३० ३/४ दिन का होता है। इस हिसाब से बारह महीनों के ३८३ १/४ दिन होते हैं।

ॐ सवन संवत्सर में मास का प्रमाण ३० दिन का होता है। इस हिसाब से बारह महीनों के ३६० दिन होते हैं।

ॐ नक्षत्र संवत्सर में महीने का प्रमाण २७ ३/४ दिन का होता है। इसलिये इस हिसाब से बारह मास के ३२७ ३/४ दिन होते हैं।

इस तरह पाँचों संवत्सर एक साथ प्रवृत्त रहा करते हैं, तथा अपने-अपने समय पर वे पूर्ण होते हैं। पाँच वर्ष के युग में पाँचों ही प्रकार के संवत्सर आ जाते हैं।

वर्ष के अनुसार ही युग के भी पाँच नाम समझना। चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वाङ्ग होता है। तथा पूर्वाङ्ग को पूर्वाङ्ग से गुणा करने पर अर्थात् चौरासी लाख को चौरासी लाख से गुणा करने पर एक पूर्वकाल होता है। ये समस्त काल ज्योतिष्कगति की अपेक्षा स्थूल हैं। समयादिक सूक्ष्म काल है। ज्योतिष्क की गति से स्थूल काल की ही गिनती होती है, किन्तु समयादिक सूक्ष्मकाल की नहीं।

प्रश्न—समय किसे कहते हैं ?

उत्तर—सर्व जघन्य गति वाले परमाणु को एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाशप्रदेश में जाते हुए जितना काल लगता है, उसे एक समय कहा जाता है। यह काल इतना सूक्ष्म है कि—सर्वज्ञ केवली भगवन्त भी इसका भेद नहीं कर सकते, इतना ही नहीं इसका निर्देश भी नहीं कर सकते, ऐसे असंख्य समयों की एक आवलिका होती है। संख्यात आवलिका का एक उच्छ्वास-निश्वास

होता है। एक श्वासोच्छ्वास का एक प्राण होता है। सात प्राण का एक स्तोक होता है। सात स्तोक का एक लव होता है। ३८॥ लव की एक नालिका-घड़ी होती है। दो नालिका का एक मुहूर्त होता है, तथा ३० मुहूर्त का एक अहोरात्र होता है।

काल का व्यवहार मुहूर्त, घड़ी, अहोरात्र, पक्ष, मासादि, अतीत, अनागत, संख्येय, असंख्येय, अनन्तरूप, अनेक प्रकार का है। यह व्यवहार केवल मनुष्यलोक में ही किया जाता है ॥ (४-१५)

❀ मनुष्यलोकस्य बहिर्विभागे ज्योतिष्करय स्थिरता ❀

卐 मूलसूत्रम्—

बहिरवस्थिताः ॥ ४-१६ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

नृलोकात् मानुषोत्तरपर्वतपर्यन्तं यद् क्षेत्रं तस्माद् बहिः ज्योतिष्काः अवस्थिताः, अवस्थिता इत्यविचारिणः, अवस्थितविमानप्रदेशाः अवस्थिताः लेश्याप्रकाशाः सुख-शीतोष्णरश्मयः ।

यत्र ज्योतिष्का विचरणभ्रमणरहिताः इत्यविचारिणः । लेश्यायाः अर्थः वर्णः मनुष्यलोके ज्योतिष्कविमानानां गतिशीलतयोपरागतया वर्णं परिवर्तनं जायते । किन्तु मनुष्यलोकात् बहि उपरागादि असम्भवम् । निष्कम्पात् उदयास्तरहितं क्षेत्रं भवतीति ॥ ४-१६ ॥

❀ सूत्रार्थ—मनुष्यलोक के बाहर सूर्य और चन्द्रमा आदि के विमान अवस्थित-स्थिर हैं ॥ ४-१६ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

स्थिरज्योतिष्क—नृलोक-मानुषोत्तर पर्वत पर्यन्त जो क्षेत्र हैं, उससे बाहर चन्द्र-सूर्य आदि जो ज्योतिष्क विमान हैं, वे अवस्थित-स्थिर हैं। उनके विमानों के प्रदेश भी अवस्थित हैं। अर्थात् न ज्योतिष्क देव ही गमन करते हैं, न उनके विमान ही गमन करते हैं। इसलिए उनका प्रकाश जहाँ जाता है वहाँ सदा प्रकाश रहता है, और जहाँ प्रकाश नहीं जाता है वहाँ सदा अन्धकार ही रहता है। उनकी लेश्या और प्रकाश भी एकरूप से स्थित रहते हैं। अर्थात्—राहु आदि की छाया न पड़ने से उनका स्वाभाविक रंग ही रहता है। उदयास्त भी नहीं होने से उनका प्रकाश भी लक्ष योजन प्रमाण में एकसमान स्थित रूप रहता है।

मनुष्यलोक के बाहर मनुष्यक्षेत्र के विमानों से अर्ध प्रमाण के विमान होते हैं। उन विमानों की किरणें समशीतोष्ण होने से सुखकारी होती हैं। चन्द्र की किरणें भी अत्यन्त शीतल नहीं हैं तथा सूर्य की किरणें भी अत्यन्त उष्ण नहीं हैं, किन्तु चन्द्र और सूर्य उभय की किरणें शीतोष्ण होती हैं ॥ ४-१६ ॥

❀ वैमानिकनिकायस्याधिकारः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

वैमानिकाः ॥ ४-१७ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

चतुर्थः देवनिकायः वैमानिकः भवति । विमानेषु येऽपि उत्पद्यन्ते निवसन्ति च ते वैमानिकाः कथ्यन्ते । यद्यपि ज्योतिष्क-देवाः अपि विमानेषु एव उत्पद्यन्ते निवसन्ति च । किन्तु वैमानिकशब्दः समभिरूढनयेन सौधर्मादिस्वर्ग-देवलोकेषु एव रूढः । त्रिविधानि विमानानि । इन्द्रकं श्रेणीबद्धञ्च पुष्पप्रकीर्णकं तृतीयम् । वैमानिकशब्दः निरुक्त्यापि सिद्धः । यथा—यत्रस्था आत्मनः वि-विशेषेण सुकृतिनः मानयन्ति इति विमानानि तेषु भवाः वैमानिकाः । अथवा यत्रस्था परस्परं भोगातिशयं मन्यन्ते इति विमानानि तेषु भवाः वैमानिकाः ॥ ४-१७ ॥

❀ सूत्रार्थ—चौथे देवनिकाय का नाम वैमानिक है ॥ ४-१७ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

यहाँ से वैमानिक देवों का अधिकार प्रारम्भ होता है, इसलिए चतुर्थ निकाय का नाम वैमानिक है। विमानों में उत्पन्न होने वाले अथवा रहने वालों को वैमानिक कहते हैं। अर्थात्—वैमानिक देव विमान में उत्पन्न होते हैं, इसलिये वे वैमानिक कहे जाते हैं। वैमानिक नाम पारिभाषिक है। कारण यही है कि ज्योतिष्क देव भी विमानों में उत्पन्न होते हैं।

विशेष—विमान तीन प्रकार के होते हैं। इन्द्रक, श्रेणीबद्ध तथा पुष्पप्रकीर्णक। जो सबके मध्य में है, उसे इन्द्रकविमान कहते हैं। जो पूर्वदिक् दिशाओं के क्रम से श्रेणिरूप अर्थात् एक पंक्ति में अवस्थित हैं, उनको श्रेणीबद्ध विमान कहते हैं। जो बिखरे हुए पुष्पों-फूलों की भाँति अनवस्थितरूप से जहाँ-तहाँ अवस्थित रहते हैं, उनको पुष्पप्रकीर्णक विमान कहते हैं। इनमें रहने वाले देवों का नाम वैमानिक देव है। यही चतुर्थदेवनिकाय कहा जाता है। मूल में उनके कितने भेद होते हैं, इसका वर्णन अब आगे के सूत्र में कहते हैं ॥ ४-१७ ॥

❀ वैमानिकदेवानां द्वौ भेदौ ❀

❀ मूलसूत्रम्—

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ ४-१८ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

वैमानिकाः देवाः द्विविधाः कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च । इन्द्रादिदशविध-
कल्पाभिः युक्तः कल्प कथ्यते । सौधर्मस्वर्गात् अच्युतस्वर्गपर्यन्तं कल्पना प्राप्यते ।
कल्पेषु उत्पन्नाः कल्पोपपन्नाः । ये च कल्पना-रहिताः ते कल्पातीताः ।
अच्युतस्वर्गोपरि ग्रैवेयकेषु उत्पद्यन्ते ते कल्पातीताः । वैमानिकानां सामान्यतया द्वौ
भेदौ भवतः ॥ ४-१८ ॥

❀ सूत्रार्थ—वैमानिक देव दो प्रकार के हैं । एक कल्पोपपन्न और दूसरे
कल्पातीत ॥ ४-१८ ॥

❀ विवेचनामृत ❀

वैमानिक देवों के दो भेद हैं । कल्पोपपन्न और कल्पातीत । कल्प, आचार तथा व्यवहार
ये एकार्थवाची शब्द हैं । जिन देवों को श्रीतीर्थंकर भगवन्तादि के जन्मकल्याणक इत्यादि शुभ
कार्यों में अवश्य ही जाना पड़ता है, वे देव कल्पोपपन्न कहलाते हैं । अथवा जिनमें स्वामी और
सेवक इत्यादि न्यूनाधिकपने का व्यवहार होता है वे कल्पोपपन्न कहलाते हैं । तथा जिन देवों को
किसी प्रकार का आचार और व्यवहार नहीं करना पड़ता है, और जहाँ न स्वामी तथा सेवकादि
का भाव होता है एवं सभी सामान्य रूप से रहते हैं, उनको कल्पातीत कहते हैं ।

सारांश—पूर्वोक्त इन्द्र इत्यादि दस प्रकार की कल्पना जिनमें पाई जाती है, उनको कल्प
कहते हैं । यह कल्पना प्रथम सौधर्मदेवलोक से लेकर बारहवें अच्युत देवलोक पर्यन्त ही पाई जाती
है । इनमें उत्पन्न होने वालों को कल्पोपपन्न कहते हैं । इस कल्पना से जो रहित हैं, उनको
कल्पातीत कहा जाता है । बारहवें अच्युत देवलोक से ऊपर नौ ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तर में जो
उत्पन्न होने वाले हैं, उनको कल्पातीत जानना चाहिए । अर्थात्—प्रथम के बारह देवलोकों में कल्प
होने से, उनमें उत्पन्न हुए देव कल्पोपपन्न हैं । तथा बाद में नौ ग्रैवेयक एवं पाँच अनुत्तर विमानों में
उत्पन्न हुए देव कल्पातीत हैं । भवनपति इत्यादि तीन निकाय के देव तो कल्पोपपन्न ही हैं । क्योंकि
वहाँ कल्प है ।

वैमानिक देवों के इन दो भेदों में से पहले कल्पोपपन्न देवों के कल्पों की अवस्थिति किस
तरह से है ? इसका वर्णन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं ॥ (४-१९)

❀ वैमानिकनिकायस्य देवलोकस्य अवस्थानम् ❀

卐 मूलसूत्रम्—

उपर्युपरि ॥ ४-१६ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

सूत्रेदम् कल्पविषयायैव न तु देवविमानेभ्यः । उपर्युपरि च यथानिर्देशं वेदितव्याः । नैव क्षेत्रे नापि तिर्यग् अधो वा ॥ ४-१६ ॥

❀ सूत्रार्थ—वैमानिक सौधर्म आदि कल्पों का अवस्थान क्रम से ऊपर-ऊपर है ॥ ४-१६ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

नामनिर्देश के अनुसार कल्पों का और कल्पातीतों का अवस्थान है । अर्थात् निर्देश के अनुसार सौधर्म कल्प के ऊपर ऐशानकल्प, तथा ऐशानकल्प के ऊपर सनत्कुमार कल्प है । इसी क्रम से अच्युत कल्प पर्यन्त कल्पों का अवस्थान ऊपर-ऊपर है । ये कल्प न तो एक क्षेत्र में हैं—समस्त के समस्त एक ही जगह अवस्थित नहीं हैं, न तिर्यक् या नीचे-नीचे की तरफ ही अवस्थित हैं ।

सारांश—वैमानिकनिकाय के देवलोक ऊपर-ऊपर आये हुए हैं । वैमानिक निकाय का अवस्थान व्यन्तरनिकाय की माफिक अवस्थित नहीं है । तथा ज्योतिष्क की तरह तिच्छी भी नहीं है, किन्तु ऊपर-ऊपर ही है ॥ ४-१६ ॥

❀ वैमानिकभेदानां क्रमशः नामानि ❀

卐 मूलसूत्रम्—

सौधर्मैशान-सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोक-लान्तक-महाशुक्र-
सहस्रारेष्वानत-प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु
विजय-वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ॥ ४-२० ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

द्वादशकल्पाः भवन्ति ते चैते ऐशानसनत्कुमारः महेन्द्रः, ब्रह्मलोकः, लान्तकः, महाशुक्रः, सहस्रारः, आनतः, प्राणतः, अच्युतश्चैते द्वादशाः । तद्यथा—सौधर्मस्य कल्पोपरि ऐशानः कल्पः । ऐशानस्योपरि सनत्कुमारः, सनत्कुमारस्योपरि माहेन्द्रः इत्यादि । द्वादश कल्पानामोपरि ग्रैवेयकं नवग्रैवेयकाः भवन्ति ।

प्रथममुधर्मा नामशक्रस्य देवेन्द्रस्य सभा सा तस्मिन्नस्तीति सौधर्मः कल्पः । ईशानस्य देवराजस्य निवासः ऐशानः । ग्रैवेयकास्तु लोकपुरुषस्य ग्रीवाप्रदेशविनिविष्टा ग्रीवाभरणभूता ग्रैवा ग्रीव्या ग्रैवेया ग्रैवेयकाः वा । अनुत्तराः पञ्च देवनामान एव । विजिता अभ्युदयविघ्नहेतवः एभिरिति विजय वैजयन्त जयन्ताः । तैरेव विघ्नहेतुभिः न पराजिता अपराजिताः । सर्वेषु अभ्युदयार्थेषु सिद्धाः सर्वार्थसिद्धाः । विजित-प्रायाणि वा कर्माण्येभिरुपस्थितभद्राः परीषहैरपराजिताः सर्वार्थेषु सिद्धाः सिद्धप्रायोत्तमार्था इति विजयादय इति ।

सामान्यतया विजयादि पञ्चानुत्तरविमानेषु देवैः कर्मभारं विजितम् । अतः गुरुसघनकर्मरहितञ्च लघुतन्युक्तं भवति तेषां जीवनम् । तेषां निर्वाणोऽपि सन्निकटः ॥ ४-२० ॥

ॐ सूत्रार्थ—सौधर्म, ऐशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत ये बारह कल्प हैं । अच्युत कल्प के ऊपर नवग्रैवेयक हैं । इनके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्ध नामक पाँच अनुत्तर विमान हैं ॥ ४-२० ॥

卐 विवेचनामृत 卐

उनके निवासस्थान सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्मलोक, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और अच्युत ये बारह कल्प-देवलोक हैं । ज्योतिष्क चक्र से असंख्यात योजन ऊपर पहला सौधर्मकल्प है । वह मेरुपर्वत से दक्षिण दिशा के आकाशप्रदेशों में अवस्थित है । यह पूर्वपश्चिम लम्बा और उत्तरदक्षिण चौड़ा है । इसकी लम्बाई तथा चौड़ाई असंख्यात कोटाकोटि योजन की है । इस सौधर्म कल्प का विस्तार लोक के अन्त तक है । इसकी आकृति-आकार चन्द्रमा के समान है । तथा यह सर्वरत्नमय और अनेक शोभाओं से समलंकृत है ।

इसकी उत्तरदिशा में दूसरा ऐशानकल्प है । वह सौधर्म कल्प से कुछ ऊपर के भाग में है । दोनों कल्प समश्रेणी में नहीं हैं । सौधर्म कल्प से समश्रेणी असंख्य योजन ऊपर जाने पर तीसरा सनत्कुमार कल्प है । ऐशानकल्प से असंख्य योजन ऊपर ऐशान की समश्रेणी में चौथा माहेन्द्रकल्प है ।

इन दोनों के ऊपर पूर्ण चन्द्रमा के आकार वाला मध्यवर्ती पाँचवाँ ब्रह्मलोक कल्प है । अर्थात् वह ठीक मेरु शिखा की समश्रेणी पर है । इसके ऊपर समश्रेणी में अनुक्रम से छठा लान्तक कल्प, सातवाँ महाशुक्र कल्प तथा आठवाँ सहस्रारकल्प ये तीन कल्प आये हैं । अर्थात्—ब्रह्मलोक के ऊपर समश्रेणी में लान्तक, लान्तक के ऊपर समश्रेणी में महाशुक्र, तथा महाशुक्र के ऊपर सहस्रार देवलोक आता है ।

इनके ऊपर सौधर्म और ऐशान कल्प के समान उत्तर दक्षिणदिशा में नौवाँ आनतकल्प तथा दसवाँ प्राणत कल्प है। अर्थात्—दक्षिण विभाग में प्राणत कल्प आया है। आनतकल्प से प्राणत कल्प कुछ ऊपर है। इनके ऊपर समश्रेणी में सनत् कुमार और माहेन्द्रकल्प के समान ग्यारहवाँ आरणकल्प तथा बारहवाँ अच्युतकल्प आया है। अर्थात्—आनत के ऊपर आनत की समश्रेणी में आरण तथा प्राणत के ऊपर प्राणत की समश्रेणी में अच्युतकल्प है। आरण से अच्युत कुछ ऊपर है।

इस प्रकार बारह कल्प अर्थात् देवलोक हैं। इन कल्पों के ऊपर क्रमशः एक-दूसरे के ऊपर नौ विमान हैं। वे पुरुषाकृति लोक के ग्रीवाप्रदेश पर अवस्थित हैं। अथवा उस ग्रीवा के ये सब आभरणभूत हैं। इसलिए इनको ग्रैव, ग्रीव्य, ग्रैवेय तथा ग्रैवेयक कहते हैं। इनके ऊपर विजयादिक पाँच महाविमान हैं। जो विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध विमान इन नामों से सुप्रसिद्ध हैं। वे पाँचों विमान सबसे ऊपर यानी प्रधान होने से अनुत्तर विमान कहलाते हैं। सौधर्म कल्प से लेकर सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त सभी का अवस्थान क्रम से ऊपर-ऊपर है। नौ ग्रैवेयक से ऊपर के विमानों में उत्पन्न हुए जीव (देव) अल्प संसारी होने से उत्तम हैं अर्थात् श्रेष्ठप्रधान हैं। उन देवों से कोई भी देव उत्तम प्रधान नहीं है। इसीलिए उनके विमानों को अनुत्तर विमान कहते हैं। अथवा देवलोक के अन्त में आये हुए होने से ही उनके उत्तर कोई भी विमान न होने से वे पाँच विमान अनुत्तर कहलाते हैं।

सौधर्म देवलोक से अच्युत देवलोक पर्यन्त के देव कल्पोपपन्न कहलाते हैं, तथा इनसे ऊपर के सभी कल्पातीत कहलाते हैं। वे सब इन्द्र के समान हैं, इसलिए 'अहमिन्द्र' कहलाते हैं। किसी भी कारणावश वे मनुष्यलोक में नहीं आते हैं तथा न अपने स्थान से ही चलित होते हैं। हलन-चलन की क्रिया करने वालों को ही कल्पोपपन्न कहते हैं।

विशेष—ॐ पहले सौधर्म कल्प-देवलोक के इन्द्र का नाम शक्र है, और उसकी सभा का नाम सुधर्मा है। इसलिए इस सभा के नाम के सम्बन्ध से ही पहले देवलोक को सौधर्म कहते हैं। दूसरे कल्प-देवलोक के इन्द्र का नाम ईशान है। उसके निवास के कारण ही दूसरे देवलोक को ऐशान कहते हैं।

इसी तरह आगे इन्द्रों के निवास के सम्बन्ध से ही सनत्कुमार आदि देवलोक का नाम समस्त लेना चाहिए। यह व्यवहार सौधर्म आदि बारह देवलोक में ही है। इनके ऊपर नौ ग्रैवेयक हैं। इनको ग्रैवेयक कहने का कारण यह है कि यह लोक पुरुषाकार है। उसके ग्रीवा के प्रदेश पर ये अवस्थित हैं। या उस ग्रीवा के ये आभरणभूत हैं। अतएव इनको ग्रैवेयक कहने में आता है। नौ ग्रैवेयकों के ऊपर विजयादि पाँच महाविमान हैं। उनको अनुत्तर कहते हैं। इनके ये विजयादि नाम देवों के नाम के सम्बन्ध से हैं।

पहले विजयादि तीन विमानों के देव विजयशील अर्थात् स्वभाव से ही जयरूप हैं। उन्होंने अपने अभ्युदय के विघ्नकारणों को भी जीत लिया है। इसलिए उनको क्रम से विजय, वैजयन्त तथा जयन्त कहते हैं। उनके विमानों के भी क्रमशः ये ही नाम हैं। जो देव उन विघ्न के कारणों से पराजित नहीं होते हैं, उनको अपराजित कहते हैं। इसलिए उनके विमान भी

अपराजित नाम से प्रसिद्ध हैं। जो देव सम्पूर्ण अभ्युदयरूप प्रयोजन के विषयों में सिद्ध हो चुके हैं। या समस्त इष्ट विषयों के द्वारा जो सिद्ध हो चुके हैं; यद्वा जिनके समस्त अभ्युदयरूप प्रयोजन सिद्ध हो चुके हैं, उन देवों को सर्वार्थसिद्ध कहते हैं। उनके विमानों का नाम भी सर्वार्थसिद्ध प्रसिद्ध है।

प्रश्न—चतुर्थ अध्याय के इस बीसवें सूत्र में जो समस्त शब्दों का एक ही समास न करके भिन्न-भिन्न समास किये हैं, उसका क्या कारण है ?

उत्तर—इस सूत्र में सबसे पहले सौधर्म शब्द से लेकर सहस्रार शब्द तक समास किया है। उसका कारण यही है कि सौधर्म देवलोक से लेकर सहस्रार देवलोक तक अर्थात् पहले देवलोक से आठवें देवलोक पर्यन्त मनुष्य तथा तिर्यच ये दोनों प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं। पश्चाद् चार देवलोक में, नौ ग्रैवेयक में तथा पाँच अनुत्तर विमानों में केवल मनुष्य ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए यह भिन्नता-भेद बताने के लिए सौधर्म से सहस्रार तक के शब्दों का पृथक्-अलग समास किया है।

नौवें आनत और दसवें प्राणत इन दो कल्पों में समुदित एक ही इन्द्र है। तथा ग्यारहवें आरण और बारहवें अच्युत इन दो कल्पों में भी समुदित एक ही इन्द्र है। यह बात कहने के लिए आनत और प्राणत इन दो शब्दों का तथा आरण और अच्युत इन दो शब्दों का भिन्न-भिन्न समास किया है। नौ ग्रैवेयक पर्यन्त उत्पन्न होने वाले जीव बहुल संसारी भी हो सकते हैं तथा अनुत्तर विजयादिविमानों में उत्पन्न होने वाले जीव अल्पसंसारी ही होते हैं। इस भिन्नता-भेद को बताने के लिए ग्रैवेयक शब्द का असमस्त अर्थात् समासरहित प्रयोग किया है।

अनुत्तर विजयादि चार विमानों में उत्पन्न होने वाले जीव अल्प (संख्याता) भव करके मोक्ष में जाते हैं। पाँचवें सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होने वाले जीव एक भव में ही मोक्ष में जाते हैं। इस बात का स्पष्टीकरण-सूचन करने के लिए विजयादि चार शब्दों का समास किया है। तथा सर्वार्थसिद्ध शब्द का असमस्त अर्थात् समासरहित प्रयोग किया है।

❀ **प्रश्न**—बारह कल्प-देवलोक में पाँचवें कल्प-देवलोक का नाम ब्रह्म होते हुए भी इस सूत्र में ब्रह्मलोक इस तरह ब्रह्म के साथ लोक शब्द का प्रयोग क्यों किया गया है ?

उत्तर—पाँचवें ब्रह्मकल्प-देवलोक में लोकान्तिक देव रहते हैं। यह बताने के लिए ही ब्रह्म शब्द के साथ लोक शब्द का प्रयोग करने में आया है।

सारांश—पूर्व में वैमानिक निकाय के कल्पोपपन्न तथा कल्पातीत इस तरह मुख्य दो भेद कहे हैं। उसमें यहाँ पर कल्पोपपन्न के बारह भेदों के सौधर्मादिक बारह नाम प्रतिपादित किये हैं। तथा कल्पातीत के ग्रैवेयक एवं अनुत्तर ये दो भेद कहे हैं। उनमें ग्रैवेयक के नौ भेद हैं तथा अनुत्तर के पाँच भेद हैं।

इस सूत्र में अनुत्तर के पाँच भेदों के क्रमशः विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित एवं सर्वार्थसिद्ध इस तरह नाम निर्दिष्ट किये हैं। नौ ग्रैवेयकों का सामान्य से नाम बिना निर्देश किया है।

[यहाँ पर श्वेताम्बर सौधर्मादि बारह कल्प मानते हैं । जिनका वर्णन पूर्व में आ गया है । इस सम्बन्ध में दिगम्बर सोलह कल्प मानते हैं तथा दो-दो कल्पों को समश्रेणी में रहे हुए मानते हैं । जैसे—समश्रेणी में सौधर्म और ऐशान । तथा उसके ऊपर समश्रेणी में सानत्कुमार और माहेन्द्र । इस तरह कल्प के सम्बन्ध में दिगम्बरों की मान्यता जाननी ।] ॥ ४-२० ॥

❀ विषयस्य न्यूनाधिकता ❀

मूलसूत्रम्—

स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धीन्द्रिया-
ऽवधिविषयतोऽधिकाः ॥ ४-२१ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

उपर्युक्तसौधर्मादिककल्पोपपन्न-कल्पातीतानां देवानां पूर्वपूर्वतः उपर्युपरि एभिः स्थित्यादिभिः अर्थैः अधिका भवन्ति । तेषु च स्थितिरुत्कृष्टा जघन्या च । अचिन्त्य-शक्तिप्रभावेति पर्यायः । यः प्रभावो निग्रहानुग्रहविक्रियापराभियोगादिषु सौधर्मकाणां सोऽनन्तगुणाधिक उपर्युपरि । मन्दाभिमानतया तु अल्पतरसंवल्लिष्टत्वाद् एते न प्रवर्तन्त इति ।

क्षेत्रस्वभावजनिताच्च शुभपुद्गलपरिणामात् सुखतो द्युतितश्चानन्तगुणप्रकर्षणा-धिकाः । लेश्याविशुद्ध्याधिकाः लेश्यानियमः कथ्यते परतः किन्तु इह तु वचने प्रयोजनं यथा लभ्येत यत्रापि विधानतः तुल्यास्तत्रापि विशुद्धितोऽधिका भवन्ति । कर्मविशुद्धित एव बाधिका भवन्ति । इन्द्रियविषयतोऽधिकाः यदिन्द्रियपाटवं दूरादिष्ट-विषयोपलब्धौ सौधर्मदेवानां तत् प्रकृष्टतरगुणत्वात् अल्पतरसंक्लेशत्वाच्चाधिक-मुपर्युपरि ।

अवधिविषयतोऽधिकाः सौधर्मैशानयोर्देवा अवधिविषयेणाधो रत्नप्रभां पश्यन्ति-तिर्यगसंख्येयानि योजनशतसहस्राणि ऊर्ध्वमास्वभवनात् । सनत्कुमारमाहेन्द्रयोः शर्कराप्रभां अवलोकयन्ति । तिर्यगसंख्येयानि योजनशतसहस्राणि ऊर्ध्वमास्वभवनात् इत्येवं शेषाः क्रमशः अनुत्तरविमानवासिनस्तु कृत्स्नां लोकनाडीं पश्यन्ति । येषामपि क्षेत्रतस्तुल्योऽवधिविषयः तेषां उपरि-उपरि विशुद्धितोऽधिको भवतीति । तत् सर्वनिर्दिष्टम् ।

ब्रह्मलोकविषयेषु अपि एवमेव । यत् ब्रह्मलोकलान्तकलोकविमानकाः देवाः
वालुकाप्रभापर्यन्तं, शुक्रसहसाराः पङ्क्त्यप्रभापर्यन्तं, आनतप्राणतारणाच्युताः धूमप्रभापर्यन्तं,
अधस्तु नवग्रवैयका मध्यग्रवैयका तमःप्रभापर्यन्तं, तथा चोपरिम ग्रवैयकाः
महातमप्रभापर्यन्तं पश्यन्ति एव ।

❀ सूत्रार्थ—उपर्युक्त सौधर्म इत्यादिक कल्प तथा कल्पातीतों के देव अनुक्रम से
पूर्व-पूर्व को अपेक्षा ऊपर-ऊपर के समस्त वैमानिक देव स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति,
लेश्या, विशुद्धि, इन्द्रियविषय और अवधिविषय में अधिकाधिक हैं ॥ ४-२१ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

सौधर्मकल्प के देवों की अपेक्षा से ऊपर-ऊपर के देवों की स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, लेश्या,
विशुद्धि है तथा इन्द्रिय विषय और अवधि के विषय में अधिकाधिक हैं । अर्थात् सौधर्मादिक नीचे
के देवों की अपेक्षा ईशानादिक ऊपर-ऊपर के देव उक्त स्थित्यादि सात बातों में अधिक होते हैं ।
जैसे—

(१) स्थिति—यानी देवगति में रहने का काल । स्थिति के जघन्य और उत्कृष्ट भेदों
का विस्तृत वर्णन स्वयं ग्रन्थकार इसी अध्याय के २६वें सूत्र से करेंगे । फिर भी यहाँ पर जो
स्थिति का उल्लेख किया है, उसका कारण यह समझना चाहिए कि— जिन उपरितन तथा अधस्तन
विमानवर्ती देवों की स्थिति-काल समान है, उनमें भी जो ऊपर के विमानों में रहने वाले तथा
उत्पन्न होने वाले हैं, वे अन्य गुणों में अधिक हैं या उनकी स्थिति अन्य गुणों की अपेक्षा से
अधिक हुआ करती है ।

(२) प्रभाव—अचिन्त्य शक्ति को प्रभाव कहा जाता है । यह निग्रह, अनुग्रह, विग्रह और
पराभियोग इत्यादिक स्वरूप में दिखाई देता है । उनमें—(१) शाप या दण्ड इत्यादिक देने की
शक्ति को निग्रह कहते हैं । (२) परोपकार इत्यादि करने की शक्ति को अनुग्रह कहते हैं ।
(३) देह-शरीर को अनेक प्रकार के बना लेने की अणिमा तथा महिमा इत्यादि शक्तियों को
विक्रिया कहते हैं । (४) तथा जिसके बल-शक्ति पर जबरदस्ती करके अन्य-दूसरे से कोई भी
काम-कार्य करा लिया जा सके, उसको पराभियोग कहते हैं । यह निग्रहादि की शक्ति सौधर्मादिक
देवों में जितने प्रमाण में पाई जाती है, उससे भी अनन्तगुणी शक्ति अपने से ऊपर के विमानवर्ती
देवों में होती है । किन्तु वे देव अपनी उस शक्ति को उपयोग में नहीं लेते हैं । क्योंकि, वे मन्द-
मान-अभिमान वाले होते हैं और इनके संक्लेश परिणाम भी अति अल्प होते हैं । इसलिए उनकी
निग्रहादिक करने में प्रायः प्रवृत्ति नहीं होती है । कदाचित् प्रवृत्ति हो जाय तो भी कम हुआ
करती है ।

(३) सुख-ग्राह्य विषयों के अनुभवों को सुख कहते हैं। साता वेदनीय कर्म के उदय से बाह्य विषयों में इष्ट अनुभव रूप सुख ऊपर-ऊपर के देवों को अधिक होता है।

(४) द्युति—देह-शरीर, वस्त्र और आभूषण आदि की कान्ति को द्युति कहते हैं।

✽ इसी तरह सुख और द्युति-कान्ति भी उत्तरोत्तर अधिकाधिक हैं। क्योंकि वहाँ के क्षेत्र का स्वभाव ही इसी प्रकार का है। जिसके निमित्त से वहाँ के पुद्गल अपनी अनादिकालीन पारिणामिक शक्ति के द्वारा अनन्तगुणे-अनन्तगुणे अधिक-अधिक शुभ रूप ही परिणामन किया करते हैं। जो ऊपर-ऊपर के देवों के लिए अनन्तगुणे-अनन्तगुणे अधिक प्रकृष्ट सुखोदय का निमित्त कारण हुआ करता है। देह-शरीर की द्युति कान्ति यह भी नीचे के देवों से ऊपर के देवों की अधिक होती है।

(५) लेश्या—देह-शरीर के वर्णों को लेश्या कहते हैं। इसकी विशुद्धि भी ऊपर-ऊपर में अधिक-अधिक है। वैमानिक देवों में लेश्या सम्बन्धी वर्णन आगे सूत्र २३ में करेंगे। किन्तु यहाँ इतना ध्यान रखना आवश्यक है कि—जिन ऊपर नीचे के देवों में लेश्या का भेद समान होता है, उनमें भी ऊपर के देवों की लेश्या की विशुद्धि अधिक होती है, तथा उनमें शुभ कर्मों की विशेषता पाई जाती है।

(६) इन्द्रिय विषय—दूर से इष्ट विषय को ग्रहण करना यह इन्द्रियों का धर्म है। वह उत्तरोत्तर गुणवृद्धि तथा संक्लेश की न्यूनता होने से सौधर्मादिक देवों की अपेक्षा ईशानादिक देवों की चक्षु आदि इन्द्रियाँ अधिक पटु होने से उत्तरोत्तर विशुद्ध विशुद्धतर होता है। अर्थात् इन्द्रिय-विषय अधिक होता है।

(७) अवधिज्ञानविषय—अवधिज्ञान का विषय-सामर्थ्य भी उत्तरोत्तर देवों को विशुद्ध विशेष-विशेष होता है। जैसे—पहले सौधर्म और दूसरे ईशानकल्प-देवलोक के देव अवधिज्ञान के विषय की अपेक्षा अधः—नीचे पहली नरक रत्नप्रभा पृथ्वी के अन्त तक देख सकते हैं। तिर्यग्—तिर्य्या असंख्याता लक्षयोजन तक देख सकते हैं। तथा ऊर्ध्व-ऊपर अपने विमान की पताका यानी ध्वजा तक देख सकते हैं।

तीसरे सनत्कुमार और चौथे माहेन्द्र कल्प-देवलोक के देव अधः—नीचे दूसरी नरक शर्करा पृथ्वी के अन्त तक देख सकते हैं। तिर्यक्-तिर्य्या असंख्याता लक्ष योजन तक देख सकते हैं। तथा ऊर्ध्व-ऊपर अपने विमान पर्यन्त-विमान की पताका-ध्वजा तक देख सकते हैं। तथा तिर्यग्-तिर्य्या असंख्याता द्वीप और समुद्र पर्यन्त देख सकते हैं।

इसी तरह क्रमशः बढ़ते अनुत्तरविमानवासी देव सम्पूर्ण लोकनाली को अवधिज्ञान से देख सकते हैं। जिन देवों के क्षेत्र से अवधिज्ञान का विषय समान है, उन देवों में भी ऊपर-ऊपर के प्रस्तर और विमानों की अपेक्षा अधिक-अधिक अवधिज्ञान होता है। तथा अवधिज्ञान की विशुद्धि भी ऊपर-ऊपर अधिक होती है। वे उसी विषय को विशुद्ध-विशुद्धतर देखते हैं।

विशेष—आत्मा की अचिन्त्य शक्ति को प्रभाव कहते हैं। यह निग्रह, अनुग्रह, विक्रिया तथा पराभियोग प्रमुख के रूप में देखने में आता है।

(१) शाप या दण्ड इत्यादि देने की शक्ति को निग्रह कहते हैं।

(२) परोपकार प्रमुख के करने की शक्ति को अनुग्रह कहते हैं।

(३) देह-शरीर को विविध प्रकार के बना लेने की अणिमा आदि शक्तियों को विक्रिया कहते हैं।

(४) जिसके बल पर दूसरे से जबरदस्ती कोई काम करा लिया जा सके, उसे पराभियोग कहते हैं।

यह निग्रहादि की शक्ति देवलोकनिवासी सौधर्मादिक देवों में जितने प्रमाण में पाई जाती है, उससे अनन्तगुणी शक्ति अपने से ऊपर के विमानवर्ती देवों में रहा करती है, किन्तु वे अपनी उस शक्ति को उपयोग में नहीं लेते हैं। कारण कि उनके कर्म अति मन्द हो जाने से मान-अभिमान भी अतिमन्द हो जाता है, तथा इनके संक्लेश परिणाम भी अल्पतर हो जाते हैं। इसलिए इनकी निग्रह या अनुग्रह करने में प्रवृत्ति कम हुआ करती है।

इसी तरह सुख और द्युति में भी ये देव उत्तरोत्तर अधिकाधिक होते हैं। क्योंकि वहाँ के क्षेत्र का स्वभाव ही इस प्रकार है। जिसके निमित्त से वहाँ के पुद्गल भी अपनी अनादिकालीन पारिणामिक शक्ति के द्वारा अनन्तगुणे-अनंतगुणे अधिकाधिक शुभरूप ही परिणामन किया करते हैं। तथा वह परिणामन इस प्रकार का हुआ करता है, कि जो ऊपर-ऊपर के देवों के लिये अनंतगुणे-अनंतगुणे अधिक-प्रकृष्ट सुखोदय का कारण होता है। देह-शरीर की निर्मलता या कान्ति को द्युति कहते हैं। यह भी नीचे के देवों से ऊपर के देवों की अधिक होती है।

इस विषय में इतना और भी जानना चाहिए कि, जिन देवों के अवधिज्ञान का विषय क्षेत्र की अपेक्षा समान है, उनमें भी जो ऊपर-ऊपर के देव हैं, उसकी विशुद्धता अधिकाधिक पाई जाती है।

इस तरह वैमानिक देवों में जिन विषयों की अपेक्षा ऊपर-ऊपर अधिकता है, उनको बताया है।

अब उनमें किन्हीं विषयों की अपेक्षा अधिकाधिक न्यूनता भी है, या नहीं। यदि है तो किन-किन विषयों की अपेक्षा है ? इस सम्बन्ध में आगे का सूत्र कहते हैं। (४-२१)

❀ वैमानिक देवों का अवधिज्ञान के क्षेत्र का कोष्ठक-यन्त्र ❀

[१]

[२]

[३]

[४]

वैमानिक देव	उत्कृष्ट ऊर्ध्व अवधि	उत्कृष्ट अधो अवधि	उत्कृष्ट तिर्यग् अवधि
१-२ कल्प	अपने	पहली रत्नप्रभा पृथ्वी के अन्त तक	असंख्यात
३-४ कल्प		दूसरी शर्कराप्रभा पृथ्वी के अन्त तक	योजन
५-६ कल्प	अपने	तीसरी बालुकाप्रभा पृथ्वी के अन्त तक	तक ।
७-८ कल्प	विमान की	चौथी पंकप्रभा पृथ्वी के अन्त तक	[ऊपर-ऊपर के
९-१० ११-१२ कल्प	पताका-ध्वजा	पाँचवीं धूमप्रभा पृथ्वी के अन्त तक	देवों का
१ से ६ ग्रैवेयक	पर्यन्त	छठी तमःप्रभा पृथ्वी के अन्त तक	असंख्यात
७ से ८ ग्रैवेयक	जा	सातवीं तमस्तमःप्रभा पृथ्वी के अन्त तक	प्रमाण
५ अनुत्तर विमान	न ना	लोक नालिका के अन्त तक ।	बड़ा-बड़ा समझना]
			स्वयम्भूरमण समुद्र तक

(४-२१)

✽ ऊपरि-ऊपरि गत्यादिकस्य ✽

॥ मूलसूत्रम्—

गति-शरीर परिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ ४-२२ ॥

✽ सुबोधिका टीका ✽

गतिविषयैः कायमहत्त्वैः महापरिग्रहाभिमानैः चोपर्युपरि हीनाः । ते च द्विसागरोपमजघन्यस्थितीनां देवानां आसप्तम्यां गतिविषयस्तिर्यगसंख्येयानि योजनकोटी-कोटीसहस्राणि । ततः परतो जघन्यस्थितीनां एकैकहीना भूमयो यावत्तृतीयेति । गतपूर्वाश्च गमिष्यन्ति च तृतीयां देवाः परतस्तु सत्यपि गतिविषयेन गतपूर्वानामपि गमिष्यन्ति । महानुभावक्रियातः श्रौदासीन्यात् ऊपरि ऊपरि देवाः गतिमन्ताः न भवन्ति ।

सौधर्मैशानयोः कल्पयोर्देवानां शरीरच्छ्रायः सप्तारत्नयः । उपरि-उपरि च परिद्वयोर्द्वयोः एकैकारत्निर्हीना आसहस्रारात् । आनतादिषु तिस्रः । ग्रैवेयकेषु द्वे । अनुत्तरे एका इति ।

सौधर्मदेवलोके विमानानां द्वाविंशच्छतसहस्राणि । ऐशानदेवलोके विमानानां अष्टाविंशतिः । सानत्कुमारदेवलोके द्वादशः । माहेन्द्रदेवलोकेऽष्टौ । ब्रह्मलोकदेवलोके चत्वारि शतसहस्राणि । लान्तकदेवलोके पञ्चाशत्सहस्राणि । महाशुक्रदेवलोके चत्वारिंशत्सहस्राणि । सहस्रारदेवलोके षट्सहस्राणि । आनत-प्राणत-आरण-अच्युतेषु देवलोकेषु सप्त शतानि । अधोग्रैवेयकाणां शतमेकादशोत्तरम् । मध्ये-ग्रैवेयकाणां सप्तोत्तरम् । उपरि ग्रैवेयकाणां एकमेव शतम् । अनुत्तराः पञ्चैवेति । एवं ऊर्ध्वलोके वैमानिकानां निखिलविमानपरिसंख्या चतुरशीतिः शतसहस्राणि सप्तनवतिश्च सहस्राणि त्रयोविंशतीति । स्थानपरिवारशक्तिविषयसंपत्स्थितिषु अल्पाभिमानाः परमसुखभागिन उपरि-उपरि भवन्तीति ।

तेषां दुःखान्तरबाह्यानां अभावः । सुखस्य हेतवः परिवर्धन्ते उपर्युपरि । अतः उपर्युपरिदेवा अधिकाधिकोत्तमसुखभोगिनः भवन्ति । उपर्युपरि वैमानिकदेवेषु उच्छ्वास-आहार-वेदनोपपातानुभावाः अपि हीनाः ।

सर्वजघन्यस्थितीनां देवानां उच्छ्वासः सप्तसु स्तोकेषु आहारश्चतुर्थकालः । पत्योपमस्थितीनां अन्तर्दिवसस्य उच्छ्वासः पृथक्त्वस्य आहारः । यस्य यावन्ति

सागरोपमाणि स्थितिः तस्य तावत् स्वर्धमासेषु उच्छ्वासः तावत्स्वेव वर्षसहस्रेषु आहारः । देवानां सद्देवदनाः प्रायेण भवन्ति न कदाचिद् असद्देवदनाः । यदि असद्देवदनाः भवन्ति अन्तर्मुहूर्तं पर्यन्ता एव जायन्ते, न परतोऽनुबद्धाः । सद्देवदनास्तु उत्कृष्टेन षण्मासान् जायन्ते ।

उपपातः—आरणाच्युतादूर्ध्वमन्यतीर्थानामुपपातो न भवति । स्वलिङ्गिनां भिन्नदर्शनानामाग्रेवेयकेभ्यः उपपातः । अन्यस्य सम्यग्दृष्टेः संयतस्य भजनीयं आ सर्वार्थसिद्धात् ।

ब्रह्मलोकादूर्ध्वमासर्वार्थसिद्धाच्चतुर्दशपूर्वधराणामिति । अनुभावो विमानानां सिद्धिक्षेत्रस्य चाकाशे निरालम्बस्थितौ लोकस्थितिरेव हेतुः । लोकस्थितिलोकानुभावो लोकस्वभावो जगद्धर्मोऽनादिपरिणामसन्ततिः । सर्वे देवेन्द्राश्च ग्रैवेयादिषु च देवाः भगवतां परमर्षीणामहतां जन्माभिषेकनिष्क्रमणज्ञानोत्पत्तिमहासमवसरणनिर्वाणकालेषु आसीनाः शयिताः स्थिता वा सहस्रैवासनशयनस्थानाश्रयैः प्रचलन्ति । शुभकर्म-फलोदयात् लोकानुभावत एव वा । ततो जनितोपयोगाः तां भगवतां अनन्यसदृशीं तीर्थङ्करनामकर्मोद्भवां धर्मविभूतिं अविधिज्ञानेन आलोच्य संजातसंवेगाः सद्धर्म-बहुमानात् केचिद् आगत्य भगवत् पादमूलं स्तुति-वन्दनोपासनहितश्रवणैरात्मानुग्रहमाप्नुवन्ति । केचिदपि तत्रस्था एव प्रत्युपस्थापनाञ्जलिप्रणिपातनमस्कारोपहारैः परमसंविग्नाः सद्धर्मानुरागोत्फुल्लनयनवदनाः समभ्यर्चयन्ति ।

उपरि-उपरि देवानां गतीत्यादि या न्यूना कथिता तेन ते देवाः मनुष्यलोके नैवायान्ति । कदाचिद् आयान्ति पुण्यकर्मोदयैः वा अनादिपरिणामिकप्रकृत्यास्तु पञ्चकल्याणकावसरेषु एव आयान्ति; केचन तु तत्रापि नायान्ति ॥ ४-२२ ॥

ॐ सूत्रार्थ—गति, शरीर की ऊँचाई, परिग्रह और अभिमान इन चार विषयों की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देव हीन हैं ॥ ४-२२ ॥

卐 विवेचनमृत 卐

अब गत्यादि चार विषयों का वर्णन करते हैं । जिसमें नीचे की अपेक्षा ऊपर-ऊपर के देवों में न्यूनता पाई जाती है ।

(१) गति—यहाँ पर गतिशब्द से अन्य स्थल में गमन करने की शक्ति विवक्षित है । जिन देवों की जघन्यस्थिति दो सागरोपम की है, वे देव नीचे सातवीं तमस्तमःप्रभा नरक पृथ्वी पर्यन्त तथा तिर्यंच असंख्य योजन तक जा सकते हैं ।

जैसे-जैसे जघन्यस्थिति दो सागरोपम से कम (न्यून) हो जाती है, वैसे-वैसे क्रमशः गति की शक्ति भी हीन-हीन हो जाती है। इसलिए यावत् सर्व जघन्य स्थिति वाले देव नीचे तीसरी वालुकाप्रभा नरक की पृथ्वी पर्यन्त जा सकते हैं। शक्ति की अपेक्षा यह विचारणा है, किन्तु गमन तो मात्र तीसरी नरक तक ही है।

विशेष शक्ति होते हुए भी देव कारणवशात् तीसरी नरक पृथ्वी पर्यन्त ही जाते हैं, प्रायः इससे आगे नहीं जाते हैं।

[सीतेन्द्र चौथी पङ्कप्रभा नरक में गये थे। इसलिए यहाँ पर प्रायः शब्द का प्रयोग किया है।]

ऊपर-ऊपर के देवों में महानुभावता तथा उदासीनता अधिकाधिक है। इसलिए वे देव अधिक गति-गमन नहीं करते हैं।

नवग्रेवेयक तथा पाँच अनुत्तरवासी देव तो कभी अपने विमान से बाहर नहीं जाते हैं।

सारांश— गमनक्रिया की शक्ति और गमनक्रिया की प्रवृत्ति ये दोनों देवों में उत्तरोत्तर हीन-हीनतर होती है। इसलिए वे गमन तथा रति इत्यादि क्रिया में उत्तरोत्तर हीनविषयी होते हैं। जैसे— सनत्कुमारादि देव, जिनकी जघन्यस्थिति दो सागरोपम की होती है वे नीचे सातवीं नरक पृथ्वी और तिरछे असंख्यात हजारों कोड़ाकोड़ी योजन पर्यन्त जाने की शक्ति-सामर्थ्य रखते हैं। इससे ऊपर के विमानवासी देव गति-विषय हीन-हीनतर होते हुए यावत् तीसरे नरक पर्यन्त जा सकते हैं। गतिविषयक शक्ति चाहे जितनी अधिक हो, किन्तु कोई भी देव तीसरे नरक से आगे न गया है और न जावेगा।

(२) देह-शरीर परिमाण—देह-शरीर का परिमाण (प्रमाण) भी ऊपर-ऊपर के देवों में अपेक्षाकृत कम-कम होता गया है। पहले और दूसरे देवलोक के देवों के देह-शरीर की ऊँचाई सात हाथ प्रमाण है। तीसरे और चौथे देवलोक के देवों के शरीर की ऊँचाई छह हाथ है। पाँचवें और छठे देवलोक के देवों के शरीर की ऊँचाई पाँच हाथ की है। सातवें और आठवें देवलोक के देवों के देह-शरीर की ऊँचाई चार हाथ की है। नौवें से बारहवें देवलोक तक के देवों के शरीर की ऊँचाई तीन हाथ की है। नौ ग्रेवेयक के देवों के शरीर की ऊँचाई दो हाथ की है। तथा पाँच अनुत्तरवासी देवों के देह-शरीर की ऊँचाई एक हाथ प्रमाण है।

(३) परिग्रह—यहाँ परिग्रह शब्द से विमानों का परिवार अभिप्रेत है। वैमानिकनिकाय में इन्द्रक, श्रेणिगत तथा पुष्पप्रकीर्णक इस तरह तीन प्रकार के विमान होते हैं। मध्य में आये हुए विमान को इन्द्रकविमान कहते हैं। चार दिशाओं में पङ्क्तिबद्ध आये हुए विमान श्रेणिगत हैं। बिखरे हुए पुष्पों की भाँति छूटे-छूटे रहे हुए विमान पुष्पप्रकीर्णक कहे जाते हैं।

श्रेणिगत विमान त्रिकोण, चतुष्कोण और वाटलाकार इस तरह तीन प्रकार के हैं। तथा पहले त्रिकोण, पश्चाद् चतुष्कोण, बाद वाटलाकार, तदनु त्रिकोण... इस तरह क्रमशः विमान आये हुए हैं। ये विमान इन्द्रक विमान से चारों दिशाओं में पङ्क्तिबद्ध आये हैं।

पुष्पप्रकीर्णक विमान नंदावर्त, स्वस्तिक इत्यादि विविध आकार वाले हैं। तथा श्रेणिगत विमानों के अन्तराल (बीच) में आये हुए हैं। पूर्व दिशा बिना तीनों दिशाओं में ये विमान हैं।

देवलोक के विमानों की कुल संख्या ८४६७०२३ है, जो श्री जीवविजयजी म. ने 'सकलतीर्थ' सूत्र में बताया है।

- (१) पहले देवलोक में बत्तीस लाख विमान हैं।
- (२) दूसरे देवलोक में अट्ठाईस लाख विमान हैं।
- (३) तीसरे देवलोक में बारह लाख विमान हैं।
- (४) चौथे देवलोक में आठ लाख विमान हैं।
- (५) पाँचवें देवलोक में चार लाख विमान हैं।
- (६) छठे देवलोक में पचास हजार विमान हैं।
- (७) सातवें देवलोक में चालीस हजार विमान हैं।
- (८) आठवें देवलोक में छह हजार विमान हैं।
- (९-१०) नौवें और दसवें देवलोक में चार सौ विमान हैं।
- (११-१२) ग्यारहवें तथा बारहवें देवलोक में तीन सौ विमान हैं।

- ❀ अघोवर्ती तीन ग्रैवेयकों में एक सौ ग्यारह विमान हैं।
- ❀ मध्यवर्ती तीन ग्रैवेयकों में एक सौ सात विमान हैं।
- ❀ ऊर्ध्व के तीन ग्रैवेयकों में एक सौ विमान हैं।
- ❀ पाँच अनुत्तर विमानों में एकैक विमान का ही परिग्रह है।

(४) अभिमान—अहम् भाव को अभिमान कहते हैं। ऊपर-ऊपर के देवों में सुन्दर स्थान, देवों के देवियों का परिवार, सामर्थ्य, अवधिज्ञान, इन्द्रियशक्ति, विभूति, शब्दादि विषयों की समृद्धि इत्यादि अधिक-अधिक होते हुए भी अभिमान अल्प-अल्प होता है। इससे ऊपर-ऊपर के देव कषायों की मन्दता होने से अधिक-अधिक सुखी होते हैं।

❀ देवों के विषय में विशेष माहिती ❀

इनके सम्बन्ध में अन्य भी पाँच बातें जानने योग्य हैं—

(१) उश्वास—यानी श्वासोश्वास। जघन्यस्थिति वाले अर्थात् दस हजार वर्ष के आयुष्य वाले देव सात स्तोके परिमाणकाल में एक उश्वास-श्वासोश्वास लेते हैं। एक पत्योपम के आयुष्य वाले देव प्रत्येक मुहूर्त में एक श्वासोश्वास लेते हैं। एक सागरोपम आयुष्य वाले देव एक पक्ष में श्वासोश्वास लेते हैं। इस तरह जितने सागरोपम के आयुष्य हों उतने ही पक्ष में वे एक बार उश्वास-श्वासोश्वास लेते हैं।

(२) आहार—ओजाहार, लोमाहार तथा प्रक्षेपाहार (कवलाहार) इस तरह आहार के तीन भेद हैं।

❧ ओजाहार—उत्पत्ति के प्रथम समय से शरीर-पर्याप्ति की निष्पत्ति तक (अर्थात्—मतान्तर से स्वयोग्य सर्वपर्याप्ति की निष्पत्ति पर्यन्त) ग्रहण कराता पुद्गलों का आहार वह 'ओजाहार' कहा जाता है।

❧ लोमाहार—शरीर पर्याप्ति (मतान्तरे स्वयोग्य पर्याप्ति) पूर्ण हो जाने के पश्चात् स्पर्शनेन्द्रिय (चमड़ी-चामड़ी) द्वारा ग्रहण कराता पुद्गलों का आहार वह 'लोमाहार' कहा जाता है।

❧ प्रक्षेपाहार—कोलिया से ग्रहण होने वाले आहार को प्रक्षेपाहार अर्थात्—कवलाहार कहा जाता है। देवों के ओजाहार और लोमाहार इस तरह दो प्रकार का आहार है। यहाँ पर देवों के आहार का जो नियम कहा हुआ है, वह लोमाहार के आश्रयी है। इस सम्बन्ध में ऐसा नियम है कि दस हजार वर्ष आयुष्य वाले देव एक-एक दिन के आँतरे आहार ग्रहण करते हैं। पत्योपम के आयुष्य वाले देव पृथक्त्व दिन (२ से ६ की संख्या को पृथक्त्व कहते हैं) में एक बार आहार करते हैं। सागरोपम आयुष्य वाले देवों के सम्बन्ध में यह नियम है कि जितने सागरोपम का आयुष्य हो, वे उतने ही हजार वर्षों में एक बार आहार लेते हैं अर्थात्—ग्रहण करते हैं। जैसे—एक सागरोपम की आयुष्य वाले एक हजार वर्ष तथा दो सागरोपम की आयुष्य वाले दो हजार वर्ष में एक बार आहार ग्रहण करते हैं। इस तरह आगे में भी जानना।

प्रश्न—लोमाहार प्रत्येक समय होता रहता है। तो फिर देवों में उक्त अन्तर किस तरह घट सकता है ?

उत्तर—लोमाहार के दो भेद हैं। एक आभोग लोमाहार और दूसरा अनाभोग लोमाहार।

❧ जानते हुए संकल्पपूर्वक जो लोमाहार किया जाता है वह आभोग लोमाहार कहा जाता है। जैसे—शीतऋतु में मनुष्यादि प्राणी ठण्ड को दूर करने के लिए सूर्य आदि के उष्ण पुद्गलों का सेवन करते हैं।

❧ अजानते हुए बिना इरादे के जो लोमाहार होता है, उसे अनाभोग लोमाहार कहते हैं। जैसे—शीतऋतु में शीतल तथा उष्णऋतु में उष्ण पुद्गल स्पर्शनेन्द्रिय-चमड़ी (चामड़ी) द्वारा देह-शरीर में प्रवेश करते हैं। इसी से शीतऋतु में जल-पानी अल्प वापरते हुए भी पेशाब अधिक होता है तथा ग्रीष्म ऋतु में जल-पानी अधिक वापरते हुए भी पेशाब अति अल्प होता है। अनाभोग लोमाहार प्रतिसमय होता ही रहता है, आभोग लोमाहार विशेष समय ही होता है। यहाँ देवों में आहार का अन्तर आभोग रूप लोमाहार की अपेक्षा से है।

देवों को जब आहार की इच्छा होती है तब उनके पुण्योदय से मन से कल्पित आहार के शुभ पुद्गल स्पर्शनेन्द्रिय द्वारा देह-शरीररूपे परिणमते हैं। देह-शरीररूपे परिणमते हुए वे पुद्गल देह-शरीर को पुष्ट करते हैं और तृप्ति हो जाने से वे देव हर्ष-आनन्द-आह्लाद का अनुभव करते हैं। देवों में मनुष्यों की भाँति प्रक्षेपाहार-कवलाहार नहीं होता है।

(३) वेदना—सामान्यपने प्रायः देव सातावेदना अर्थात् सुख का ही अनुभव करते हैं, क्वचित् दुःख उत्पन्न हो तो भी अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक नहीं रहता है। सातावेदना भी अधिक से अधिक छह मास पर्यन्त एकसी सामान्य रूप रहकर पश्चात् अवश्यमेव न्यूनाधिक रूप से उसमें परिवर्तन होता है।

(४) उपपात—उपपात से अभिप्राय है—उत्पत्तिस्थान की योग्यता। अन्यलिङ्गी यानी 'जैनेतरलिङ्गी' मिथ्यात्वी बारहवें देवलोक पर्यन्त उत्पन्न हो सकता है। द्रव्यचारित्रलिङ्गी मिथ्या-दृष्टि ग्रैवेयक पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि संयत पहले सौधर्मदेवलोक से यावत् सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त उत्पन्न होते हैं।

इससे यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दृष्टि संयत जघन्य से भी सौधर्मदेवलोक से नीचे उत्पन्न नहीं होते हैं। जघन्य से सौधर्मदेवलोक में उत्पन्न होते हैं। चौदह पूर्वधारी संयती छठे देवलोक से नीचे उत्पन्न नहीं होते हैं। अर्थात् चतुर्दशपूर्वी संयती ब्रह्मदेवलोक से सर्वार्थसिद्ध पर्यन्त उत्पन्न होते हैं।

(५) अनुभाव—लोकस्थिति, लोकानुभव, लोक स्वभाव, विश्व-जगद्धर्म अनादि परिणाम-संतति है। विमान तथा सिद्धशिलादि निराधारपने आकाश में रहे हुए हैं। इसका मुख्य कारण लोकस्थिति ही है।

अनादि अनन्तकालीन विश्व में अनेक बातें ऐसी हैं कि जो लोक स्वभाव से—लोकस्थिति से ही सिद्ध होती हैं। जैसे—तीर्थंकर भगवन्तों के जन्माभिषेक, केवलज्ञानोत्पत्ति, दिव्य समवसरण की रचना तथा मोक्षनिर्वाण आदि के समय इन्द्रों के आसन कम्पायमान होते हैं। ग्रैवेयक देवों के स्थान कम्पायमान होते हैं। अनुत्तरवासी देवों की शय्याएँ भी कम्पायमान होती हैं। तत्पश्चात् अवधिज्ञान के उपयोग द्वारा तीर्थंकर नामकर्म के उदय से उत्पन्न हुई तीर्थंकरों की विभूति 'ऐश्वर्य' को अवधिज्ञान से देखकर संवेग 'भक्ति युक्त वैराग्य' उत्पन्न होने से सद्धर्म बहुमान से प्रेरित होकर इन्द्रादि देव ही प्रभु के समीप आकर स्तुति, वन्दन, पूजन, उपासना, वाणी-श्रवण इत्यादि यथा-योग्य आराधना द्वारा आत्मश्रेय साधते हैं। नवग्रैवेयक के देव अपने स्थान में ही रह करके तथा अनुत्तरवासी देव अपनी शय्या में ही रह करके सद्धर्म के अनुराग से प्रभु की स्तुति आदि द्वारा तीर्थंकर भगवन्तों को नमस्कार तथा उनकी पूजा-अर्चना करते हैं। वह लोकानुभाव कार्य है ॥ ४-२२ ॥

❀ वैमानिकनिकायेषु लेश्या ❀

❀ मूलसूत्रम्—

पीत-पद्म-शुक्ललेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु ॥ ४-२३ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

अत्र लेश्यया द्रव्यलेश्यैव ग्राह्या। यत् भावलेश्याध्यवसायरूपा। अतस्ताः षट्सु वैमानिकदेवेषु एव प्राप्यन्ते। उपर्युपरि वैमानिकाः सौधर्मादिषु द्वयोस्त्रिषु

शेषेषु च पीत-पद्म-शुक्ललेश्या भवन्ति यथासंख्यम् । द्वयोः पीतलेश्याः सौधर्मेशानयोः । त्रिषु पद्मलेश्याः सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोकेषु । शेषेषु लान्तकादिष्वासर्वार्थसिद्धाच्छुक्ल-लेश्याः । पीतलेश्यायुक्ता सौधर्मेशानकल्पदेवाः सौवर्णाः, सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोक-देवाः पद्मकान्तयः, लान्तकात् सर्वार्थसिद्धपर्यन्ताः देवाः धवलशुभ्रवर्णाः ॥ ४-२३ ॥

✽ सूत्रार्थ—प्रथम के दो (सौधर्म और ऐशान) कल्पों में पीतलेश्या, सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक में पद्मलेश्या और ऊपर के शेष कल्पों में शुक्ललेश्या है ॥ ४-२३ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

प्रथम के सौधर्म और ऐशान कल्पों में पीत लेश्या अर्थात् तेजोलेश्या होती है । उसके ऊपर सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक इन तीन कल्पों में पद्मलेश्या होती है । पीछे के सात कल्पों में, नव ग्रंथेयक में तथा पाँच अनुत्तर विमानों में शुक्ललेश्या होती है ।

यह नियम शारीरिक वर्णरूप द्रव्यलेश्या-विषयक है । क्योंकि अध्यवसाय रूप भावलेश्या तो छहों प्रकार की सभी देवों में होती हैं ॥ (४-२३)

✽ कल्पानां परिगणना ✽

卐 मूलसूत्रम्—

प्राग् ग्रंथेयकेभ्यः कल्पाः ॥ ४-२४ ॥

✽ सुबोधिका टीका ✽

कल्पाः प्राग्ग्रंथेयकेभ्यः भवन्ति सौधर्मादयः आरणाच्युतपर्यन्ताः । ततोऽन्ये कल्पातीताः भवन्ति । किं सर्वदेवाः सम्यग्दृष्टियुक्ताः भवन्ति ?

अत्रोच्यते—न सर्वे देवाः सम्यग्दृष्टयः, किन्तु सम्यग्दृष्टयः सद्धर्मबहुमानादेव तत्र प्रमुदिताः भवन्ति । मिथ्यादृष्टयोऽपि लोकचित्तानुरोधादिन्द्रानुवृत्त्या । परस्पर-दर्शनात् पूर्वानुचरितमिति च प्रमोदं भजन्ते । लोकान्तिकास्तु सर्व एव विशुद्धभावाः सद्धर्मबहुमानात् संसारदुःखार्तानां च जीवानां अनुकम्पया भगवतां परमर्षीणां अर्हतां जन्मादिषु विशेषतः प्रसन्नाः भवन्ति । अभिनिष्क्रमणार्थं कृतसंकल्पास्ते भगवतोऽभि-गम्य प्रहृष्टमनसः स्तुवन्ति । ये च ग्रंथेयकाः सन्ति ते चानुत्तराः सन्ति विमानवासिनः ते स्वस्थानैव मनवचनकायाभिः एकाग्रतया स्तुवन्ति ॥ ४-२४ ॥

❀ सूत्रार्थ—ग्रैवेयकों से पूर्व अर्थात्—पहले-पहले के जो विमान हैं, उनको कल्प कहते हैं ॥ ४-२४ ॥

卐 धिवेचनामृत 卐

इस चतुर्थ अध्याय के “कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च” अठारहवें सूत्र में वैमानिक देवों के कल्पोपपन्न और कल्पातीत ये दो भेद कहे थे । जहाँ पर कल्प हो वहाँ पर उत्पन्न हुए देव कल्पोपपन्न समझना, तथा जहाँ पर कल्प न हों वहाँ पर उत्पन्न हुए देव कल्पातीत जानना । अर्थात्—जिसमें इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंशद रूप से देवों की विभाग-कल्पना की जाय, उसे कल्प कहते हैं । पहले सौधर्म देवलोक से लेकर बारहवें अच्युत पर्यन्त बारह देवलोक में उत्पन्न हुए देव कल्पोपपन्न कहलाते हैं । तथा नव ग्रैवेयक और पाँच अनुत्तरवासी देवों में कल्प न होने से वे सभी कल्पातीत कहलाते हैं । क्योंकि कल्पातीत उक्त विमान रूप कल्प उनमें नहीं है । अर्थात् कल्पातीत देवों में सामानिक इत्यादि भेद नहीं होने से सर्व देव स्वयं को इन्द्र मानते हैं । इसलिए वे अहमिन्द्र कहलाते हैं ।

प्रश्न—क्या वे सर्वदेव सम्यग्दृष्टि होते हैं जो श्री तीर्थकर भगवन्तों के जन्मादिक कल्याणकों के समय प्रमुदित होते हैं ?

उत्तर—नहीं, सभी देव सम्यग्दृष्टि नहीं होते हैं, किन्तु जो सम्यग्दृष्टि हैं वे तो सद्धर्म के बहुमान से अति प्रमुदित होते हैं । तथा उनके पास आकर प्रभु की स्तुति-स्तवनादि करते हैं एवं सद्धर्मदेशना भी सुनते हैं; जिससे उनके कर्मों की निर्जरा होती है । जो मिथ्यादृष्टि हैं, वे भी उस कार्य में प्रवृत्त तो होते हैं किन्तु वे सद्धर्म के बहुमान से प्रवृत्त नहीं हुआ करते हैं । केवल लोगों के चित्त के अनुरोध से अथवा इन्द्र की अनुकूलता से, परस्पर के आनन्द से या सभी देव ऐसा करते आये हैं इसलिए हमें भी ऐसा करना चाहिए; यह समझ कर प्रसन्नता को प्राप्त होते हुए जन्माभिषेकादिक उत्सवों में सम्मिलित होते हैं । तथा वहाँ जिनेश्वर भगवान की स्तुति करते हुए या उनका धर्मोपदेश सुन कर कितने ही देव सम्यक्त्व-समकित को प्राप्त करते हैं । तथा जिनको सम्यक्त्व-समकित प्राप्त किया हुआ है, वे कर्मों की यथास्वरूप निर्जरा कर सकते हैं ॥ (४-२४)

❀ लोकान्तिकदेवानां स्थानम् ❀

卐 मूलसूत्रम्—

ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः ॥ ४-२५ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

ब्रह्मलोक एव आलयः येषां ते ब्रह्मलोकालयाः भवन्ति । लोकान्तिकदेवाः ब्रह्मलोकालयाः भवन्ति । तेऽन्यकल्पेषु न निवसन्ति । न च कल्पैः परे ग्रैवेयकादिषु

अपि निवसन्ति । यथा साधुनिवासाः नगराद् बहिः भवन्ति तथैव ब्रह्मलोकं परिवृत्याष्टसु दिक्षु अष्टविकल्पाः भवन्ति । अतः ते लोकान्तिकाः इति कथ्यन्ते । ब्रह्मलोकस्यान्ते अष्टनिवासाः भवन्ति । तत्रैव ते उत्पद्यन्ते निवसन्ति च । लोकशब्दार्थ-जन्म-मरणयुक्त संसारोऽपि भवति । तस्यान्तः कृतः ते लोकान्तिकाः कथ्यन्ते ॥ ४-२५ ॥

❀ सूत्रार्थ—लोकान्तिक देव ब्रह्मलोक में निवास करते हैं । अर्थात्—जिनका ब्रह्मदेवलोक निवासस्थान है, वे लोकान्तिक देव कहलाते हैं ॥ ४-२५ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

लोकान्तिक देव विषयरहित होने से देवर्षि कहलाते हैं । उनमें परस्पर स्वामी और सेवकपने का भाव नहीं होता है, किन्तु सभी स्वतन्त्र भाव से रहते हैं । लोकान्तिक देव ब्रह्मलोक में रहते हैं, इसलिए लोकान्तिक कहे जाते हैं । ब्रह्मलोक में रहने वाले सर्व देव लोकान्तिक नहीं हैं, तो भी जो ब्रह्मलोक के अन्त में रहने वाले हैं वे देव अवश्य लोकान्तिक कहे जाते हैं । ब्रह्मलोक के अन्त में चार दिशाओं में चार विमान हैं, तथा चार विदिशाओं में भी चार विमान हैं । तदुपरांत एक विमान मध्य में है । इस तरह नव विमान गिने जाते हैं । इन नव विमानों के कारण ही उनके नव भेद कहे जाते हैं ।

ब्रह्मलोक के अन्त में बसने से या लोक का-संसार का अन्त करने वाले होने से इन देवों को 'लोकान्तिक' नाम से सम्बोधित है । जब तीर्थंकर भगवन्तों के निष्क्रमण अर्थात् गृहत्याग-भागवती प्रव्रज्या (दीक्षा) का समय समीप में आता है, तब वे नव लोकान्तिक देव उनके पास आकर "जय जय नंदा, जय जय भद्रा" शब्द द्वारा स्तुति करते हुए प्रभु को "भयवं तित्थं पवत्तेह" (हे भगवन्त ! तीर्थ को प्रवर्तयें) । इस तरह तीर्थ प्रवर्तने के लिए विनंती करते हैं । अर्थात् अपने आचार का परिपालन करते हैं ।

प्रश्न—वे नौ प्रकार के लोकान्तिक देव वहाँ से कितने भव में मोक्ष में जायेंगे ?

उत्तर—वे वहाँ से च्युत होकर मनुष्य भव (जन्म) पाकर मोक्षपद प्राप्त करते हैं । इस विषय में भिन्न-भिन्न शास्त्रों में पृथग्-पृथग् भिन्नता दृष्टिगोचर होती है । कितनेक ग्रन्थों में कहा है कि—'लोकान्तिक देव सात-आठ भव में मोक्ष में जाते हैं ।' तथा कितनेक ग्रन्थों में ऐसा भी कहा है कि—'लोकान्तिक देव एकभावतारी होते हैं । इसलिए वहाँ से च्यवकर मनुष्य भव में आकर मोक्ष में जाते हैं ।' इस तरह उल्लेख है । फिर भी किसी स्थल में ऐसा देखने में आता है कि "नवमें विमान में रहे हुए देव नियमात् एकावतारी ही होते हैं । शेष आठ विमानों के देव एकावतारी होते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है ।" इस तरह भी दृष्टिगोचर होता है ॥ (४-२५)

ॐ नवप्रकाराणां लोकान्तिकदेवानां नामानि ॐ

卐 मूलसूत्रम्—

सारस्वता-ऽऽदित्य-वह्नि-अरुण-गर्दंतोय-
तुषिता-ऽव्याबाध-मरुतोऽरिष्टाश्च ॥ ४-२६ ॥

ॐ सुबोधिका टीका ॐ

एते सारस्वतादयैतेऽष्टविधाः देवाः ब्रह्मलोकस्य पूर्वोत्तरादिषु दिक्षु प्रदक्षिणं भवन्ति । यथा च तेऽनुक्रमतः सारस्वताः पूर्वोत्तरस्यां दिशि आदित्याः पूर्वस्यां दिशि एवमेव वह्निश्चाऽन्येऽपि देवाः ज्ञातव्याः । पूर्वमेवैतद् विशिष्टं यत्-अच्युतपर्यन्तकल्प-देवाः सम्यग्दृष्टिमिथ्यादृष्टी, ग्रैवेयकाऽनुत्तरवासिनः सर्वे देवाः सम्यग्दृष्टयः । ये च सम्यग्दृष्टयः सन्ति ते अधिकाऽधिकाः सप्त-अष्टभवान् च न्यूनतमद्वि-त्रिभवौ संसारे व्यतीत्यावश्यमेव निर्वाणं (मोक्षं) प्राप्नुवन्ति ॥ ४-२६ ॥

ॐ सूत्रार्थ—सारस्वत, आदित्य, वह्नि, अरुण, गर्दंतोय, तुषित, अव्याबाध और मरुत्, ये आठों प्रकार के लोकान्तिक देव ब्रह्मलोक की पूर्वोत्तरादि दिशाओं में अनुक्रम से प्रदक्षिणा रूप में रहते हैं । अरिष्ट विमान आठों विमानों के मध्यभाग में है ॥ ४-२६ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

प्रत्येक दिशा, विदिशा तथा मध्यभाग में एकैक जाति के निवासस्थान होने से इनके नौ भेद मानने में आये हैं । जैसे—

पूर्व और उत्तर दिशा में अर्थात् ईशान कोण में सारस्वत, पूर्व दिशा में आदित्य, पूर्व और दक्षिण दिशा के मध्य में वह्नि, दक्षिण दिशा में अरुण, दक्षिण और पश्चिम दिशा के मध्य में गर्दंतोय, पश्चिम दिशा में तुषित, पश्चिम तथा उत्तर दिशा के मध्य में अव्याबाध, एवं उत्तर दिशा के मध्य में मरुत् नामक लोकान्तिक देवों का निवासस्थान है । इन आठों के मध्य में अरिष्ट नामक एक विमान और है ।

इस प्रकार विमान लोकान्तिकों के कुल नौ भेद हैं । जिनागम ठाणाङ्ग आदि शास्त्रों में भी लोकान्तिक देवों के नौ भेद ही कहे हैं ।

सारस्वत इत्यादि विमानों के नाम से ही उन देवों के नाम प्रसिद्ध हैं ॥ ४-२६ ॥

❀ अनुत्तरस्य विजयादिचतुष्कविमानानां देवानां विशेषत्वम् ❀

卐 मूलसूत्रम्—

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ ४-२७ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

द्विचरमाः देवाः विजयादिषु अनुत्तरेषु विमानेषु एव भवन्ति । द्विचरमा इति-
ततश्च्युताः द्विवारं जन्म धारयन्ति । पश्चात् निर्वाणं प्राप्नुवन्ति । सकृत् सर्वार्थ-
सिद्धनामकमहाविमान-देवाः एकमेव मनुष्यभवं प्राप्य अवश्यमेव मोक्षं प्राप्नुवन्ति
॥ ४-२७ ॥

❀ सूत्रार्थ—विजयादि चार अनुत्तर विमानों के देव दो बार जन्म धारण करके
तथा सर्वार्थसिद्धविमान के देव एक बार जन्म धारण करके निर्वाण-मोक्ष प्राप्त करने
वाले हैं ॥ ४-२७ ॥

卐 विवेचनानुत्तर 卐

अनुत्तर विमान पाँच प्रकार के हैं जिनमें विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित इन
चार विमानों के देव द्विचरमा होते हैं ।

विजयादि चार विमान में दो बार जाने वाले चरमशरीरी होते हैं । अर्थात् अधिक से
अधिक दो बार विजयादि विमान में देवभव धारण कर मोक्ष प्राप्त करते हैं । जैसे—अनुत्तर
विजयादि विमान से च्युत होकर मनुष्य-जन्म पाते हैं, तथा इस मनुष्य-जन्म से फिर अनुत्तर
विजयादि में उत्पन्न होते हैं । वहाँ से पुनः मनुष्य का जन्म पाकर निर्वाण-मोक्ष प्राप्त करते हैं ।
इस तरह यहाँ पर दो भव मनुष्यभव की अपेक्षा कहे हैं । अन्यथा देवभव के साथ तीन भव
होते हैं । मनुष्य भव की अपेक्षा विजयादि देवों को द्विचरम भव वाले कहा है । सर्वार्थसिद्ध
विमानवासी देव तो नियमात् एकावतारी होते हैं ।

विशेष—विजयादि पाँच प्रकार के अनुत्तर विमान के देव लघुकर्मी हैं । क्योंकि जिन मुनियों
के मोक्ष की साधना अल्प ही रह गई हो, वे यहाँ इन पाँच विमानों में उत्पन्न होते हैं । इन अनुत्तर
विमानों में उत्पन्न हुए प्राणियों-जीवों का जो पूर्व भव में अन्तर्मुहूर्त का ही आयुष्य विशेष होता, या
छट्टु (बेला) के तप जितनी निर्जरा विशेष होती तो वहाँ से ही सीधे मोक्ष में चले जाते । किन्तु
भवितव्यतादिकना योगे अल्प साधना शेष रह जाने से सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न होते
हैं ॥ (४-२७)

ॐ तिर्यचयोनिविषयः ॐ

॥ मूलसूत्रम्—

औपपातिक-मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ ४-२८ ॥

ॐ सुबोधिका टीका ॐ

उपपातजन्मिनः औपपातिकाः नारकाः देवाश्च तथा गर्भजा सम्मूर्च्छनाश्च मनुष्यः तेभ्यः यथोक्ते च शेषाः । एकेन्द्रियाद्यास्तिर्यग्योनयः भवन्ति । तिर्यग्योनयः समग्रलोकेषु व्याप्ताः यद्यपि प्रधानतया तिर्यग्लोके-मध्यलोके एव तेषां निवासः । तथापि सामान्यात् स्थावरकायिकसद्भावः सर्वत्रोर्ध्वाधो लोकेऽपि प्राप्यते । तिर्यग्लोके मुख्यावासतया ते तिर्यग्योनयः ॥ ४-२८ ॥

ॐ सूत्रार्थ—उपपात जन्मवाले नारक और देव, तथा गर्भज और सम्मूर्च्छिम दोनों प्रकार के मनुष्य, इनके सिवाय जितने भी संसारी जीव हैं एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त, वे सभी जीव तिर्यग्योनि कहे जाते हैं ॥ ४-२८ ॥

॥ विवेचनामृत ॥

तिर्यच किसको कहा जाता है? इस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत सूत्र से मिल रहा है । औपपातिक तथा मनुष्य सिवाय के सभी जीव तिर्यग्योनि-तिर्यच हैं ।

नारक और देव औपपातिक हैं । नारक, देव और मनुष्यों के सिवाय सर्व जीवों की तिर्यग्योनि (तिर्यच) संज्ञा है ।

आगम शास्त्र में भिन्न-भिन्न दृष्टि से जीवों के भिन्न-भिन्न भेदों का प्रतिपादन किया है । इन्द्रियों की अपेक्षा जीवों के पाँच भेद पड़ते हैं । एकेन्द्रिय, वेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय । फिर पञ्चेन्द्रिय जीवों के नारक, देव, मनुष्य और तिर्यच इस तरह चार भेद हैं । एवं नारक, देव और मनुष्य सिवाय के समस्त पञ्चेन्द्रिय जीव तथा एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय तक के जीव तिर्यच कहलाते हैं ।

किन्तु तिर्यच कहने से एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक सब एक प्रकार के होते हैं । देव, नारकी तथा मनुष्य के लिए जैसे नियत स्थान हैं वैसे तिर्यचों के लिए नियत स्थान नहीं है । अर्थात्—देव, नारकी तथा मनुष्य जीव लोक के किसी एक विभाग में पाये जाते हैं । किन्तु तिर्यच जीवों के लिए खास नियत स्थान नहीं हैं । वे समस्त लोक में पाये जाते हैं ॥ (४-२८)

❀ स्थिति-अधिकारः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

स्थितिः ॥ ४-२६ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

अधिकारसूत्रोऽयम् । अर्थात् “वैमानिकानां” इति सूत्रेण वैमानिकदेवाधिकार-पर्यन्तः ॥ ४-२६ ॥

सूत्रार्थ—यहाँ से स्थिति (आयुष्यकाल) के वर्णन का प्रकरण—अधिकार शुरू हो रहा है ॥ ४-२६ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

यह अधिकार सूत्र है । यहाँ से अब स्थिति (आयुष्य काल) का प्रकरण—अधिकार शुरू होता है । मनुष्य तथा तिर्यचों की जघन्य स्थिति और उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन आगे कह चुके हैं । इसलिए अब देव और नारकी के स्थिति-आयुष्य काल विषयक अधिकार कहते हैं ॥ (४-२६)

❀ भवनपतिनिकायस्य उत्कृष्टस्थितिः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पत्योपममध्यर्धम् ॥ ४-३० ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

भवनवासिषु ये दक्षिणार्धाधिपतीनां पत्योपममध्यर्धं परास्थितिः । पूर्वोक्तभवन-वासीनां द्वयोः यथोक्तयोः भवनवासीन्द्रयोः पूर्वो दक्षिणार्धाधिपतिः अन्यः उत्तरार्धाधिपतिः ॥ ४-३० ॥

❀ सूत्रार्थ—भवनों में दक्षिणार्ध के अधिपति (इन्द्र) की उत्कृष्ट स्थिति डेढ़ पत्योपम की है ॥ ४-३० ॥

卐 विवेचनामृत 卐

भवनपति देवों के दस भेद हैं । उनके प्रत्येक के दो विभाग हैं—

(१) दक्षिण दिशा तरफ के भवनों में रहने वाले तथा (२) उत्तर दिशा तरफ के भवनों में रहने वाले । इन दोनों के अधिपति इन्द्र भिन्न-भिन्न हैं । इसलिए दक्षिण दिशा तरफ रहने

वाले असुरकुमार इत्यादि दस प्रकार के दस इन्द्र हैं। तथा उत्तर दिशा तरफ रहने वाले असुरकुमार इत्यादि दस प्रकार के दस इन्द्र हैं।

इस तरह भवनपति निकाय में कुल बीस (२०) इन्द्र हैं। उनमें दक्षिणदिशा तरफ के इन्द्र दक्षिणार्धाधिपति कहलाते हैं। तथा उत्तरदिशा तरफ के इन्द्र उत्तरार्धाधिपति कहलाते हैं। उनमें सर्वदक्षिणार्धाधिपति इन्द्रों की उत्कृष्ट स्थिति डेढ़ पत्योपम की है ॥ (४-३०)

❀ भवनपतिनिकाये उत्तरार्धइन्द्राणां उत्कृष्टस्थितिः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

शेषाणां पादोने ॥ ४-३१ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

भवनवासिषु शेषाणां भवनवासिषु अधिपतीनां द्वे पत्योपमे पादोने परा स्थितिः। के च शेषाः ? महामन्दिरमेरोः अवधितः उत्तरार्धाधिपतिः।

विहायासुरेन्द्रबलिः सर्वेषां उत्तराधिपतीनां उत्कृष्टस्थितिः पादोने द्वे पत्योपमे ॥ ४-३१ ॥

❀ सूत्रार्थ—शेष (उत्तरार्ध) के भवनपति के अधिपतियों की (इन्द्रों की) उत्कृष्ट स्थिति पौने दो [१३] पत्योपम है।

अर्थात्—शेष भवनपति के इन्द्रों की स्थिति पौने दो पत्योपम की जाननी ॥ ४-३१ ॥

卐 विवेचनमृत 卐

भवनवासियों में से शेष अधिपतियों की उत्कृष्ट स्थिति आयुष्यकाल की एक पाद-चतुर्थभाग न्यून दो पत्योपम की है।

अर्थात्—भवनपति निकाय के शेष इन्द्रों की उत्तराधिपति की उत्कृष्ट स्थिति १॥ पत्योपम है।

सारांश—असुरेन्द्र बली के सिवाय सभी उत्तरार्धाधिपतियों की उत्कृष्ट स्थिति पौने दो पत्योपम की है ॥ (४-३१)

❀ भवनपतिनिकायस्य इन्द्राणां स्थितिषु अपवादः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ॥ ४-३२ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

द्वावसुरेन्द्रौ चमर-बली असुरेन्द्रयोस्तु दक्षिणार्धाधिपत्योः सागरोपममधिकं च । यथासंख्यं परा स्थितिः भवति । तथा चोत्कृष्टस्थितिः असुरकुमारीणां सार्धचतुः पत्योपमाः । शेषा नागकुमारीणाञ्च समग्रभवनवासिनीनां उत्कृष्टस्थिति किञ्चिद् न्यूनैकपत्योपमा भवति ॥ ४-३२ ॥

❀ सूत्रार्थ—दक्षिणार्ध के अधिपति चमरेन्द्र तथा उत्तरार्ध के अधिपति बलीन्द्र की उत्कृष्टस्थिति अनुक्रम से एक सागरोपम की तथा कुछ सागरोपम से भी अधिक स्थिति है ॥ ४-३२ ॥

卐 विवेचनमृत 卐

यहाँ पर भवनपति निकाय की जो स्थिति कही गई है, वह स्थिति उत्कृष्ट जाननी । इनमें दक्षिणार्ध के स्वामी चमरेन्द्र की उत्कृष्टस्थिति एक सागरोपम की है । तथा उत्तरार्ध के स्वामी बलीन्द्र की उत्कृष्टस्थिति साधिक एक सागरोपम की है । शेष नागकुमार इत्यादिक की नौ प्रकार के भवनपति दक्षिणार्ध के स्वामी धरणेन्द्रादिक जो नौ इन्द्र हैं, उनकी उत्कृष्टस्थिति डेढ़ पत्योपम की है । तथा उत्तरार्ध के जो भूतेन्द्रादिक नौ इन्द्र हैं उनकी कुछ न्यून दो पत्योपम की उत्कृष्ट स्थिति आयुष्य की है ॥ (४-३२)

❀ वैमानिकदेवानां उत्कृष्टस्थितिः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥ ४-३३ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

अथ वैमानिकदेवानाञ्च सौधर्मकल्पात् सर्वार्थसिद्धिविमानपर्यन्त सर्वेषां देवाना-मायूत्कृष्टस्थितिः वर्ण्यते । अत्र प्रतिज्ञानुसारं वैमानिकदेवानां उत्कृष्टा स्थितिः विवक्षितुम् । प्रथमा सौधर्मेशानां कल्पवासिनां उत्कृष्टा स्थितिः वर्ण्यते ॥ ४-३३ ॥

❀ सूत्रार्थ—अब सौधर्मकल्पादिक देवलोक के देवों की स्थिति क्रमशः—यथाक्रम से कहेंगे ॥ ४-३३ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

अब वैमानिक देवों की अर्थात्—सौधर्म कल्प से लेकर यावत् सर्वार्थसिद्ध विमान तक के समस्त देवों के आयुष्य की उत्कृष्टस्थिति अनुक्रम से कहेंगे ॥ ४-३३ ॥

वैमानिक देवों के आयुष्य की उत्कृष्टस्थिति बताने के लिए यह सूत्र कह रहे हैं—

❀ सौधर्मकल्पवासिदेवानां उत्कृष्टस्थितिः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

सागरोपमे ॥ ४-३४ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

उत्कृष्टस्थितीयं इन्द्रादिदेवापेक्षया एव ज्ञातव्या । प्रथमसौधर्मकल्पे देवानां परा स्थितिर्द्वेसागरोपमे भवति ॥ ४-३४ ॥

❀ सूत्रार्थ—सौधर्म कल्प के देवों की उत्कृष्ट स्थिति दो सागरोपम की है ॥ ४-३४ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

सबसे पहले सौधर्म नामक कल्प (देवलोक) में देवों की परा (उत्कृष्टा) स्थिति दो सागरोपम प्रमाण की है । यह उत्कृष्ट स्थिति इन्द्र या सामान्य देवों की अपेक्षा से जाननी चाहिए । शेष सामान्य अन्य देवों की स्थिति जघन्यस्थिति से लेकर उत्कृष्ट के मध्य में अनेक भेदस्वरूप है ॥ (४-३४)

❀ ईशानकल्पवासिदेवानां उत्कृष्टस्थितिः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

अधिके च ॥ ४-३५ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

ऐशानकल्पवासीनां देवानां उत्कृष्टस्थितिः द्वे सागरोपमेऽधिके परा भवति ॥ ४-३५ ॥

❀ सूत्रार्थ—ईशानकल्पवासी देवों की उत्कृष्ट स्थिति दो सागरोपम से कुछ अधिक है ॥ ४-३५ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

यह भी इन्द्र तथा सामानिक देवों की अपेक्षा से ही सम्भन्नी । इस सूत्र में जो ईशानकल्प (देवलोक) का नामनिर्देश नहीं किया है, तो भी यथासंख्य अर्थात्—क्रम से ईशान का ही बोध होता है । क्योंकि पूर्व में प्रस्तावनारूप सूत्र में यथाक्रम शब्द का उल्लेख किया है ॥ (४-३५)

卐 सनत्कुमारकल्पवासीनां देवानां उत्कृष्टस्थितिः 卐

卐 मूलसूत्रम्—

सप्त सनत्कुमारे ॥ ४-३६ ॥

✽ सुबोधिका टीका ✽

सनत्कुमारकल्पवासीनां देवानां उत्कृष्टस्थितिः सप्तसागरोपमाणि भवन्ति । स्थितीयमपि इन्द्रादिदेवानां ।

माहेन्द्रकल्पात् अच्युतपर्यन्तकल्पानां देवानां उत्कृष्टस्थितेः प्रमाणयति अग्रे-सूत्रम् ॥ ४-३६ ॥

✽ सूत्रार्थ—सनत्कुमार कल्पवासी देवों की उत्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम की है ॥ ४-३६ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

सनत्कुमार कल्प में रहने वाले देवों की स्थिति सात सागरोपम की है । यह स्थिति इन्द्रादिकों की है ।

माहेन्द्र कल्प (देवलोक) से लेकर अच्युतपर्यन्त कल्पों (देवलोकों) के देवों की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण बताने के लिए अब अगला सूत्र कहते हैं ॥ (४-३६)

卐 मूलसूत्रम्—

विशेष-त्रि-सप्त-दशकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभिरधिकानि च ॥ ४-३७ ॥

✽ सुबोधिका टीका ✽

पूर्वसूत्रेण अस्मिन् सूत्रे सप्तशब्दस्यानुवृत्तिः । अतः एभिः विशेषादिभिः अधिकानि सप्त माहेन्द्रादिषु परास्थितिः जायते । माहेन्द्रे कल्पे सप्त विशेषाधिकानि । ब्रह्मलोके त्रिभिरधिकानि सप्तदशेति । लान्तककल्पे सप्तभिरधिकानि सप्तचतुर्दशेति ।

महाशुक्रकल्पे दशभिरधिकानि सप्त सप्तदशेत्यर्थः । सहस्रारकल्पे एकादशभिरधिकानि सप्त अष्टादशेत्यर्थः । आनत-प्राणतयोः त्रयोदशभिरधिकानि सप्तविंशतिरित्यर्थः । आरण-अच्युतयोः पञ्चदशभिरधिकानि सप्तविंशतिरित्यर्थः । अन्यमपि यच्च इमे द्वे कल्पे एकैकेन्द्रभोग्यमस्ति ॥ ४-३७ ॥

❧ सूत्रार्थ-पूर्व सूत्र से इस सूत्र में सप्त शब्द की अनुवृत्ति आती है । इसलिए माहेन्द्र कल्पवासी देवों की उत्कृष्ट स्थिति सात सागर से कुछ अधिक है । ब्रह्मदेव-लोकवासी देवों की दस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है । लान्तककल्पवासी देवों की चौदह सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है । महाशुक्रकल्पवासी देवों की सत्रह सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है । सहस्रार कल्पवासी देवों की अठारह सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है । आनत-प्राणतकल्पवासी देवों की बीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है । तथा आरण-अच्युत कल्पवासी देवों की बाईस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है ॥ ४-३७ ॥

卐 विवेचनान्त 卐

यहाँ पूर्व सूत्र से सात की अनुवृत्ति आती है । इस सात संख्या में विशेष ३, ७, १०, ११, १३, तथा १५ सागरोपम बढ़ाने से क्रमशः माहेन्द्र इत्यादि कल्पों के देवों की उत्कृष्ट स्थिति होती है । माहेन्द्र की साधक सात सागरोपम, ब्रह्म की दस सागरोपम, लान्तक की चौदह सागरोपम, महाशुक्र में सत्रह सागरोपम, सहस्रार में अठारह सागरोपम, आनत-प्राणत में बीस सागरोपम, आरण-अच्युत में बाईस सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है ॥ (४-३७)

❧ कल्पातीतदेवानां उत्कृष्टस्थितिः ❧

卐 मूलसूत्रम्-

आरणाऽच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु-विजयादिषु
सर्वार्थसिद्धे च ॥ ४-३८ ॥

❧ सुबोधिका टीका ❧

आरणाच्युतकल्पे द्वाविंशसागरोत्कृष्टा स्थितिः भवति । आरणाच्युतादूर्ध्व-मेकैकेनाधिका स्थितिर्भवति । नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च । आरणाच्युते द्वाविंशति ग्रैवेयकेषु पृथगेकैकेनाधिका त्रयोविंशतिः इति ।

एवमेकैकेनाधिका सर्वेषु नवसु यावत् सर्वेषामुपरि नवमे एकत्रिंशत् । सा विजयादिषु चतुर्षु अपि एकेनाधिका द्वात्रिंशत् । साप्येकेनाधिका सर्वार्थसिद्धे त्रयस्त्रिंशदिति ।

सर्वार्थसिद्धदेवस्थितौ जघन्य-मध्यमोत्कृष्टभेदाः नैव भवन्ति । एकमेव भेदम्, यस्य प्रमाणं त्रयस्त्रिंशसागरोपमः । अर्थात्—सर्वार्थसिद्धानामायुः त्रयस्त्रिंशसागरोपमा भवति ॥ ४-३८ ॥

✽ सूत्रार्थ—आरण्यकल्प तथा अच्युतकल्प से ऊपर नौ ग्रैवेयक और विजयादि चार तथा सर्वार्थसिद्ध विमान में एक-एक सागरोपम अधिकाधिक उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण है ॥ ४-३८ ॥

卐 विवेचनमृत 卐

आरण्य और अच्युतकल्प से ऊपर नौ ग्रैवेयक तथा विजयादिक चार एवं सर्वार्थसिद्ध इनमें अनुक्रम से एक-एक सागर अधिक-अधिक उत्कृष्ट आयुष्य-स्थिति का प्रमाण जानना । आरण्य-अच्युतकल्प में बाईस सागर प्रमाण की उत्कृष्ट स्थिति है ।

इसके ऊपर नौ ग्रैवेयकों में भिन्न-भिन्न एक-एक ग्रैवेयक में एक-एक सागर अधिक-अधिक प्रमाण होने से, उन-उन ग्रैवेयकों की उत्कृष्ट आयुष्य स्थिति का प्रमाण होता है । अर्थात्—

- ✽ पहले ग्रैवेयक के देवों की तेईस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है ।
- ✽ दूसरे ग्रैवेयक के देवों की चौबीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है ।
- ✽ तीसरे ग्रैवेयक के देवों की पच्चीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है ।
- ✽ चौथे ग्रैवेयक के देवों की छब्बीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है ।
- ✽ पाँचवें ग्रैवेयक के देवों की सत्तावीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है ।
- ✽ छठे ग्रैवेयक के देवों की अट्ठाईस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है ।
- ✽ सातवें ग्रैवेयक के देवों की उनतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है ।
- ✽ आठवें ग्रैवेयक के देवों की तीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है ।
- ✽ नौवें ग्रैवेयक के देवों की इकतीस सागरोपम की उत्कृष्ट स्थिति है ।

इन ग्रैवेयकों से ऊपर चारों विजयादि में एक सागरोपम की वृद्धि है। अर्थात्—(१) विजय, (२) वैजयन्त, (३) जयन्त और (४) अपराजित, इन चारों में ही विमानवासी देवों की उत्कृष्ट स्थिति तृतीस सागरोपम की है। इसके ऊपर सर्वार्थसिद्ध विमान के देवों की स्थिति तृतीस सागरोपम की है।

ॐ देवलोक — आयुष्य	ॐ	देवलोक — आयुष्य ॐ
[१] ग्रैवेयक २३ सागरोपम		[७] ग्रैवेयक २६ सागरोपम
[२] " २४ "		[८] " ३० "
[३] " २५ "		[९] " ३१ "
[४] " २६ "		□ विजयादि ३२ "
[५] " २७ "		□ सर्वार्थसिद्ध ३३ "
[६] " २८ "		विमान

विशेष—सर्वार्थसिद्ध विमान के देवों की स्थिति में एक विशेषता यह है कि—यहाँ पर जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट कोई भेद नहीं है। यहाँ उनके आयुष्य की स्थिति का प्रमाण तृतीस सागरोपम है। अर्थात्—सर्वार्थसिद्ध विमान में जितने भी देव उत्पन्न होते हैं, उन सभी की आयुष्य स्थिति तृतीस सागरोपम की हुआ करती है ॥ (४-३८)

ॐ जघन्यस्थितिः ॐ

ॐ मूलसूत्रम्—

अपरा पत्योपममधिकं च ॥ ४-३६ ॥

✽ सुबोधिका टीका ✽

सम्प्रति जघन्यस्थितेः वर्णनं क्रियते । सौधर्मादिष्वेव यथाक्रममपरा स्थितिः पत्योपममधिकं च । अपरा जघन्या निकृष्टेति । परा प्रकृष्टा उत्कृष्टेत्यनर्थान्तरम् । तत्र सौधर्मेऽपरास्थितिः पत्योपममैशाने पत्योपममधिकश्च । अपरजघन्यस्य निकृष्टस्य च एकार्थः । प्रकृष्टस्य उत्कृष्टस्य चापि एकार्थं भवति ॥ ४-३६ ॥

ॐ सूत्रार्थ—सौधर्मकल्प में और ऐशानकल्प में जघन्य स्थिति का प्रमाण अनुक्रम से एक पत्योपम तथा एक पत्योपम से कुछ अधिक है ॥ ४-३६ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

अब सौधर्मादिक की जघन्यस्थिति-आयुष्य का वर्णन करते हैं। वह भी अनुक्रम से सौधर्मकल्पादिक के विषय में ही जाननी चाहिए।

प्रथम सौधर्मकल्प (देवलोक) में और द्वितीय ऐशानकल्प (देवलोक) में देवों की जघन्य-स्थिति क्रम से एक पत्योपम और एक पत्योपम से कुछ अधिक होती है।

अर्थात्—सौधर्मनामक प्रथम कल्प (देवलोक) में देवों की जघन्यस्थिति-आयुष्य का प्रमाण एक पत्योपम का है। तथा ऐशाननामक द्वितीय कल्प-देवलोक में देवों की जघन्यस्थिति आयुष्य का प्रमाण एक पत्योपम से कुछ अधिक है।

अपरजघन्य तथा निकृष्टजघन्य दोनों शब्दों का अर्थ एक ही होता है। तथा परप्रकृष्ट और उत्कृष्ट दोनों का भी एक ही अर्थ समझना चाहिए ॥ (४-३६)

卐 मूलसूत्रम्—

सागरोपमे ॥ ४-४० ॥

* सुबोधिका टीका *

सानत्कुमारनामककल्पे देवानां जघन्यस्थितेः प्रमाणं द्वे सागरोपमे भवतः ॥ ४-४० ॥

* सूत्रार्थ—सानत्कुमारकल्पवर्ती देवों की जघन्य स्थिति दो सागरोपम की है ॥ ४-४० ॥

卐 विवेचनामृत 卐

तृतीय सानत्कुमार नामक कल्पवर्ती देवों की जघन्यस्थिति-आयुष्य का प्रमाण दो सागरोपम का है। अर्थात्—उनकी जघन्यस्थिति दो सागरोपम की जानना ॥ (४-४०)

卐 मूलसूत्रम्—

अधिके च ॥ ४-४१ ॥

* सुबोधिका टीका *

चतुर्थमाहेन्द्रकल्पवर्ती - देवानां जघन्यस्थितिरधिके द्वे सागरोपमे भवतः ॥ ४-४१ ॥

✽ सूत्रार्थ—माहेन्द्रकल्पवासी देवों की जघन्य स्थिति दो सागरोपम से कुछ अधिक है ॥ ४-४१ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

माहेन्द्रकल्पवर्ती देवों की जघन्यस्थिति का प्रमाण दो सागरोपम से कुछ अधिक है । अर्थात्—देवों की जघन्यस्थिति दो सागरोपम से कुछ अधिक जानना ॥ (४-४१)

卐 मूलसूत्रम्—

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥ ४-४२ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

माहेन्द्रात् परतः कल्पानां पूर्वा पराऽनन्तरा जघन्यास्थितिः भवति । माहेन्द्रे परास्थितिः विशेषाधिकानि सप्त सागरोपमाणि सा ब्रह्मलोके जघन्यास्थितिः भवति । ब्रह्मलोके दश सागरोपमाणि परास्थितिः भवति । सा लान्तके जघन्या । एवमासर्वार्थसिद्धादिति । विशेषस्तु विजयादिषु चतुर्षु परा स्थितिः त्रयस्त्रिंशत् सागरोपमाणि साऽजघन्योत्कृष्टा सर्वार्थसिद्ध इति ॥ ४-४२ ॥

✽ सूत्रार्थ—चतुर्थ माहेन्द्र कल्प से आगे पहले कल्प की जो उत्कृष्ट स्थिति है वही आगे के कल्प की जघन्य स्थिति का प्रमाण हो जाता है ॥ ४-४२ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

पूर्व-पूर्व-स्वर्ग-देवलोक में जो उत्कृष्ट स्थिति है वही आगे-आगे के स्वर्ग-देवलोक की जघन्य स्थिति समझनी चाहिए । सौधर्म स्वर्ग-देवलोक के देवों की जो जघन्यस्थिति है, इस अनुक्रम से यहाँ पर भी जानना । जैसे—पहले स्वर्गदेवलोक की एक पत्न्योपम की जघन्यस्थिति, दूसरे स्वर्ग-देवलोक की उससे साधिक, तीसरे की दो सागरोपम की, चौथे की दो सागरोपम से अधिक, पाँचवें की सात सागरोपम की, छठे की दस सागरोपम की, सातवें की चौदह सागरोपम की, आठवें की सत्रह सागरोपम की, नौवें की अठारह सागरोपम की, दसवें की उन्नीस सागरोपम की, ग्यारहवें की बीस सागरोपम की, बारहवें की इक्कीस सागरोपम की, नौ ग्रंथेयक में नीचे तीन की २२-२३-२४ सागरोपम की, मध्य के तीन की २५-२६-२७ सागरोपम की, ऊपर के तीन की २८-२९-३० सागरोपम की, चार अनुत्तर विमान की ३१ सागरोपम की तथा सर्वार्थसिद्ध विमान की ३३ सागरोपम की जघन्यस्थिति है ।

विशेष—विजयादिक चार विमानों में उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागरोपम की है । वही आगे के सर्वार्थसिद्ध विमान में जघन्यस्थिति का प्रमाण है । किन्तु सर्वार्थसिद्ध विमान की स्थिति में जघन्यउत्कृष्ट भेद नहीं है । वहाँ तो तैंतीस सागरोपम की ही स्थिति है ।

* देवलोक जघन्य स्थिति *			
५ साधिक ७	सा०	१ ग्रैवेयक २२	सा०
६	१० सा०	२ „ २३	सा०
७	१४ सा०	३ „ २४	सा०
८	१७ सा०	४ „ २५	सा०
९-१०	१८-१९ सा०	५ „ २६	सा०
११-१२	२०-२१ सा०	६ „ २७	सा०
		७ ग्रैवेयक २८	सा०
		८ „ २९	सा०
		९ „ ३०	सा०
		विजयादि चार	३१ सा०

॥ (४-४२) ॥

* नारकजीवानां जघन्यस्थितिः *

॥ मूलसूत्रम्—

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ४-४३ ॥

* सुबोधिका टीका *

नारकभूमिषु अपि नारकाणां जीवानां जघन्याऽपि एवमेव यथा देवानाम् । नारकाणां च द्वितीयादिषु भूमिषु पूर्वा पूर्वा परा स्थितिरन्तरा परतः परतोऽपरा भवति । यथा रत्नप्रभायां नारकाणां एकं सागरोपमं परा स्थितिः भवति । सा जघन्या शर्कराप्रभायाम् । त्रीणि सागरोपमाणि परा स्थितिः शर्कराप्रभायां सा जघन्या बालुकाप्रभायाम् । एवं सर्वासु एव । तमःप्रभायां द्वाविंशति सागरोपमाणि परा स्थितिः । सा जघन्या महातमः प्रभायामिति ।

अत्र विशेषेणाह—सप्तमतमस्तमःप्रभायां भूम्यां पञ्चबिल-नरकाः येषु चत्वारः चतुर्षु दिक्षु एकश्च मध्ये तेषु । यः अप्रतिष्ठाननरकेति प्रसिद्धः ॥ ४-४३ ॥

❖ सूत्रार्थ—द्वितीय नरकादि में भी पहली-पहली भूमि के नारक जीवों की जो उत्कृष्ट स्थिति होती है, वही आगे की नरकभूमि की जघन्य स्थिति होती है ॥ ४-४३ ॥

卐 विवेचनमृत 卐

द्वितीयादि नरकभूमि में भी पूर्व-पूर्व की जो उत्कृष्टस्थिति है, वही उत्तर-उत्तर की जघन्यस्थिति होती है। जैसे—पहली भूमि रत्नप्रभा में नारक जीवों की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण एक सागरोपम का है। वही आगे दूसरी भूमि शर्कराप्रभा में नारक जीवों की जघन्यस्थिति का प्रमाण है, किन्तु उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण तीन सागरोपम का है। वही आगे की अव्यवहित बालुकाप्रभा में नारक के जीवों की जघन्यस्थिति का प्रमाण है। यही अनुक्रम अन्त तक सातवीं तमस्तमः प्रभा भूमि तक समस्त भूमियों के सम्बन्ध में समझना।

इस अनुक्रम के अनुसार छठी तमःप्रभा भूमि में जो उत्कृष्टस्थिति का प्रमाण बाईस सागरोपम का है, वही छठी से अव्यवहित आगे की सातवीं भूमि के नारक जीवों की जघन्यस्थिति का प्रमाण जानना चाहिए।

इस स्थिति के सम्बन्ध में यह बात विशेषरूप से समझने की है कि—सातवीं नरकभूमि में पाँच बिल-नरक हैं, जिनमें से चार चारों दिशाओं में हैं, तथा एक चारों दिशाओं के मध्य में है। जिसको अप्रतिष्ठान नरक कहते हैं।

चार दिशाओं के जो चार बिल हैं, उनमें जघन्य ३२ सागरोपम तथा उत्कृष्ट ३३ सागरोपम प्रमाण स्थिति है। परन्तु मध्य के अप्रतिष्ठान नरक में जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं है।

वहाँ पर उत्पन्न होने वाले, अथवा रहने वाले नारक जीवों की अजघन्योत्कृष्ट स्थिति तैत्तिष सागरोपम की ही है।

❖ नारकी जीवों की जघन्य स्थिति ❖		
दूसरी नरक भूमि—	चौथी नरक—	छठी नरक—
१ सागरोपम	७ सागरोपम	१७ सागरोपम
तीसरी नरक—	पाँचवीं नरक—	सातवीं नरक—
३ सागरोपम	१० सागरोपम	२२ सागरोपम

卐 मूलसूत्रम्—

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ४-४४ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

प्रथमायां भूमौ रत्नप्रभायां नारकाणां दशवर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिः
॥ ४-४४ ॥

❀ सूत्रार्थ—पहली रत्नप्रभा नामक भूमि में नारक जीवों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है ॥ ४-४४ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

पहली भूमि रत्नप्रभा में उत्पन्न नारक जीवों की जघन्यस्थिति का प्रमाण दस हजार वर्ष का है । आयुष्यस्थिति के प्रकरण को पाकर अब भवनपति-व्यन्तर-ज्योतिष्क देवों की जघन्यस्थिति का भी वर्णन करने के लिए आगे का सूत्र कहते हैं ॥ (४-४४)

❀ भवनपति-व्यन्तरदेवानां जघन्यस्थितिः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

भवनेषु च ॥ ४-४५ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

दशवर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिः भवनवासीदेवानां भवति ॥ ४-४५ ॥

❀ सूत्रार्थ—भवनवासी देवों की भी जघन्यस्थिति दस हजार वर्ष की है ॥ ४-४५ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

भवनवासी देवों की जघन्यस्थिति का प्रमाण दस हजार (१००००) वर्ष है । अब क्रम के अनुसार व्यन्तर देवों की जघन्यस्थिति आगे के सूत्र में बता रहे हैं ॥ (४-४५)

❀ व्यन्तरदेवानां जघन्यस्थितिः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

व्यन्तराणां च ॥ ४-४६ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

दशवर्षसहस्राणि जघन्या स्थितिः व्यन्तराणां देवानामपि भवति ॥ ४-४६ ॥

ॐ सूत्रार्थ—व्यन्तर देवों की भी जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है ॥ ४-४६ ॥

卐 विवेचनमृत 卐

व्यन्तर देवों की जघन्यस्थिति का प्रमाण भी दस हजार वर्ष ही है ।

व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट स्थिति यहाँ बताने के लिए अब आगे का सूत्र कहते हैं ॥ (४-४६)

ॐ व्यन्तरदेवानां उत्कृष्टा स्थितिः ॐ

卐 मूलसूत्रम्—

परा पत्योपमम् ॥ ४-४७ ॥

ॐ सुबोधिका टीका ॐ

व्यन्तरदेवानां उत्कृष्टा स्थितिः एकपत्योपमं भवति ॥ ४-४७ ॥

ॐ सूत्रार्थ—व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट स्थिति एक पत्योपम की है ॥ ४-४७ ॥

卐 विवेचनमृत 卐

व्यन्तरदेवों की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण एक पत्योपम का है ।

क्रम के अनुसार ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट स्थिति अब आगे के सूत्र में बता रहे हैं ॥ (४-४७)

ॐ ज्योतिष्कदेवानां उत्कृष्टा स्थितिः ॐ

卐 मूलसूत्रम्—

ज्योतिष्काणामधिकम् ॥ ४-४८ ॥

ॐ सुबोधिका टीका ॐ

ज्योतिष्कनिकायदेवानामुत्कृष्टस्थितिप्रमाणमपि एकपत्योपमात् अधिकं भवति । अधिकस्य प्रमाणं यथा चन्द्रस्य लक्षैकवर्षाधिकम्, सूर्यस्य सहस्रैकवर्षाधिकम्, ज्योतिष्क-देवीनां उत्कृष्टस्थितिप्रमाणं पत्योपमार्थं परा पञ्चाशत् सहस्रं भवति ॥ ४-४८ ॥

ॐ सूत्रार्थ—ज्योतिष्कनिकाय के देवों की उत्कृष्ट स्थिति एक पत्योपम से कुछ अधिक है ॥ ४-४८ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

ज्योतिष्कनिकाय के देवों की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण एक पल्योपम से कुछ अधिक है । उसका प्रमाण इस प्रकार है—चन्द्रमा का एक लाख वर्ष अधिक और सूर्य का एक हजार वर्ष अधिक है । ज्योतिष्क देवियों की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण आधा पल्योपम और पचास हजार वर्ष है । ग्रहादिकों की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण आगे के सूत्र में बता रहे हैं ॥ (४-४८)

❀ ग्रहाणां उत्कृष्ट स्थितिः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

ग्रहाणामेकम् ॥ ४-४६ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

ग्रहाणां एकम् पल्योपमं स्थितिः भवतीति ॥ ४-४६ ॥

❀ सूत्रार्थ—ग्रहों की उत्कृष्ट स्थिति एक पल्योपम की है ॥ ४-४६ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

ग्रहों की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण एक पल्योपम का है । नक्षत्रों की उत्कृष्ट स्थिति का प्रमाण आगे के सूत्र में बता रहे हैं ॥ ४-४६ ॥

❀ नक्षत्राणां उत्कृष्टस्थितिः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

नक्षत्राणामर्धम् ॥ ४-५० ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

अश्विनी-भरणी-कृत्तिकादिसप्तविंशतिनक्षत्राणां देवानां पल्योपमार्धं परा स्थितिः भवति ॥ ४-५० ॥

❀ सूत्रार्थ—नक्षत्रों की उत्कृष्ट स्थिति आधा पल्योपम है ॥ ४-५० ॥

卐 विवेचनामृत 卐

अश्विनी-भरणी-इत्यादि नक्षत्र जाति के ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट स्थिति आधा पल्योपम प्रमाण है । ताराओं की उत्कृष्ट स्थिति का वर्णन आगे के सूत्र में बता रहे हैं ॥ ४-५० ॥

❀ तारकाणां उत्कृष्टस्थितिः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

तारकाणां चतुर्भागः ॥ ४-५१ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

तारकाणां च पल्योपमचतुर्भागः परा स्थितिः भवतीति ॥ ४-५१ ॥

❀ सूत्रार्थ—प्रकीर्णक ताराश्रों की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का चतुर्थभाग है ॥ ४-५१ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

ताराश्रों की उत्कृष्ट स्थिति पल्योपम का चतुर्थ भाग है । अर्थात्—ताराश्रों की उत्कृष्ट स्थिति $\frac{1}{4}$ पल्योपम है ।

ताराश्रों की जघन्य स्थिति आगे के सूत्र में बताते हैं ॥ ४-५१ ॥

❀ ज्योतिष्कदेवानां जघन्यस्थितिः ❀

卐 मूलसूत्रम्—

जघन्या त्वष्टभागः ॥ ४-५२ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

तारकाणां तु जघन्या स्थितिः पल्योपमाष्टभागः भवतीति ॥ ४-५२ ॥

❀ सूत्रार्थ—ताराश्रों की जघन्य स्थिति पल्योपम का आठवाँ भाग है ॥ ४-५२ ॥

卐 विवेचनामृत 卐

ताराश्रों की जघन्य स्थिति का प्रमाण एक पल्योपम का आठवाँ भाग मात्र है । अर्थात्—ताराश्रों की जघन्य स्थिति $\frac{1}{8}$ पल्योपम है ॥ ४-५२ ॥

卐 मूलसूत्रम्—

चतुर्भागः शेषाणाम् ॥ ४-५३ ॥

❀ सुबोधिका टीका ❀

तारकाभ्यः शेषाणां ज्योतिष्काणां अपरा स्थितिः चतुर्थभागः पल्योपमस्य भवतीति ॥ ४-५३ ॥

❁ सूत्रार्थ—ताराग्रों से शेष ज्योतिष्क देवों की जघन्य स्थिति पल्योपम का चतुर्थ भाग है ॥ ४-५३ ॥

❁ विवेचनमृत ❁

ताराग्रों से शेष जो ज्योतिष्क देव हैं, उनकी अपरा-जघन्या स्थिति पल्योपम का एक चतुर्थ भाग है । अर्थात् शेष ज्योतिष्क देवों की जघन्य स्थिति [१/४] पल्योपम है ।

सारांश—ताराग्रों की जघन्य स्थिति ऊपर के सूत्र में बता दी है । ज्योतिष्क देवों के सूर्यादि चार भेदों में जघन्य स्थिति की विचारणा करने की रहती है । ज्योतिष्क के चार भेदों में भी सूर्य-चन्द्र इन्द्रों की, उनकी इन्द्राणियों की तथा विमान के अधिपति देवों की जघन्य स्थिति नहीं है । इसलिए यहाँ शेष तरीके सूर्यादिक चार विमानों में रहने वाले सामान्य देव समझने चाहिए ॥ ४-५३ ॥

❁ भवनपति देव-देवियों की उत्कृष्ट स्थिति का कोष्ठक (यन्त्र) ❁

निकाय	देव और देवियाँ	उत्कृष्ट स्थिति
नागकुमारादि नव असुर कुमार देव-देवियाँ	❁ दक्षिण दिशा के देवों की— ❁ दक्षिण दिशा की देवियों की— ❁ उत्तर दिशा के देवों की— ❁ उत्तर दिशा की देवियों की— ❁ दक्षिण दिशा के देवों की— ❁ दक्षिण दिशा की देवियों की— ❁ उत्तर दिशा के देवों की— ❁ उत्तर दिशा की देवियों की—	१ सागरोपम की ३॥ पल्योपम की साधिक एक सागरोपम की ४॥ पल्योपम की १॥ पल्योपम की ०॥ पल्योपम की १॥ पल्योपम की देशोन पल्योपम की
❁ प्रत्येक प्रकार के भवनपति निकाय के देव-देवियों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की जाननी ।		

ॐ व्यन्तर निकाय के प्रत्येक प्रकार के देवों की उत्कृष्ट स्थिति १ पत्योपम की होती है ।
तथा व्यन्तर निकाय की प्रत्येक प्रकार की देवियों की उत्कृष्ट स्थिति ०।। पत्योपम की होती है ।

सर्व प्रकार के देव और देवियों की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की जाननी ।

卐 ज्योतिष्क देव-देवियों की उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति का कोण्ठक-यन्त्र 卐

देव	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
ॐ चन्द्र-देव	एक लाख वर्ष अधिक एक पत्योपम की	१/४ पत्योपम की
ॐ चन्द्र-देवियाँ	पचास हजार वर्ष अधिक ०।। पत्योपम की	"
ॐ सूर्य-देव	एक हजार वर्ष अधिक एक पत्योपम की	"
ॐ सूर्य-देवियाँ	पाँचसौ वर्ष अधिक ०।। पत्योपम की	"
ॐ ग्रह-देव	एक पत्योपम की	"
ॐ ग्रह-देवियाँ	०।। पत्योपम की	"
ॐ नक्षत्र-देव	०।। पत्योपम की	"
ॐ नक्षत्र-देवियाँ	साधिक ०। पत्योपम की	"
ॐ तारा-देव	०। पत्योपम की	१/८ पत्योपम की
ॐ तारा-देवियाँ	साधिक १/८ पत्योपम की	"
ॐ भवनपति आदि चारों निकायों में इन्द्रों और इन्द्राणियों की स्थिति उत्कृष्ट होती है ।		

卐 वंमानिक देवों की उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति का यन्त्र-कोष्ठक 卐

	देवलोक	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
❀	[१] कल्प	२ सागरोपम की	१ पत्योपम की
❀	[२] "	साधिक २ सागरोपम की	साधिक १ पत्योपम की
❀	[३] "	७ सागरोपम की	२ सागरोपम की
❀	[४] "	साधिक ७ सागरोपम की	साधिक २ सागरोपम की
❀	[५] "	१० "	७ "
❀	[६] "	१४ "	१० "
❀	[७] "	१७ "	१४ "
❀	[८] "	१८ "	१७ "
❀	[९] "	१९ "	१८ "
❀	[१०] "	२० "	१९ "
❀	[११] "	२१ "	२० "
❀	[१२] "	२२ "	२१ "
卐	(१) ग्रैवेयक	२३ "	२२ "
卐	(२) "	२४ "	२३ "
卐	(३) "	२५ "	२४ "
卐	(४) "	२६ "	२५ "
卐	(५) "	२७ "	२६ "
卐	(६) "	२८ "	२७ "
卐	(७) "	२९ "	२८ "
卐	(८) "	३० "	२९ "
❀	विजयादि चार	३१ "	३० "
❀	सर्वार्थसिद्ध विमान	३२ सागरोपम की	३१ " × ×

*** वंमानिक देवियों की उत्कृष्ट-जघन्य स्थिति का यन्त्र-कोष्ठक ***

देवलोक	देवी	उत्कृष्ट स्थिति	जघन्य स्थिति
[१] सौधर्म	परिगृहीता	७ पल्योपम की	-- १ पल्योपम की
[२] सौधर्म	अपरिगृहीता	५० पल्योपम की	१ पल्योपम की
[३] ईशान	परिगृहीता	६ पल्योपम की	साधिक एक पल्योपम की
[४] ईशान	अपरिगृहीता	५५ पल्योपम की	साधिक एक पल्योपम की

॥ श्रोतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य चतुर्थाध्यायस्य सारांशः ॥

देवाश्चतुर्निकायाऽपि, तुर्याध्याये विवक्षिता ।
 अन्तर्मदश्च तेषां हि, निकायानां विवर्णितम् ॥ १ ॥
 इन्द्रादिकानां कल्पत्वं, पर्यन्तं स्वर्गद्वादशः ।
 कल्पनामाविधा काऽस्ति, कृतं तस्या विवेचनम् ॥ २ ॥
 व्यन्तराष्टप्रभेदा हि, लेश्ये द्वे वर्णितः पुरः ।
 देवानां कामसौख्यञ्च, कृतमदेवीकवर्णनम् ॥ ३ ॥
 अप्रवीचारदेवानां, प्रवीचाराऽपि वर्णिता ।
 नागामुरादिदेवा ये, कीर्त्तिताः दशभेदतः ॥ ४ ॥
 भेदाष्टव्यन्तरा ख्याता, सर्वे किन्नरराक्षसाः ।
 ज्योतिष्काणां गतिः सर्वा, सूर्यमण्डलमण्डनम् ॥ ५ ॥
 सूर्यश्चन्द्रमसौ द्वौ च, ग्रहनक्षत्रतारकाः ।
 नृलोके नित्यगतयः, मेरुप्रदक्षिणायुताः ॥ ६ ॥
 ज्योतिष्कैकालभागं हि आवल्योच्छ्वासहूह च ।
 ज्योतिषचक्रः भ्रमति, लोके भेदं परिक्रमन् ॥ ७ ॥
 चतुर्थदेवनिकाये, ये देवा ऋद्धिधारकाः ।
 मूले कतिविधास्ते तु, विज्ञाताः सूक्ष्मभेदतः ॥ ८ ॥
 कल्पोपपन्नस्य का व्याख्या, कल्पातीतश्च कः भवेत् ।
 सौधर्मैशानमाहेन्द्राः, आरणाच्युतद्वादशाः ॥ ९ ॥
 उपर्युपरिसुखादि, दुःखानां न्यूनताधिकम् ।
 वैमानिकानां देवानां, युक्तियुक्त्या प्रबोधितम् ॥ १० ॥
 भगवतां च देवानामर्हता गर्भजत्सवे ।
 देवाः प्रमुदिताः सन्ति, किं सर्वे सम्यग्दृष्टयः ? ॥ ११ ॥
 लोकान्तिकाश्च के देवाः ?, सर्वे सारस्वतादयः ।
 अनुत्तरविमानानां, किं विशेष्यं प्रकीर्तितम् ? ॥ १२ ॥

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः येऽपि, विमानाः 'कल्प' कथ्यते ।
 ब्रह्मलोकालयादेवाः, ब्रह्मवास्यं वसन्ति ते ॥ १३ ॥
 अतः लोकान्तिकाः ख्याताः, पूर्वाशादि प्रकर्म च ।
 तिर्यञ्चानां स्वरूपं किं ?, शेषीपातिक ये हि च ॥ १४ ॥
 दक्षिणाधिपतीनां तथोत्तरेश्वरास्थितिः ।
 सार्धपत्योपमोत्कृष्टा, भवनेश्वरयोः द्वयोः ॥ १५ ॥
 चमरो दक्षिणार्धेशः बलिरर्धोत्तरेश्वरः ।
 सागरोपममधिका, तेषां संख्या स्थितिः भवेत् ॥ १६ ॥
 सौधमत् सिद्धदेवानां, स्थिति द्वे सागरोपमे ।
 सनत्कुमारे सप्तश्च, माहेन्द्राच्युतपरास्थितिः ॥ १७ ॥
 माहेन्द्रात् परतः पूर्वा, पराऽनन्तर या स्थितिः ।
 जघन्या सा ब्रह्मलोके, भवेत् दशसागरोपमा ॥ १८ ॥
 रत्नप्रभेति नारके, जघन्या सागरोपमा ।
 तथैव शर्करायां हि, द्वाविंशतिस्तमःप्रभा ॥ १९ ॥
 दशवर्षसहस्राणि, आद्यायां नारकस्थितिः ।
 भवनवासिनां वर्षं, दशसहस्रामिता भवेत् ॥ २० ॥
 जघन्या व्यन्तराणां, दश सहस्राणि जायते ।
 ज्योतिष्काणां सुराणाञ्च, पत्योपमपरास्थितिः ॥ २१ ॥
 एकपत्योपमोत्कृष्टा, ग्रहाणामपि स्थितिर्भवेत् ।
 पत्योपमार्ध परा हि, नक्षत्राणां स्थितिः कृता ॥ २२ ॥
 पत्योपम चतुर्भाः, तारकाणां स्थितिर्भवेत् ।
 तारकेभ्य हि शेषास्ते, ज्योतिष्का देव सन्ति ये ॥ २३ ॥
 तेषां स्थितिः चतुर्भाः पत्योपमा परा स्थितिः ।
 समाप्तोऽयं तुरीयो हि, देवानां गति वर्णितः ॥ २४ ॥

॥ इति तत्त्वार्थाधिगमस्य देवगतिवर्णनविषयीकृतः यस्मिन्निति
 चतुर्थोऽध्यायः सारांशः समाप्तः ॥

इति श्रीशासनसम्राट्-सूरिचक्रचक्रवर्ति-तपोगच्छाधिपति-भारतीयभव्य-
विभूति-महाप्रभावशालि-अखण्डब्रह्मतेजोमूर्ति - श्रीकदम्बगिरिप्रमुखानेकप्राचीन-
तीर्थोद्धारक - श्रीवलभीपुरनरेशाद्यनेकनृपतिप्रतिबोधक - चिरन्तनयुगप्रधानकल्प-
वचनसिद्धमहापुरुष-सर्वतन्त्रस्वतन्त्र - प्रातःस्मरणीय-परमोपकारि-परमपूज्याचार्य-
महाराजाधिराज श्रीमद्विजयनेमिसूरीश्वराणां दिव्यपट्टालंकार-साहित्यसम्राट्-
व्याकरणवाचस्पति-शास्त्रविशारद - कविरत्न-साधिकसप्तलक्षश्लोकप्रमाणनूतन-
संस्कृत-साहित्यसर्जक - परमशासनप्रभावक - बालब्रह्मचारि - परमपूज्याचार्यप्रवर
श्रीमद्विजयलावण्यसूरीश्वराणां प्रधानपट्टधर - धर्मप्रभावक - शास्त्रविशारद-
कविदिवाकर - व्याकरणरत्न-स्याद्यन्तरत्नाकराद्यनेकग्रन्थकारक - बालब्रह्मचारि-
परमपूज्याचार्यवर्य श्रीमद्विजयदक्षसूरीश्वराणां सुप्रसिद्धपट्टधर-जैनधर्मदिवाकर-
तीर्थप्रभावक - राजस्थानदीपक-मरुधरदेशोद्धारक - शास्त्रविशारद - साहित्यरत्न-
कविभूषण - बालब्रह्मचारि - श्रीमद्विजयसुशीलसूरिणा श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य
चतुर्थाध्यायस्योपरि विरचिता 'सुबोधिका टीका' एवं तस्य सरल हिन्दीभाषायां
विवेचनामृतम् ।



श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्र के चतुर्थाध्याय का

❀ हिन्दी पद्यानुवाद ❀

मूलसूत्रकार-पूर्वधर महर्षि पूज्य वाचकप्रवर श्री उमास्वाति जी महाराज

हिन्दीपद्यानुवादक-शास्त्रविशारद-साहित्यरत्न-कविभूषण-पूज्याचार्य श्रीमद्विजय

सुशील सूरेश्वर जी महाराज

卐 चतुर्थ अध्याय 卐

❀ कल्पोपपन्न पर्यन्त देवों के प्रकार ❀

卐 मूलसूत्रम्-

देवाश्चतुर्निकायाः ॥ ४-१ ॥

तृतीयः पीतलेश्यः ॥ ४-२ ॥

दशा-ऽष्ट-पञ्च-द्वादश-विकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ४-३ ॥

❀ हिन्दी पद्यानुवाद-

देवों के मूल भेद चार, तत्त्वार्थ से ये जानिये ।

तीसरे जो देव भेद, पीतलेश्या से मानिये ॥

कल्पोपपन्न अन्त तक जो, भेद संख्या संग्रही ।

दशाष्ट पंच द्वादश भेदे, चार देव जाति कही ॥ १ ॥

❀ देवों के परिवार और लेश्या ❀

卐 मूलसूत्रम्-

इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिवद्या-ऽऽत्मरक्ष - लोकपालाऽनीक-प्रकीर्णका-

ऽऽभियोग्य-किल्बिषिकाश्चंकशः ॥ ४-४ ॥

त्रायस्त्रिंश-लोकपालवर्ज्या व्यन्तर-ज्योतिष्काः ॥ ४-५ ॥

पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ४-६ ॥

पीतान्तलेश्याः ॥ ४-७ ॥

* हिन्दी पद्यानुवाद—

इन्द्र और सामानिक देव, त्रायस्त्रिंशक पर्षदा ।
 आत्मरक्षक लोकपाल, अनीक सप्तम सर्वदा ॥
 प्रकीर्ण अष्टम भेद पीछे, नवम आभियोगिक है ।
 दशम भेद किल्बिषिक इम, सर्व निकाये प्रभेद हैं ॥ २ ॥

त्रायस्त्रिंशक लोकपाल, ये भेद दोनों तज कर ।
 अष्ट भेदे देव व्यन्तर, ज्योतिष्क भी मानकर ॥
 प्रथम भवनपति स्थाने ये, भेद दश सभी मानना ।
 देव वैमानिक स्थाने भी, ये भेद दशे जानना ॥ ३ ॥

प्रथम के निकाय दो में, दो-दो ही इन्द्र जानिये ।
 भवनपति के बीस इन्द्र, सूत्र से ये मानिये ॥
 देव व्यन्तर स्थान गणना, इन्द्र बत्तीस जानिये ।
 कृष्ण नील कापोत तैजस्, ये चार लेश्या मानिये ॥ ४ ॥

❀ विषयसुख ❀

❀ मूलसूत्रम्—

कायप्रवीचारा आ-ऐशानात् ॥ ४-८ ॥

शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ॥ ४-९ ॥

परेऽप्रवीचाराः ॥ ४-१० ॥

* हिन्दी पद्यानुवाद—

भवनपति से ईशान तक, देव कायप्रवीचारी हैं ।
 मनुष्य जिम निज देह से, भोगवते विषयसुख ये ॥
 तीसरे चौथे कल्प के देव, सर्व स्पर्शसेवी हैं ।
 पाँचवें छठे कल्प के सब, देव रूपदर्शनी हैं ॥ ५ ॥

सातवें, आठवें कल्प के, देव को अलंकार के ।
 शब्द मात्र से तृप्ति होती, विषयसुख की सबके ॥
 नौ से द्वादश कल्प तक के, निखिल इन देवों को ।
 देवी-चिन्तन मात्र से, विषय तृप्ति होती सर्व को ॥ ६ ॥

कल्पधारी देवलोक, विविध विषयों से ही भरे ।
 उपरि उपरि भेदविषयी, अधिकतर ये तुष्टि भरे ॥
 देव कल्पातीत सारे, विषयवासना से शान्त हैं ।
 समभाव में ये स्थिर सदा, सन्तोष सुख में रत रहे ॥ ७ ॥

❀ भवनपति देवों के भेद ❀

卐 मूलसूत्रम्—

भवनवासिनोऽसुर - नाग - विद्युत् - सुपर्णाग्नि - वात - स्तनितोदधिद्वीप-
 दिक्कुमाराः ॥ ४-११ ॥

❀ हिन्दी पद्यानुवाद—

असुर नाग विद्युत् सुपर्ण, अग्नि वात एवं स्तनित ।
 उदधि द्वीप और दिक्दश, कुमार नाम से विख्यात ॥
 कहे जाते हैं भवनपति के, देव दशविध ये ही हैं ।
 मेरुपर्वत उपत्यका में, उत्तरदिशि निवसित रहे ॥ ८ ॥

❀ व्यन्तर देवों के भेद ❀

卐 मूलसूत्रम्—

व्यन्तराः किन्नर - किपुरुषः - महोरग - गन्धर्व-यक्ष-राक्षस-भूत-पिशाचाः
 ॥ ४-१२ ॥

❀ हिन्दी पद्यानुवाद—

प्रथम किन्नर किपुरुष द्वितीय महोरग तीसरे ।
 गन्धर्व चौथे यक्ष पंचम, षष्ठ राक्षस है खरे ॥
 सप्तम भूत पिशाच अष्टम, ये अष्ट व्यन्तर कहे ।
 वे मध्यलोके वास-गमन, भेद-प्रभेद से रहें ॥ ९ ॥

❀ ज्योतिष्क देवों के भेद ❀

卐 मूलसूत्रम्—

ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्ण-तारकाश्च ॥ ४-१३ ॥

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ ४-१४ ॥

तत्कृतः कालविभागः ॥ ४-१५ ॥

बहिरवस्थिताः ॥ ४-१६ ॥

* हिन्दी पद्यानुवाद—

है भेद ज्योतिष्क देव पंच, सूत्र के अनुसार ही ।

सूर्य, चन्द्र, ग्रह, अनुक्रम, नक्षत्र तारा है सही ॥

मनुष्यलोके नित्य गति से, मेरु फिरते नित्य फिरें ।

दिन-रात पक्ष और मासे, काल विभाग वे करें ॥ ६ ॥

लोक बाहिर ज्योतिष्क देव, स्थिर रहते सर्वदा ।

समय आवली पक्ष बढ़ते, काल गणना नहीं कदा ॥

भवनपति तथा व्यन्तर, देव ज्योतिषी वर्णव्या ।

भेद और प्रभेद सहित, सूत्रार्थमहीं पाठव्या ॥ १० ॥

❀ वैमानिक देवों के स्थान और प्रकार ❀

卐 मूलसूत्रम्—

वैमानिकाः ॥ ४-१७ ॥

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १८ ॥

उपर्युपरि ॥ ४-१९ ॥

सौधमैशान-सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोक - लान्तक-महाशुक्र-सहस्रारेष्वानत-
प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रंथेयकेषु विजय-वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धे
च ॥ ४-२० ॥

* हिन्दी पद्यानुवाद-

देव वैमानिक के जो, मूल थकी दो भेद ग्रहे ।
उनमें कल्पोपपन्न के, द्वादश भेद संग्रहे ॥
तथा कल्पातीत के भी, देव भेद चौदह कहे ।
ऊपर-ऊपर स्थान जिनके, सूत्रमहीं ये संग्रहे ॥ ११ ॥

प्रथम कल्प सौधर्म है, ईशान दूसरा कल्प है ।
तीसरा कल्प सनत्कुमार, माहेन्द्र चौथा कल्प है ॥
ब्रह्मलोक कल्प पाँचवाँ, लान्तक छठा जानिये ।
सातवाँ महाशुक्र कल्प, सहस्रार आठवाँ मानिये ॥ १२ ॥

नवमा कल्प आनत और, प्राणत दसवाँ कल्प है ।
ग्यारहवाँ आरण तथा, बारहवाँ अच्युत कल्प है ॥
नौ की संख्या श्रैवेयक की, ग्रीवा स्थाने स्थिर रही ।
तथा विजय और वैजयन्त, जयन्त अपराजित सही ॥ १३ ॥

सर्वार्थसिद्ध ये देव पाँचों, अनुत्तर के जानिये ।
इम वैमानिक देवों के, भेद छब्बीस मानिये ॥
उनमें कल्पोपपन्न के, बारह नाम पूर्वे कहा ।
तथा कल्पातीत के भी, चौदह नाम पूर्वे कहा ॥ १४ ॥

ॐ गति तथा स्थिति आदि का वर्णन ॐ

卐 मूलसूत्रम्-

स्थिति - प्रभाव - सुख - द्युति - लेश्या - विशुद्धीन्द्रियाऽवधिविषयतोऽधिकाः

॥ ४-२१ ॥

गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ ४-२२ ॥

* हिन्दी पद्यानुवाद-

स्थिति और प्रभाव सुख, तथा द्युति लेश्या भाव से ।
इन्द्रिय विशुद्धि अवधिविषय, बढ़ते क्रम प्रस्ताव से ॥
गति एवं देह माने, परिग्रह तथा अभिमानता ।
उपरि उपरि पुण्यवर्धन, कारण से क्रमहीनता ॥ १६ ॥

❁ लेश्या का वर्णन ❁

卐 मूलसूत्रम्—

पीत-पद्म-शुक्ललेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु ॥ ४-२३ ॥

❁ हिन्दी पद्यानुवाद—

प्रथम के दो कल्प उसमें, पीत लेश्या वर्त्ते जहाँ ।
तदनु तीनों कल्प उनमें, पद्मलेश्या वर्त्ते वहाँ ॥
लान्तकादि कल्प देव, सभी शुक्ललेश्या से भरे ।
शुभ शुभतर द्रव्य लेश्ये, देव उच्चस्थाने रहे ॥ १७ ॥

❁ कल्प तथा लोकान्तिक देवों का वर्णन ❁

卐 मूलसूत्रम्—

प्राग् ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ ४-२४ ॥
ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः ॥ ४-२५ ॥
सारस्वता-दित्य-वह्न्य-रुण - गर्दतोय-तृषिता-ऽव्याबाध - मरुतो-ऽरिष्ठाश्च
॥ ४-२६ ॥
विजयादिषु द्विचरमाः ॥ ४-२७ ॥

❁ हिन्दी पद्यानुवाद—

नौ ग्रैवेयक पूर्व द्वादश, देव कल्पोपपन्न हैं ।
पाँचवें ब्रह्मलोक कल्पे, नौ लोकान्तिक देव हैं ॥
सारस्वत आदित्य वह्नि, तथा अरुण गर्दतोय हैं ।
तृषित अव्याबाध मरुत, अरिष्ट ये उन नाम हैं ॥ १८ ॥
विजयादि चार अनुत्तर, विमान देव द्विचरमा है ।
मनुष्य के दो भव करके, वे मोक्ष-सुख पाते हैं ॥
सर्वार्थसिद्ध विमान देव, एकावतारी कहे ।
पा जन्म मनुष्य वे पुनः, मोक्षाधिकारी कहे ॥ १९ ॥

❀ तिर्यच संज्ञा वाले जीव ❀

卐 मूलसूत्रम्—

श्रीपपातिक-मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ ४-२८ ॥

❀ हिन्दी पद्यानुवाद—

श्रीपपातिक जन्म वाले, देव-नारक जीव हैं ।
गर्भजन्मज मनुष्य ये, तीन रहित तिर्यच हैं ॥
देव, नर और नारकी के, जीव पञ्चेन्द्रिय कहे ।
एकादि इन्द्रिय पाँच तक के, जीव सब तिर्यच कहे ॥ २० ॥

❀ भवनपति देव का उत्कृष्ट आयुष्य ❀

卐 मूलसूत्रम्—

स्थितिः ॥ ४-२९ ॥

भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पत्योपममध्यधम् ॥ ४-३० ॥

शेषाणां पादोने ॥ ४-३१ ॥

असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ॥ ४-३२ ॥

❀ हिन्दी पद्यानुवाद—

स्थिति शब्द से ही जीव के, दो भेद आयु जानिये ।
उत्कृष्ट और जघन्य से, ये भेद सूत्र से मानिये ॥
भवनपति के देव दक्षिण, दिशा में जो नित्य रहे ।
उनका साद्ध पत्योपमायु, उत्कृष्ट इम श्रुत कहे ॥ २१ ॥
शेष उत्तर जो दिशा के, देव बसते शेष का ।
पाउणा द्विपत्योपमायु, जान उत्कृष्ट ये श्रुत का ॥
दक्षिण दिशि असुरेन्द्र का, एक सागरोपमायु है ।
उत्तर दिशि असुरेन्द्र का भी, अधिक सागरोपमायु है ॥ २२ ॥

❀ वैमानिक देवों का उत्कृष्टायुष्य ❀

卐 मूलसूत्रम्—

सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥ ४-३३ ॥

सागरोपमे ॥ ४-३४ ॥

अधिके च ॥ ४-३५ ॥

सप्त सानत्कुमारे ॥ ४-३६ ॥

विशेष-त्रि-सप्त-दशकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभिरधिकानि च ॥ ४-३७ ॥

आरणाऽच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु-विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे
च ॥ ४-३८ ॥

❀ हिन्दी पद्यानुवाद—

सौधर्मकल्पे इन्द्र का, दो सागरोपम आयु है ।

ईशानकल्पे इन्द्रायु, दो सागरोपमाधिक है ॥

सनत्कुमार कल्पेन्द्रायु, सप्त सागरोपम है ।

माहेन्द्र कल्पे इन्द्रायु, सप्त सागरोपमाधिक है ॥ २३ ॥

ब्रह्मलोक कल्पेन्द्रायुष, दश सागरोपम जानिये ।

लान्तक कल्पेन्द्रायु भी, चौदह सागरोपम मानिये ॥

महाशुक्र कल्पेन्द्रायुष, सप्तदश सागरोपम है ।

सहस्रार कल्पेन्द्रायु, अष्टादश सागरोपम है ॥ २४ ॥

आनत कल्पेन्द्रायु है, उनविंश सागरोपम का ।

तथा प्राणत कल्पेन्द्रायु, है विंश सागरोपम का ॥

आरण कल्पेन्द्रायु भी, एकविंश सागरोपम है ।

तथा अच्युतकल्पेन्द्रायुष, बाईस सागरोपम है ॥ २५ ॥

कल्पोपपन्न देवायु बाद कल्पातीत देवों का ।

उत्कृष्टायुष जान अब, क्रमशः नौ ग्रैवेयक का ॥

प्रथम ग्रैवेयक देवायु, तेईस सागरोपम है ।

दूसरा ग्रैवेयक देवायु, चौईस सागरोपम है ॥ २६ ॥

तीसरा ग्रैवेयक देवायु, पच्चीस सागरोपम है ।

चौथा ग्रैवेयक देवायु, छब्बीस सागरोपम है ॥

पाँचवाँ ग्रैवेयक देवायु, सत्ताईस सागरोपम ।

छठा ग्रैवेयक देवायु, अट्ठाईस सागरोपम ॥ २७ ॥

सातवाँ ग्रैवेयक देवायु, उनतीस सागरोपम का ।
 आठवाँ ग्रैवेयक देवायु, तीस सागरोपम का ।
 नौवाँ ग्रैवेयक देवायु, इगतीस सागरोपम ।
 तत्त्वार्थ के अध्याय चौथे में, कहा उत्कृष्टायु इम ॥ २८ ॥

अनुत्तर विजयादि देवायु, बत्तीस सागरोपम है ।
 सर्वार्थसिद्धे देवायु, तैंतीस सागरोपम है ॥
 उत्कृष्टायु पूर्ण करके, जघन्य का वर्णन करें ।
 सूत्र के सारांश का, कर वरण मुक्ति को वरें ॥ २९ ॥

❀ वैमानिक देवों का जघन्यायुष्य ❀

卐 मूलसूत्रम्—

अपरा पत्योपममधिकं च ॥ ४-३६ ॥

सागरोपमे ॥ ४-४० ॥

अधिके च ॥ ४-४१ ॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥ ४-४२ ॥

❀ हिन्दी पद्यानुवाद—

कल्पोपपन्न देवों के, क्रमशः जघन्यायु जानिये ।
 सौधर्म कल्पे देवायु, एक पत्योपम मानिये ॥
 ईशान कल्पे देवायु, अल्पाधिक एक पत्योपम ।
 सनत्कुमारकल्पे देवायु, है दोय सागरोपम ॥ ३० ॥
 माहेन्द्रकल्पे देवायु, अल्पाधिक दो सागरोपम है ।
 ब्रह्मलोककल्पे देवायु, सप्त सागरोपम है ॥
 लान्तककल्पे देवायु, दस सागरोपम जानना ।
 महाशुक्र कल्पे देवायु, चौदह सागरोपम मानना ॥ ३१ ॥
 सहस्रारकल्पे देवायु, सत्तरह सागरोपम है ।
 आनत कल्पे देवायु भी, अठारह सागरोपम है ॥
 प्राणत कल्पे देवायु, उन्नीस सागरोपम जानिये ।
 आरण कल्पे देवायु भी, बीस सागरोपम मानिये ॥ ३२ ॥

अच्युत कल्पे देवायु, एकवीश सागरोपम है ।
 कल्पोपपन्न देवों का, उक्त ये जघन्यायुष्य है ॥
 अब कल्पातीत देवों का, जघन्य आयु क्रम से कहूँ ।
 प्रथम ग्रैवेयक देवायु, बाईस सागरोपम कहूँ ॥ ३३ ॥
 द्वितीय ग्रैवेयक देवायु, तेईस सागरोपम जानिये ।
 तृतीय ग्रैवेयक देवायु, चौबीस सागरोपम मानिये ॥
 चतुर्थ ग्रैवेयक देवायु, पच्चीस सागरोपम है ।
 पंचम ग्रैवेयक देवायु, छब्बीस सागरोपम है ॥ ३४ ॥
 षष्ठ ग्रैवेयक देवायु, सत्ताईस सागरोपम ।
 सप्तम ग्रैवेयक देवायु, अट्ठाईस सागरोपम ॥
 अष्टम ग्रैवेयक देवायु, उनतीस सागरोपम कहा ।
 नवम ग्रैवेयक देवायु, तीस सागरोपम जहाँ ॥ ३५ ॥
 विजयादि चार अनुत्तर, देवायु इकतीस सागरोपम है ।
 सर्वार्थसिद्ध में देवायु, तैंतीस सागर पूर्ण है ।
 इस तरह कल्पातीत के, देवायु जघन्य जानिये ॥
 अब नारक जीव का ही, जघन्य आयुष्य कहिये ॥ ३६ ॥

❀ नारक जीव का जघन्य आयुष्य ❀

卐 मूलसूत्रम्—

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ४-४३ ॥

दशवर्षसहस्राणिप्रथमायाम् ॥ ४-४४ ॥

❀ हिन्दी पद्यानुवाद—

प्रथम नारकी जीवायु, जघन्य दस सहस्र वर्ष है ।
 द्वितीय नारकी जीवायु, जघन्यैक सागरोपम है ॥
 तृतीय नारकी जीवायु, तीन सागरोपम जानिये ।
 चतुर्थ नारकी जीवायु, सप्त सागरोपम मानिये ॥ ३७ ॥
 पंचम नारकी जीवायु, दस सागरोपम कहा ।
 षष्ठ नारकी जीवायु, सत्तरह सागर का जहाँ ॥
 सप्तम नारकी जीवायु, बाईस सागरोपम है ।
 इस तरह सात नारकी, जीवों का जघन्यायुष्य है ॥ ३८ ॥

❀ भवनपति देवों का जघन्य आयुष्य एवं व्यन्तर देवों का जघन्य और उत्कृष्ट आयुष्य ❀

卐 मूलसूत्रम्—

भवनेषु च ॥ ४-४५ ॥

व्यन्तराणां च ॥ ४-४६ ॥

परा पत्योपमम् ॥ ४-४७ ॥

❀ हिन्दी पद्यानुवाद—

भवनपति देवायु का ये, जघन्य दस सहस्र वर्ष है ।

तथा व्यन्तर देवायु का, जघन्य दस सहस्र वर्ष है ।

पुनः व्यन्तर देवायु, उत्कृष्ट एक पत्योपम का ।

इस तत्त्वार्थ सूत्र में भी, कहा प्रमाण ए सर्व का ॥ ३६ ॥

❀ ज्योतिष्क देवों का जघन्य और उत्कृष्ट आयुष्य ❀

卐 मूलसूत्रम्—

ज्योतिष्काणामधिकम् ॥ ४-४८ ॥

ग्रहाणामेकम् ॥ ४-४९ ॥

नक्षत्राणामर्धम् ॥ ४-५० ॥

तारकाणां चतुर्भागः ॥ ४-५१ ॥

जघन्या त्वष्टभागः ॥ ४-५२ ॥

चतुर्भागः शेषाणां ॥ ४-५३ ॥

❀ हिन्दी पद्यानुवाद—

ज्योतिषचक्रे चन्द्र-सूर्य, उत्कृष्टायु पत्योपम की ।

लाख एवं सहस्राधिक, मान धरते वर्ष का ॥

तथा ग्रहों की उत्कृष्टायु, एक पत्योपम पूर्ण है ।

नक्षत्रों का भी उत्कृष्टायु, अर्धपत्योपम है ॥ ४० ॥

ताराओं की उत्कृष्ट स्थिति, पत्यु. चौथे भाग में ।

फिर कही जघन्य स्थिति, पत्योपमाष्टम भाग में ॥

इस तरह ज्योतिष देव की, जघन्योत्कृष्ट स्थिति कही ।

आगमशास्त्रानुसार ये, जान तत्त्वार्थ सही ॥ ४१ ॥

तत्त्वार्थाधिगमे सूत्रे, हिन्दीपद्यानुवादके ।

चतुर्थोऽध्यायपूर्णोऽयं, देवानां स्थितिबोधकः ॥

॥ इति श्री तत्त्वार्थाधिगमसूत्र के चतुर्थ अध्याय का हिन्दी पद्यानुवाद पूर्ण हुआ ॥

परिशिष्ट-१

॥ नमो नमः श्रीजैनागमाय ॥

✽ श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य जैनागमप्रमाणरूप-आधारस्थानानि ✽

॥ ५ चतुर्थोऽध्यायः ५ ॥

॥ मूलसूत्रम्—

देवाश्चतुर्निकायाः ॥ ४-१ ॥

✽ तस्याधारस्थानम्—

चउव्विहा देवा पणत्ता, तं जहा-भवणवई वाणमंतर जोइस वेमाणिया ।

[व्याख्या. श. २, उ. ७]

॥ मूलसूत्रम्—

तृतीयः पीतलेश्यः ॥ ४-२ ॥

✽ तस्याधारस्थानम्—

भवणवइ वाणमंतर...चत्तारि लेस्साओ...जोतिसियाणं एगा तेउलेसा...
वेमाणियाणं तिप्पि उवरिमलेसाओ ।

[स्था. स्थान १, सूत्र. ५१]

॥ मूलसूत्रम्—

दशा-ऽष्ट-पञ्च-द्वादश-विकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः ॥ ४-३ ॥

✽ तस्याधारस्थानम्—

(१) दसहा उभवणवासी, अट्ठहावणचारिणो ।

पंचविहा जोइसिया, दुविहा वेमाणिया तहा ॥ २०३ ॥

वेमाणिया उ जे देवा, दुविहा ते वियाहिया ।

कप्पोवगायबोधव्वा, कप्पाईया तहेव य ॥ २०७ ॥

कप्पोवगा वारसहा, सोहम्मीसाणगा तहा ।

सणकुमारमाहिंदा, वम्मलोगा य लंतगा ॥ २०८ ॥

महासुक्का सहस्सारा, आणया पाणया तहा ।

आरणा अच्चुया चेव, इह कप्पोवगासुरा ॥ २०९ ॥

[उत्तराध्ययन सूत्र, अध्या. ३६]

(२) भवणवइ दसविहा पणत्ता....वाणमन्तरा अट्ठविहा पणत्ता,...जोइसिया पंचविहा पणत्ता....वेमाणिया दुविहा पणत्ता, तं जहा-कप्पोववणगा य कप्पाइया य ।

से किं तं कप्पोववणगा ? बारसविहा पणत्ता, तं जहा-सोहम्मा, ईसाणा, सणकुमारा, माहिदा, बंभलोणा, लंतया, महासुक्का, सहस्सारा, आणया, पाणया, आरणा, अच्चत्ता ।

[प्रज्ञा. प्रथम पद देवाधिकार]

卐 मूलसूत्रम्—

इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश - पारिषाद्याऽऽत्मरक्ष - लोकपालाऽनीक-प्रकीर्णकाऽऽभि-
योग्य-किल्बिषिकाश्चैकशः ॥ ४-४ ॥

❧ तस्याधारस्थानम्—

(१) देविदा....एवं सामाणिया....तायत्तीसगा लोगपाला परिसोववन्नगा....
अणियाहिवई आयरक्खा ।

[स्था. स्थान ३, उ. १, सू. १३४]

(२) देवकिंविस्सिए....आभिजोगिए ।

[श्रीपपा. जीवोप. सू. ४१]

(३) चउव्विहा देवाणं ठितो पणत्ता, तं जहा-देवेणाभमेगे देवसिणाते णाम-
मेगे देवपुरोहिते णाममेगे देवपज्जलणे णाममेगे ।

[स्था. स्थान ४३०१, सू. २४८]

(४) अवसेसाय देवा देवीओ....

[जम्बू. प्र. सू. ११७]

卐 मूलसूत्रम्—

त्रायस्त्रिंश-लोकपालवर्जव्यन्तरज्योतिष्काः ॥ ४-५ ॥

❧ तस्याधारस्थानम्—

(१) कहि एं भंते ! वाणमंतराणं देवाणं पज्जत्ता पज्जत्ताणं ठाणा पणत्ता ?
कहिणं भंते ! वाणमंतरा देवा परिवसंति ?....साणं २ सामाणिय साहस्सीणं साणं २
अग्ग महिसीणं साणं २ सपरिसाणं साणं २ अणियाणं साणं २ अणि आहिवईणं साणं २
आयरक्ख देवसाहस्सीणं अण्णेसि च बहूणं वाणमंतराणं देवाण्य देवीण्य आहेवच्चं
पोरेवच्चं सामित्तं भट्ठित्तं महत्तरगत्तं आणाइसरसेणावच्चं.....

[प्रज्ञापना सूत्र पद २, सू. ३७]

(२) जोसियाणं देवाणं तत्थ साणं २ विमाणवास सहस्साणं साणं २ सामा-
णिय साहस्ससीणं साणं २ अगमहिसीणं सपरिवाराणं साणं परिसाणं साणं २ अणियाणं
साणं २ अणियाहिवईणं साणं २ आयरक्ख देव साहस्सीणं अण्णेसि च बहूणं जोइ-
सियाणं देवाणं देवीणय आहे वच्चं जाय विहरति ।

[प्रज्ञापना सूत्र पद २, सूत्र ४२]

॥ मूलसूत्रम्—

पूर्वयोर्द्विन्द्राः ॥ ४-६ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

दो असुरकुमारिदा पणत्ता, तं जहा—चमरे चेव बली चेव । दो नागकुमारिदा
पणत्ता, तं जहा—धरणे चेव भूयाणंदे चेव । दो सुवन्नकुमारिदा पणत्ता, तं जहा—
वेणुदेवे चेव वेणुदाली चेव । दो विज्जुकुमारिदा पणत्ता, तं जहा—अग्गिसिहे चेव
अग्गिमाणवे चेव । दो दीवकुमारिदा पणत्ता, तं जहा, पुन्ने चेव विसिद्धे चेव दो
उदहिकुमारिदा पणत्ता, तं जहा—जलकंते चेव जलप्पमे चेव । दो दिसाकुमारिदा
पणत्ता, तं जहा—अमियगति चेव अमियवाहणे चेव । दो वातकुमारिदा पणत्ता, तं
जहा—वेलंबे चेव पभंजणे चेव । दो थणियकुमारिदा पणत्ता, तं जहा—घोसे चेव
महाघोसे चेव । दो पिसाइदा पणत्ता, तं जहा—काले चेव महाकाले चेव । दो
भूइदा पणत्ता, तं जहा—सुरूवे चेव पडिरूवे चेव । दो जक्खिदा पणत्ता, तं जहा—
पुन्नभद्दे चेव माणिभद्दे चेव । दो जक्खिदा पणत्ता, तं जहा—पुन्नभद्दे चेव माणिभद्दे
चेव । दो रक्खसिदा पणत्ता, तं जहा—भीमे चेव महाभीमे चेव । दो किन्नरिदा
पणत्ता, तं जहा—भीमे चेव महाभीमे चेव । दो किन्नरिदा पणत्ता, तं जहा—किन्नरे
चेव किपुरिसे चेव । दो किपुरिसिदा पणत्ता, तं जहा—सप्पुरिसे चेव महापुरिसे
चेव । दो महोरगिदा पणत्ता, तं जहा—अतिकाए चेव महाकाए चेव । दो
गंधर्विदा पणत्ता, तं जहा—गीतरती चेव गीयजसे चेव ।

[स्था. स्थान २, उ. ३, सू. ६४]

॥ मूलसूत्रम्—

पीतान्तलेश्याः ॥ ४-७ ॥

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ४-८ ॥

शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ॥ ४-९ ॥

परेऽप्रवीचाराः ॥ ४-१० ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

कतिविहाणं भंते ! परियारणा पण्णत्ता ? गोयमा ! पञ्चविहा पण्णत्ता, तं जहा—कायपरियारणा, फासपरियारणा, रूवपरियारणा, सद्दपरियारणा, मण-परियारणा भवणवासि वाणमंतरजोतिसि सोहम्मीसाण्णेषु कप्पेषु देवा कायपरि-यारणा, सणकुमारमाहिदेषु कप्पेषु देवा फासपरियारणा, बंभलोयलंतगेसु कप्पेषु देवा रूवपरियारणा, महासुकसहस्सारेसु कप्पेषु देवा सद्दपरियारणा, आणयपाणयआरण-अच्चुएसु देवा मणपरियारणा, गवेज्जग अणुत्तरोववाइया देवा अपरियारणा ।

[प्रज्ञापना पद ३४ प्रचारणाविषय स्था. स्थान २, उ. ४, सू. ११६]

卐 मूलसूत्रम्—

भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुवर्णाग्नि-वातस्तनितोदधिद्वीपदिककुमाराः । ४-११ ।

❀ तस्याधारस्थानम्—

भवणवई दसविहा पण्णत्ता, तं जहा—असुरकुमारा, नागकुमारा, सुवण्णकुमारा, विज्जुकुमारा, अग्गीकुमारा, दीवकुमारा, उदहिकुमारा, दिसाकुमारा, वाजकुमारा, थणियकुमारा ।

[प्रज्ञापना प्रथमपद देवाधिकार]

卐 मूलसूत्रम्—

व्यन्तराः किन्नरकिपुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ॥ ४-१२ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

वाणमंतरा अट्ठविहा पण्णत्ता, तं जहा—किण्णारा, किम्पुरिसा, महोरगा, गंधव्वा, जक्ख्वा, रक्खसा, भूया, पिसाया ।

[प्रज्ञापना प्रथमपद देवाधिकार]

卐 मूलसूत्रम्—

ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च ॥ ४-१३ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

जोइसिया पंचविहा पण्णत्ता, तं जहा—चंदा, सूरा, गहा, णक्खत्ता, तारा ।

[प्रज्ञापना प्रथमपद देवाधिकार]

॥ मूलसूत्रम्—

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ ४-१४ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

ते मेरु परियडन्ता पयाहिणावत्तमंडला सव्वे ।

अणवद्विजोर्गेहि चंडा सूरा गहगणा य ॥ १० ॥

[जीवाभि. तृतीय प्रति. उद्दे. २, सू. १७७]

॥ मूलसूत्रम्—

तत्कृतः कालविभागः ॥ ४-१५ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) से केणट्टेणं भंते ! एवं वुच्चइ—“सूरे आइच्चे सूरे”, गोयमा ! सूरा-
दियाणं समयाइ वा आवलयाइ वा जाव उस्सप्पिणीइ वा अवसप्पिणीइ वा से तेणट्टेणं
जाव आइच्चे ।

[व्या. प्रज्ञप्ति शत. १२, उ. ६]

(२) से किं तं पमाणकाले ? दुब्बिहे पणत्ते, तं जहा—दिवसप्पमाणकाले
राइप्पमाणकाले इच्चाइ ।

[व्या. प्रज्ञप्ति श. ११, उ. ११, सू. ४२४, जम्बू. प्र., सूर्य प्र., चन्द्र प्र.]

॥ मूलसूत्रम्—

बहिरवस्थिताः ॥ ४-१६ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

अंतो मणुस्सखेत्ते ह्वन्ति चारोवगाय उववण्णा ।

पञ्चविहा जोइसिया चंडा सूरा गहगणा य ॥ २१ ॥

तेण परं जे सेसा चंडाइच्चगहतारणक्खत्ता ।

नत्थि गई नब्बि चारो, अवट्ठिया ते गुणेयव्वा ॥ २२ ॥

[जीवाभिगम तृतीय प्रतिपत्ति उद्दे. २, सूत्र १७७]

॥ मूलसूत्रम्—

वेमानिकाः ॥ ४-१७ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

वेमागिया ।

[व्याख्याप्रज्ञप्ति. शतक २०, सूत्र ६७५-६८२]

॥ मूलसूत्रम्—

कल्पोपपन्ना कल्पातीताश्च ॥ ४-१८ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

वेमाणिया दुविहा पणत्ता, तं जहा—

[प्रज्ञापना प्रथम पद सूत्र ५०]

॥ मूलसूत्रम्—

उपर्युपरि ॥ ४-१९ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

ईसाणस्स कप्पस्स उप्पि सपविस्स इत्यादि ।

[प्रज्ञापना पद २, वैमानिक देवाधिकार]

॥ मूलसूत्रम्—

सौधर्मेशान-सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोक-लान्तक-महाशुक्र-सहस्रारेष्वानत-प्राणत-योरारणाच्युतयोनवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ॥ ४-२० ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

सोहम्म ईसाण सणकुमार माहिं बंभलोय लंतग महासुक्क सहस्सार आणय पाणय आरण अचचुय हेट्ठिमगेवेज्जग मज्झिमगेवेज्जग उवरिमगेवेज्जग विजय वेजयंत जयंत अपराजिय सव्वट्ठसिद्धदेवा य ।

[प्रज्ञा. पद ६, अनुयोग सू. १०३, औप. सिद्धाधिकार]

॥ मूलसूत्रम्—

स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धीन्द्रिया-ऽवधिविषयतोऽधिकाः ॥ ४-२१ ॥

गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ ४-२२ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१)....महिङ्ढीया महज्जुइया जाव महाणुभागा इङ्ढीए पणत्ते, जाव अचचुओ, गेवेज्जणुत्तरा य सव्वे महिङ्ढीया....।

[जीवाभिगम. प्रतिपत्ति ३, सूत्र २१७ वैमानिकाधिकार]

(२) सोहम्मीसाणेसु देवाकेरिसए कामभोगे पच्चणुब्भवमाणा विहरंति ? गोयमा ! इट्ठा सट्ठा इट्ठा रुवा जाव फासा एवं जाव गेवेज्झा अणुत्तरोववातिया णं अणुत्तरा सट्ठा एवं जाव अणुत्तरा फासा ।

[जीवाभिगम. प्रतिपत्ति ३, सूत्र २१६, प्रज्ञापना पद २, देवाधिकार]

(३) असुरकुमार भवणवासि देव. पंचि. वेउव्विय सरीरस्स णं भंते ! के महा. ? गो. ! असुरकुमाराणं देवाणं दुविहा सरीरोगाहरणं पं., तं.—भवधारणिज्जा सा ज. अंगुल. असं. उक्को. सत्त रयणीओ, तत्थणं जासा उत्तर वेउव्विता सा, जह. अंगुल. संखे. उक्को. जोयणसत्त सहस्सं, एवं जाव थणिय कुमाराणं, एवं ओहियाणं वाणमंतराणं एवं जोइ-सियाणवि, सोहम्मीसाण देवाणं एवं चेव उत्तरावेउव्विता जाव अचुओ कप्पो, नवरं सणं कुमारे भवधारणिज्जा जह. अंगु. असं. उक्को. छरयणीओ, एवं माहिदेवि, बंभ-लोयलंतगेसु पंचरयणीओ, महासुक्कसहस्सारेषु चत्तारि रयणीओ, आणय पाणय आरणचुएसु तिणिण रयणीओ गेविज्जगकप्पातीत्त वेमाणिय देव पंचिदिय वेउ. सरी. के महा. ? गो. ! गेवेज्ज गदेवाणं एगा भवणिज्जा सरीरोगाहरणं पं. सा जह. अंगुल. असं. उक्को. दो. रयणी, एवं अणुत्तरोववाइयदेवाणविणवरं एक्का रयणी ।

[प्रज्ञापना सूत्र शरीरपद २१, सूत्र २७२]

तओ विसुद्धाओ ।

[प्रज्ञापना १७ लेश्यापद उद्देश ३]

देवाणं पुच्छा—गो. ! छ एयाओ चेव देवीणं पुच्छा, गो. ! चत्तारि कण्ह. जाव तेउ लेस्सा, भवणवासीणं भंते ! देवाणं पुच्छा, गोयमा ! एवं चेव एवं भवणवासिणीणवि वाणमंतरा देवाणं पुच्छा, गो. ! एवं चेव, वाणमंतरीणवि जोइसियाण पुच्छा, गो. ! एगा तेउलेस्सा, एवं जोइसिणीणवि ।

वेमाणियाणं, पुच्छा, गो. ! तिन्नि तं.—तेउ. पम्ह. सुक्कलेसा वेमाणिणीणं पुच्छा, गो. ! एगा तेउलेस्सा ।

[प्रज्ञापना ६७ लेश्या पद उद्देश २ सूत्र २१६]

(४) असुरकुमाराणं पुच्छा, गो. ! पल्लगसंठिते, एवं जाव थणियकुमाराणं... वाणमंतराणं पुच्छा, गो. ! पडहग सं. जोति सियाणं पुच्छा ? गो. ! भल्लरि-संठाण सं. पं. सोहम्मगदेवाणं पुच्छा ? गो. ! उड्डमुयंगगारसंठिए पं. एवं जाव अचुयदेवाणं गेवेज्जगदेवाणं पुच्छा ? गो. ! पुण्फचंगेरि संठिए पं. अणुत्तरोववाइयाणं पुच्छा ? गो. ! जवनालिया संठिते ओहि पं. ।

[प्रज्ञापना सूत्र पद ३३ (सूत्र ३१६)]

(५) असुरकुमाराणं भंते ! ओहिणा केवज्ज खेत्तं जा. पा. ? गोयमा ! जह पणवीसं जोयणाइं उक्को. असंखेज्जे दीवसमुद्दे ओहिणा जा. पा. नागकुमाराणं—जह. पणवीसं जोयणाइं उ. संखेज्जे दीवसमुद्दे ओहिणा जा. पा. एवं जाव थणियकुमारा ।....

बाष्पमंतराणं जहा नाकुमारा, जोइसियाणं भंते ! केवतितं खेत्तं ओ. जा. पा. ? गो. ! ज. संखेज्जे दीवसमुद्दे, सोहम्मगदेवाणं भंते ! केव. खेत्तं ओ. जा. पा. ? गो. ! ज. अंगुलस्स असंखेज्जति भागं उक्को. अहे जाव इमीसे रयणप्पभाए हिट्ठिले चरमंते तिरियं जाव असंखेज्जे दीवसमुद्दे उड्डं जाव सगाइं विमणाइं ओहिणा जाणंति पासंति, एवं ईसाणग देवावि सणकुमारदेवावि एवं चेव, नवरं जाव अहे दोच्चाए सक्करप्पभाए पुढवीए हिट्ठिले चरमंते, एवं माहिंददेवावि, वभलोयलंतगदेवा तच्चाए पुढवीय हिट्ठिले चरमंते महामुक्कसहस्सारगदेवा चउत्थीए पंकप्पभाए पुढवीए हेट्ठिले चरमंते आणय पाणय आणच्चुयदेवा अहे जाव पंचमाए धूमप्पभाए हेट्ठिले चरमंते हेट्ठिममज्झिमगेवेज्जगदेवा अथे जाव छट्ठाए तमाए पुढवीए हेट्ठिले जाव चरमंते उवरिमगेविज्ज गदेवाणं भंते ! केवतियं खेत्तं ओहिणा जा. पा. ? गो. ! ज. अंगुलस्स असंखेज्जतिभागे उ. अथे सत्तमाए हे. च. तिरियं जाव असंखेज्जे दीवसमुद्दे उड्डं जावसयाइं विमाणाइं ओ. जा. पा. अणुत्तरोववाइयदेवाणं भन्ते के. खेत्तं ओ. जा. पा. ? गो. ! संभिन्नं लोगनालि ओ. जा. पा. ।

[प्रज्ञापना अवधिपद ३३८ सू. ३१८]

॥ मूलसूत्रम्—

पीत-पद्म-शुक्ललेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु ॥ ४-२३ ॥

॥ तस्याधारस्थानम्—

सोहम्मीसाणदेवाणं कति लेस्साओ पन्नताओ ? गोयमा ! एगा तेऊलेस्सा पण्णत्ता सणकुमारमाहिंदेसु एगा पम्हलेस्सा एवं वंभलोगेवि पम्हा । सेसेसु एक्का सुक्कलेस्सा अणुत्तरोववातियाणं एक्कापरमसुक्कलेस्सा ।

[जीवाभिगम. प्रतिपत्ति ३ उद्दे. १ सूत्र २१४; प्रज्ञापना पद १७ उद्दे. १ लेश्याधिकार]

॥ मूलसूत्रम्—

प्राग् ग्रंथेयकेभ्यः कल्पाः ॥ ४-२४ ॥

॥ तस्याधारस्थानम्—

कप्पोपवण्णगा वारसविहापण्णत्ता ।

[प्रज्ञापना प्रथमपद सूत्र ४६]

॥ मूलसूत्रम्—

ब्रह्मलोकालया लोकास्तिकाः ॥ ४-२५ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

बंभलोए कप्पे.....लोगंतिता देवा पण्णत्ता ।

[स्थानांग स्थान ८ सूत्र ६२३]

॥ मूलसूत्रम्—

सारस्वता-ऽऽदित्य-वन्हारुण-गर्दतोय-तुषिता-ऽव्याबाध-मरुतोऽरिष्ठाश्च ॥ ४-२६ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) सारस्सयमाइच्चा वण्हीवरुणा य गद्दतोया य ।

तुसिया अग्वावाहा अग्गिच्चा चेव रिट्ठा च ॥

[स्थानांग स्थान ६ सूत्र ६८४]

(२) एएसुणं अट्ठसु लोगंतिय विमाणेसु अट्ठविहा ।

लोगंतीया देवा परिवसंति, तं जहा—

सारस्सयमाइच्चा वण्हीवरुणा य गद्दतोया य ।

तुसिया अग्वावाहा अग्गिच्चा चेव रिट्ठाए ॥ २८ ॥

[भगवतीसूत्र ६ शतक ५ उद्देश]

॥ मूलसूत्रम्—

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ ४-२७ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

विजय वेजयंत जयंत अपराजिय देवत्ते ,

केवइया दव्विदिया अतीता पण्णत्ता ? ।

गोयमा ! कस्सइ अत्थि कस्सइ रात्थि ,

जस्सत्थि अट्ठ वा सोलस वा इत्यादि ॥

[प्रज्ञापना० पद १५ इन्द्रिय पद]

॥ मूलसूत्रम्—

औपपातिक-मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ ४-२८ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

उववाइया....मणुआ (सेसा) तिरिक्खजोणिया ।

[दशवैका० अष्टम्ययन षट्कायाधिकार]

॥ मूलसूत्रम्—

स्थितिः ॥ ४-२६ ॥

ॐ तस्याधारस्थानम्—

असुरकुमाराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पणत्ता ? गोयमा ! उक्कोसेणं साइरेणं सागरोवमं.....।

नागकुमाराणं देवाणं भंते ! केवइयं कालं ठिई पणत्ता ? गोयमा ! उक्कोसेणं दोपलिओवमाइं देसूणाइं..... सुवण्णकुमाराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पणत्ता ? गोयमा ! उक्कोसेणं दोपलिओवमाइं देसूणाइं । एवं एएणं अभिलावेण.... जाव थणियकुमाराणं जहा नागकुमाराणं ।

[प्रज्ञापना० पद ४ भवनपति अधिकार, स्थिति विषय]

॥ मूलसूत्रम्—

भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पत्योपममध्यर्धम् ॥ ४-३० ॥

शेषाणां पादोने ॥ ४-३१ ॥

असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ॥ ४-३२ ॥

सौधर्माविषु यथाक्रमम् ॥ ४-३३ ॥

सागरोपमे ॥ ४-३४ ॥

अधिके च ॥ ४-३५ ॥

सप्त सानत्कुमारे ॥ ४-३६ ॥

विशेष-त्रि-सप्त-वर्शकादश-त्रयोदश-पञ्चदशभिरधिकानि च ॥ ४-३७ ॥

आरणाञ्चयुतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रंथेयकेषु-विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ॥ ४-३८ ॥

अपरा पत्योपममधिकं च ॥ ४-३९ ॥

सागरोपमे ॥ ४-४० ॥

अधिके च ॥ ४-४१ ॥

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा ॥ ४-४२ ॥

ॐ तस्याधारस्थानम्-

दो चेव सागराई, उक्कोसेण वियाहिआ ।
 सोहम्मम्मि जहन्नेणं, एगं च पलिओवमं ॥ २२० ॥

सागरा साहिया दुस्सि, उक्कोसेण वियाहिआ ।
 ईसाणम्मि जहन्नेणं, साहियं पलिओवमं ॥ २२१ ॥

सागराणि य सत्तेव, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 सणकुमारे जहन्नेणं, दुस्सि ऊ सागरोवमा ॥ २२२ ॥

साहिया सागरा सत्त, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 माहिन्दम्मि जहन्नेणं, साहिया दुस्सि सागरा ॥ २२३ ॥

दस चेव सागराई, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 बम्भलोए जहन्नेणं, सत्त ऊ सागरोवमा ॥ २२४ ॥

चउदस सागराई, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 सन्तगम्मि जहन्नेणं, दस ऊ सागरोवमा ॥ २२५ ॥

सत्तरस सागराई, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 महासुक्के जहन्नेणं, चोदस सागरोवमा ॥ २२६ ॥

अट्टारस सागराई, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 सहस्सारम्मि जहन्नेणं, सत्तरस सागरोवमा ॥ २२७ ॥

सागरा अउणवीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 आणयम्मि जहन्नेणं, अट्टारस सागरोवमा ॥ २२८ ॥

वीसं तु सागराई, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 पाणयम्मि जहन्नेणं, सागराअउणवीसई ॥ २२९ ॥

सागरा इक्कवीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 आरणम्मि जहन्नेणं, वीसई सागरोवमा ॥ २३० ॥

बावीसं सागराई, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 अच्चयम्मि जहन्नेणं, सागरा इक्कवीसई ॥ २३१ ॥

तेवीसं सागराई, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 पठमम्मि जहन्नेणं, बावीसं सागरोवमा ॥ २३२ ॥
 चउवीस सागराई, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 वइयम्मि जहन्नेणं, तेवीसं सागरोवमा ॥ २३३ ॥
 पणवीस सागराई, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 तइयम्मि जहन्नेणं, चउवीसं सागरोवमा ॥ २३४ ॥
 छवीस सागराई, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 चउत्थम्मि जहन्नेणं, सागरा पणुवीसई ॥ २३५ ॥
 सागर सत्तवीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 पऊचमम्मि जहन्नेणं, सागरा उ छवीसइ ॥ २३६ ॥
 सागरा अट्टवीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 छट्ठम्मि जहन्नेणं, सागरा सत्तवीसइ ॥ २३७ ॥
 सागरा अउणतीसं, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 सत्तमम्मि जहन्नेणं, सागरा अट्टवीसइ ॥ २३८ ॥
 तीसं तु सागराई, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 अट्ठमम्मि जहन्नेणं, सागरा अउण तीसई ॥ २३९ ॥
 सागरा इक्कतीसं तु, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 नवमम्मि जहन्नेणं, तीसई सागरोवमा ॥ २४० ॥
 तेत्तीसा सागराई, उक्कोसेणं ठिई भवे ।
 चउसुवि विजयाईसु, जहन्नेणेक्कतीसई ॥ २४१ ॥
 अजहन्नमणुक्कोसा, तेत्तीसं सागरोवमा ।
 महाविमाणे सक्कट्टे, ठिई एसा वियाहिया ॥ २४२ ॥

॥ मूलसूत्रम्—

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ४-४३ ॥

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ४-४४ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) सागरोवममेगं तु, उक्कोसेण वियाहिया ।

पढमाए जहन्नेणं, दसवास सहस्सिया ॥ १६० ॥

तिण्णेव सागरा ऊ, उक्कोसेण वियाहिया ।

दोच्चाए जहन्नेणं, एगं तु सागरोवमं ॥ १६१ ॥

[उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३६]

(२) एवं जा जा पुक्खस्स उक्कोसठिई अत्थि ताओ ताओ परओ परओ
जहण्णठिई एओववा ।

[समन्वयकार]

॥ मूलसूत्रम्—

भवनेषु च ॥ ४-४५ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

भोमेज्जाणं जहण्णेणं, दसवाससहस्सिया ।

[उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन-३६ गाथा-२१७]

॥ मूलसूत्रम्—

व्यन्तराणां च ॥ ४-४६ ॥

परा पत्थोपमम् ॥ ४-४७ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

वाणमंतराणं भंते ! देवाणं केवइयं कालं ठिई पणत्ता ? गोयमा ! जहन्नेणं
दसवाससहस्साइं उक्कोसेणं पलिओवमं ।

[प्रज्ञापना० स्थितिपद-४]

卐 मूलसूत्रम्—

ज्योतिष्कारणामधिकम् ॥ ४-४८ ॥

ग्रहाणामेकम् ॥ ४-४९ ॥

नक्षत्राणामर्धम् ॥ ४-५० ॥

तारकाणां चतुर्भागः ॥ ४-५१ ॥

जघन्या त्वष्टभागः ॥ ४-५२ ॥

चतुर्भागः शेषाणाम् ॥ ४-५३ ॥

❀ तस्याधारस्थानम्—

(१) पलिग्रोवममेगं तु, वासलक्ष्णेण साह्रियं ।

पलिग्रोवमट्टभागो, जोइसेसु जहन्निया ॥ २१९ ॥

[उत्तराध्ययन-३६]

(२) लोगंतिकदेवाणं जहणमणुक्कोसेरां ,

अट्टसागरोवमाइं ठिवि पणत्ता ।

[स्था. स्थान ८ सू. ६२३, व्याख्या. श. ६ उ. ५]

॥ इति श्रीतत्त्वार्थविमलसूत्रस्य चतुर्थाध्याये संगृहीते जैनगमप्रमाण-

रूप-प्राधारस्थानानि समाप्तम् ॥



चतुर्थाध्यायस्य
* सूत्रानुक्रमणिका *

सूत्राङ्कः	सूत्र	पृष्ठ सं.
१.	देवाश्चतुर्निकायाः ॥ ४-१ ॥	१
२.	तृतीयः पीतलेश्यः ॥ ४-२ ॥	३
३.	दशाऽष्ट-पञ्च-द्वादश-विकल्पाः कल्पोपपन्न-पर्यन्ताः ॥ ४-३ ॥	४
४.	इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंश-पारिषद्याऽऽत्मारक्ष-लोकपालाऽनीक- प्रकीर्णकाऽऽभियोग्य-किल्बिषिकाश्चैकशः ॥ ४-४ ॥	५
५.	त्रायस्त्रिंश-लोकपालवज्र्या व्यन्तर-ज्योतिष्काः ॥ ४-५ ॥	७
६.	पूर्वयोर्द्वीन्द्राः ॥ ४-६ ॥	७
७.	पीतान्तलेश्याः ॥ ४-७ ॥	११
८.	कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ४-८ ॥	१२
९.	शेषाः स्पर्श-रूप-शब्द-मनःप्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ॥ ४-९ ॥	१३
१०.	परेऽप्रवीचाराः ॥ ४-१० ॥	१५
११.	भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधि- द्वीपदिक्कुमाराः ॥ ४-११ ॥	१६
१२.	व्यन्तराः किन्नर-किंपुरुष-महोरग-गन्धर्व-यक्ष- राक्षस-भूत-पिशाचाः ॥ ४-१२ ॥	२१
१३.	ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रह-नक्षत्र-प्रकीर्णतारकाश्च ॥ ४-१३ ॥	२६
१४.	मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ॥ ४-१४ ॥	२८
१५.	तत्कृतः कालविभागः ॥ ४-१५ ॥	३२
१६.	बहिरवस्थिताः ॥ ४-१६ ॥	३५
१७.	वैमानिकाः ॥ ४-१७ ॥	३६
१८.	कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ ४-१८ ॥	३७

सूत्राङ्कः	सूत्र	पृष्ठ सं.
१६.	उपर्युपरि ॥ ४-१६ ॥	३८
२०.	सौधमैशान-सनत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्मलोक-लान्तक-महाशुक्र- सहस्रारेष्वानत-प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजय-वैजयन्त-जयन्ता-ऽपराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ॥ ४-२० ॥	३८
२१.	स्थिति-प्रभाव-सुख-द्युति-लेश्या-विशुद्धीन्द्रियाऽवधि- विषयतोऽधिकाः ॥ ४-२१ ॥	४२
२२.	गति-शरीर-परिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ ४-२२ ॥	४७
२३.	पीत-पद्म-शुक्ललेश्या द्वि-त्रि-शेषेषु ॥ ४-२३ ॥	५२
२४.	प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ ४-२४ ॥	५३
२५.	ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः ॥ ४-२५ ॥	५४
२६.	सारस्वता-ऽऽदित्य-वह्न्यरुणा-गर्दतोय-तुषिता-ऽव्याबाध- मरुतोऽरिष्ठाश्च ॥ ४-२६ ॥	५६
२७.	विजयादिषु द्विचरमाः ॥ ४-२७ ॥	५७
२८.	श्रौपपातिक-मनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग् योनयः ॥ ४-२८ ॥	५८
२९.	स्थितिः ॥ ४-२९ ॥	५९
३०.	भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पल्योपममध्यर्धम् ॥ ४-३० ॥	५९
३१.	शेषाणां पादोने ॥ ४-३१ ॥	६०
३२.	असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं च ॥ ४-३२ ॥	६१
३३.	सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥ ४-३३ ॥	६१
३४.	सागरोपमे ॥ ४-३४ ॥	६२
३५.	अधिके च ॥ ४-३५ ॥	६२
३६.	सप्त सनत्कुमारे ॥ ४-३६ ॥	६३
३७.	विशेष-त्रि-सप्त-दशैकादश-त्रयोदश- पञ्चदशभिरधिकानि च ॥ ४-३७ ॥	६३

सूत्राङ्कः

सूत्र

पृष्ठ सं.

३८.	आरणाऽच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु- विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ॥ ४-३८ ॥	६४
३९.	अपरा पत्योपममधिकं च ॥ ४-३९ ॥	६६
४०.	सागरोपमे ॥ ४-४० ॥	६७
४१.	अधिके च ॥ ४-४१ ॥	६७
४२.	परतः परतः पूर्वा पूर्वान्तरा ॥ ४-४२ ॥	६८
४३.	नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥ ४-४३ ॥	६९
४४.	दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ४-४४ ॥	७१
४५.	भवनेषु च ॥ ४-४५ ॥	७१
४६.	व्यन्तराणां च ॥ ४-४६ ॥	७१
४७.	परा पत्योपमम् ॥ ४-४७ ॥	७२
४८.	ज्योतिष्काराणामधिकम् ॥ ४-४८ ॥	७२
४९.	ग्रहाणामेकम् ॥ ४-४९ ॥	७३
५०.	नक्षत्राणामर्धम् ॥ ४-५० ॥	७३
५१.	तारकाणां चतुर्भागः ॥ ४-५१ ॥	७४
५२.	जघन्या त्वष्टभागः ॥ ४-५२ ॥	७४
५३.	चतुर्भागः शेषाणाम् ॥ ४-५३ ॥	७४

॥ इति श्रीतत्त्वार्थविनिर्णयसूत्रस्य चतुर्थाध्याये सूत्रानुक्रमणिका समाप्ता ॥



चतुर्थाध्यायस्य
अकारादिसूत्रानुक्रमणिका

क्रम	सूत्र	सूत्राङ्क	पृष्ठ सं.
१.	अधिके च ।	४-३५	६२
२.	अधिके च ।	४-४१	६७
३.	अपरा पत्योपममधिकं च ।	४-३६	६६
४.	असुरेन्द्रयोः सागरपममधिकं च ।	४-३२	६१
५.	आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धे च ।	४-३८	६४
६.	औपपातिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ।	४-२८	५८
७.	इन्द्रसामानिकत्रायस्त्रिंशपारिषद्यात्मरक्षलोकपाला- नीकप्रकीर्णकाभियोग्यकिल्बिषिकाश्चैकशः ।	४-४	५
८.	उपर्युपरि ।	४-१६	३८
९.	कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ।	४-१८	३७
१०.	कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ।	४-८	१२
११.	गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ।	४-२२	४७
१२.	ग्रहाणामेकम् ।	४-४६	७३
१३.	चतुर्भागः शेषाणाम् ।	४-५३	७४
१४.	जघन्या त्वष्टभागः ।	४-५२	७४
१५.	ज्योतिष्काणामधिकम् ।	४-४८	७२
१६.	ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसो ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च ।	४-१३	२६
१७.	तत्कृतः कालविभागः ।	४-१५	३२
१८.	तारकाणां चतुर्भागः ।	४-५१	७४

क्रम	सूत्र	सूत्राङ्क	पृष्ठ सं.
१६.	तृतीयः पीतलेश्यः ।	४-२	३
२०.	त्रायस्त्रिंश लोकपालवज्या व्यन्तरज्योतिष्काः ।	४-५	७
२१.	दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ।	४-४४	७१
२२.	दशाऽष्टपञ्चद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः	४-३	४
२३.	देवाश्चतुर्निकायाः ।	४-१	१
२४.	नक्षत्राणामर्धम् ।	४-५०	७३
२५.	नारकाणां च द्वितीयादिषु ।	४-४३	६६
२६.	परतः परतः पूर्वापूर्वाऽनन्तरा ।	४-४२	६८
२७.	परा पत्योपमम् ।	४-४७	७२
२८.	परेऽप्रवीचाराः ।	४-१०	१५
२९.	पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ।	४-२३	५२
३०.	पीतान्तलेश्याः ।	४-७	७
३१.	पूर्वयोर्द्विन्द्राः ।	४-६	७
३२.	प्राग् ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः ।	४-२४	५३
३३.	बहिरवस्थिताः ।	४-१६	३५
३४.	ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः ।	४-२५	५४
३५.	भवनेषु च ।	४-४५	७१
३६.	भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां पत्योपममध्यर्धम् ।	४-३०	५६
३७.	भवनवासिनोऽसुरनागविद्युत्- सुपर्णाग्निवातस्तनितोदधिद्वीपदिवकुमाराः ।	४-११	१६
३८.	मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके ।	४-१४	२८
३९.	विजयादिषु द्विचरमाः ।	४-२७	५७
४०.	विशेषत्रिसप्तदशैकादश- पञ्चदशभिरधिकानि च ।	४-३७	६३
४१.	व्यन्तराणां च ।	४-४६	७१

क्रम	सूत्र	सूत्राङ्क	पृष्ठ सं.
४२.	व्यन्तराः किन्नरकिम्पुरुषमहोरग- गन्धर्वयक्षराक्षसभूतपिशाचाः ।	४-१२	२१
४३.	वैमानिकाः ।	४-१७	३६
४४.	शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः- प्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ।	४-६	१३
४५.	शेषाणां पादोने ।	४-३१	६०
४६.	सप्त सनत्कुमारे ।	४-३६	६३
४७.	सागरोपमे ।	४-३४	६२
४८.	सागरोपमे ।	४-४०	६७
४९.	सारस्वतादित्यवह्न्यरुण- गर्दतोयतुषिताव्याबाधमस्तोरिष्टाश्च ।	४-२६	५६
५०.	स्थितिः ।	४-२६	५६
५१.	स्थितिप्रभावसुखद्युतिलेश्याविशुद्धी- न्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ।	४-२१	४२
५२.	सौधर्मेशानसनत्कुमारमाहेन्द्रब्रह्मलोक-लान्तक- महाशुक्रसहस्रारेष्वानत-प्राणतयोरा- रणाच्युतयोर्नवसु श्रेवेयकेषु विजयवैजयन्त- जयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धे च ।	४-२०	३८
५३.	सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ।	४-३३	६१

॥ इति श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रस्य चतुर्थाध्याये अकारादिसूत्रानुक्रमणिका समाप्ता ॥



श्रीतत्त्वार्थाधिगमसूत्रे
श्रीजैनश्वेताम्बर-दिगम्बरयोः सूत्रपाठ-भेदः
ॐ चतुर्थाऽध्यायः ॐ

❁ श्रीश्वेताम्बरग्रन्थस्य सूत्रपाठः ❁

ॐ सूत्राणि ॐ

सूत्र सं.

२. तृतीयः पीतलेश्यः ॥ ४-२ ॥

७. पीतान्तलेश्याः ॥ ४-७ ॥

६. शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः-
प्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः ॥ ४-६ ॥

१३. ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसौ ग्रह-
नक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च ॥ ४-१३ ॥

२०. सौधर्मेशानसनत्कुमार - माहेन्द्रब्रह्म-
लोक-लान्तक महाशुक्रसहस्रारेष्वा-
नत - प्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु
ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्तापरा-
जितेषु सर्वार्थसिद्धे च ॥ ४-२० ॥

२३. पीतपद्मशुक्ललेश्या-
द्वित्रिशेषेषु ॥ ४-२३ ॥

२५. ब्रह्मलोकालया
लोकान्तिकाः ॥ ४-२५ ॥

❁ श्रीदिगम्बरग्रन्थस्य सूत्रपाठः ❁

ॐ सूत्राणि ॐ

सूत्र सं.

२. आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्या ।

× × ×

८. शेषाः स्पर्शरूपशब्दमनः-
प्रवीचाराः ।

१२. ज्योतिष्काः सूर्याश्चन्द्रमसौ ग्रह-
नक्षत्रप्रकीर्णतारकाश्च ।

१६. सौधर्मेशानसानत्-कुमारमाहेन्द्रब्रह्म-
ब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्टशुक्रमहा-
शुक्रशतारसहस्रारेष्वा-नत-प्राणतयो-
रारणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु
विजयवैजयन्तजयन्ता - पराजितेषु
सर्वार्थसिद्धौ च ।

२२. पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ।

२४. ब्रह्मलोकालया लोकान्तिकाः ।

सूत्र सं.

२६. सारस्वतादित्यवह्न्यरुणगर्दतोय-
तुषिताव्याबाधमरुतोऽरिष्टाश्च
॥ ४-२६ ॥
२६. स्थितिः ॥ ४-२६ ॥
३०. भवनेषु दक्षिणार्धाधिपतीनां
पल्योपममध्यर्धम् ॥ ४-३० ॥
३१. शेषाणां पादोने ॥ ४-३१ ॥
३२. असुरेन्द्रयोः सागरोपममधिकं
च ॥ ४-३२ ॥
३३. सौधर्मादिषु यथाक्रमम् ॥ ४-३३ ॥
३४. सागरोपमे ॥ ४-३४ ॥
३५. अधिके च ॥ ४-३५ ॥
३६. सप्त सनत्कुमारे ॥ ४-३६ ॥
३७. विशेषत्रिसप्तदशैकादशत्रयोदश-
पञ्चदशभिरधिकानि च ॥ ४-३७ ॥
३८. अपरा पल्योपममधिकं
च ॥ ४-३८ ॥
४०. सागरोपमे ॥ ४-४० ॥
४१. अधिके च ॥ ४-४१ ॥
४७. परा पल्योपमम् ॥ ४-४७ ॥
४८. ज्योतिष्कारणमधिकम् ॥ ४-४८ ॥
४९. ग्रहाणामेकम् ॥ ४-४९ ॥
५०. नक्षत्राणामर्धम् ॥ ४-५० ॥
५१. तारकाणां चतुर्भागः ॥ ४-५१ ॥
५२. जघन्या त्वष्टभागः ॥ ४-५२ ॥
५३. चतुर्भागः शेषाणाम् ॥ ४-५३ ॥

सूत्र सं.

२५. सारस्वतादित्य - वह्न्यरुणगर्दतोय-
तुषिताव्याबाधारिष्टाश्च ।
२८. स्थितिरसुरनाग - सुपर्णद्वीपशेषाणां
सामरोपमत्रिपल्योपमार्द्धं हीन-
मिताः ।
- ×
- ×
- ×
- ×
- ×
- ×
२९. सौधर्मेशानयोः सागरोपमेऽधिके ।
- ×
- ×
- ×
- ×
- ×
३०. सानत्कुमार-माहेन्द्रयोः सप्त ।
३१. त्रिसप्तनवैकादश - त्रयोदशपञ्चदश-
भिरधिकानि तु ।
३३. अपरा पल्योपममधिकम् ।
- ×
- ×
- ×
- ×
- ×
३६. परा पल्योपममधिकम् ।
४०. ज्योतिष्काराणां च ।
- ×
- ×
- ×
- ×
- ×
४१. तदष्टभागोऽपरा ।
४२. लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि
सर्वेषाम् ।

ॐ ॐ ह्रीं श्रीपार्श्वनाथाय नमः ॐ

✽ पुरुषादानीय - महाप्रभाविक - श्रीपार्श्वनाथ-
जिनेश्वरदेवस्य अष्टोत्तरशतनामस्तोत्रम् ✽

प्रणेता—शास्त्रविशारद-साहित्यरत्न-कविभूषण-पूज्याचार्य श्रीमद् विजय सुशील सूरिः

नानाभिधेयात्मकपार्श्वनाथ— ।
तीर्थकरस्यात्महितं विधातुम् ॥
स्तोत्रं सुराणां गिरया विधाय ।
प्रमोदमानोऽस्ति सुशीलसूरिः ॥ १ ॥

सदा स्वस्थचित्तोऽभवत् पार्श्वनाथ— ।
जिनस्य प्रभोरिष्टदेवस्य भक्त्यै ॥
तदाख्यात्मकं स्तोत्ररत्नं पवित्रं ।
पठामि स्मरामीह सद्भावयुक्तः ॥ २ ॥

प्रभुं पार्श्वशङ्खेश्वरं^१ नौमि नित्यं ।
भजेऽहं सदा पार्श्व - जीराधलां^२ वै ॥
स्तुवे स्तम्भनं^३ पार्श्वनाथं जिनेन्द्रं ।
तथा स्तौमि नित्यं जिनं ह्यन्तरिक्षम्^४ ॥ ३ ॥

अवन्तीं^५ जिनं पार्श्वनाथं प्रणौमि ।
प्रभुं पार्श्वपञ्चासराख्यं^६ च नौमि ॥
स्तुवे पार्श्वगौडीं^७ तथा पार्श्वगेवीं^८ ।
प्रभुं पार्श्वं घोषां^९ च साचां^{१०} स्मरामि ॥ ४ ॥

भजे भीलडीयाभिधं^{११} पार्श्वनाथं ।
भटेवाभिधं^{१२} पार्श्वनाथं स्तुवेऽहम् ॥
प्रभुं भेरवां^{१३} पार्श्वनाथं स्मरामि ।
तथा भोयरां^{१४} पार्श्वभाभां^{१५} भजामि ॥ ५ ॥

जिनं कङ्कणं^{१६} पार्श्वनाथं नमामि ।
 तथा बम्भणं^{१७} पार्श्वदेवं स्मरामि ॥
 प्रभुं मुञ्जपं^{१८} पार्श्वनाथं प्रणौमि ।
 तथा संखलं^{१९} पार्श्वदेवं स्मरामि ॥ ६ ॥
 सुचिन्तामणिं^{२०} पार्श्वनाथं प्रणौमि ।
 तथा सोमचिन्तामणिं^{२१} वै नमामि ॥
 स्तुवे मारिकं पार्श्वनाथं^{२२} सुरेज्यं ।
 तथा लोढणं पार्श्वदेवं^{२३} जिनेन्द्रम् ॥ ७ ॥
 अजाराभिधं पार्श्वनाथं^{२४} स्तुवेऽहं ।
 प्रभुं जारयाडीं जिनेन्द्रं^{२५} भजेऽहम् ॥
 स्तुवे तारसल्लाभिधं^{२६} पार्श्वनाथं ।
 तथा टांकलां^{२७} पार्श्वदेवं स्तुवेऽहम् ॥ ८ ॥
 प्रभुं कापलीं^{२८} पार्श्वनाथं प्रणौमि ।
 तथा तीवरीं^{२९} पार्श्वदेवं नमामि ॥
 स्तुवे डोलतीं^{३०} पार्श्वनाथं जिनेन्द्रं ।
 तथा मण्डलीं^{३१} पार्श्वदेवं भजेऽहम् ॥ ९ ॥
 स्तुवे शामलां^{३२} पार्श्वनाथं जिनेशं ।
 तथा पार्श्वदादां^{३३} जिनेन्द्रं भजेऽहम् ॥
 कलीकुण्डपार्श्वं^{३४} जिनं नौमि नित्यं ।
 तथा स्तौमि क्षिप्रां^{३५} प्रभुं पार्श्वनाथम् ॥ १० ॥
 प्रभुं नीलकण्ठं^{३६} जिनं नौमि नित्यं ।
 तथा स्तौमि नागेश्वरं^{३७} पार्श्वनाथम् ॥
 नगीनां^{३८} जिनं नौमि नारीमपार्श्वं^{३९} ।
 जिनेन्द्रं स्तुवेऽहं च नागेन्द्रनाथम्^{४०} ॥ ११ ॥
 स्तुवेऽहं सदा पार्श्व - कंसारियां^{४१} वै ।
 तथाऽहं स्तुवे पार्श्व - गोटीगजीं^{४२} च ॥
 जिनेशं स्तुवे पार्श्व - सारोडियां^{४३} वै ।
 प्रभुं पार्श्वकालीं^{४४} जिनं नौमि नित्यम् ॥ १२ ॥

जिनेन्द्रं महादेव - पार्श्वं^{४४} स्मरामि ।
 कटेराप्रभुं^{४५} पार्श्वनाथं प्रणौमि ॥
 प्रभुं पार्श्वं - चंचु^{४७} च चत्तां स्तुवेऽहं ।
 तथा चोरवाडी^{४८} जिनेन्द्रं भजेऽहम् ॥ १३ ॥

स्तुवेऽहं करेड़ा - प्रभुं^{४६} पार्श्वनाथं ।
 भजेऽहं फलोधि^{४७} प्रभुं पार्श्वदेवम् ॥
 जिनं रावणा^{४८} पार्श्वनाथं नमामि ।
 प्रभुं कावली^{४९} पार्श्वदेवं स्मरामि ॥ १४ ॥

अऊआप्रभुं^{५०} पार्श्वनाथं स्तुवेऽहं ।
 तथा विज्जुला^{५१} पार्श्वनाथं भजेऽहम् ॥
 दुदीयां^{५२} प्रभुं पार्श्वनाथं स्मरामि ।
 विभुं वल्लभा^{५३} पार्श्वनाथं नमामि ॥ १५ ॥

जिनं ऊवरा^{५४} पार्श्वनाथं स्तुवेऽहं ।
 सुऊदामणि^{५५} पार्श्वनाथं भजेऽहम् ॥
 दुदीयां^{५६} स्तुवे पार्श्वदेवं जिनेन्द्रं ।
 स्तुवेऽहं सदा देवकल्याणपार्श्वम्^{५७} ॥ १६ ॥

अहिछत्रां^{५८} स्तुवे पार्श्वं, आसगुलां^{५९} जिनेश्वरं ।
 आरजीयां^{६०} जिनं वन्दे, हलधराभिधं^{६१} प्रभुम् ॥ १७ ॥

वन्दे विजयचिन्तामणिं,^{६२} पार्श्वेशं जिनोत्तमम् ।
 मगसीयां^{६३} प्रभुं पार्श्वं, प्रणौमि मन्मोहनम्^{६४} ॥ १८ ॥

गाडरियां^{६५} जिनं वन्दे, तथा श्रीजगवल्लभम्^{६६} ।
 श्रीदुःखभञ्जनं^{६७} पार्श्वं, भजे श्रीभीडभञ्जनम्^{६८} ॥ १९ ॥

स्तुवे केसरियां^{६९} पार्श्वं, तथा डोकरियां^{७०} जिनं ।
 धीगङ्गमलपार्श्वेशं,^{७१} स्तुवेऽहं सुखसागरम्^{७२} ॥ २० ॥

नवखण्डाभिधं^{७३} पार्श्वं, प्रणौमि नवपल्लवम्^{७४} ।
 मनोरंजनपार्श्वेशं,^{७५} वन्देऽहं चवलेश्वरम्^{७६} ॥ २१ ॥

अलवराभिधं^{८०} पार्श्वं, वरकाणां^{८१} च नौम्यहम् ।
 तथा कापरङ्गापार्श्वं^{८२} कुलपाक^{८३} च स्तौम्यहम् ॥ २२ ॥
 स्तुवे सुरसरां^{८४} पार्श्वं, श्रीसकबलेचां^{८५} तथा ।
 सूरजमण्डनं^{८६} स्तौमि, श्रीनासीरोडियां^{८७} प्रभुम् ॥ २३ ॥
 स्तौमि महुरियां^{८८} पार्श्वं, श्रीमनरञ्जनं^{८९} जिनम् ।
 अमीभरां^{९०} भजे पार्श्वं, महुरियां^{९१} प्रणौम्यहम् ॥ २४ ॥
 अनीयलां^{९२} स्तुवे पार्श्वं, कलियुगं^{९३} नमाम्यहम् ।
 आडंबराभिधं^{९४} वन्दे, मुजपरां^{९५} स्मराम्यहम् ॥ २५ ॥
 पार्श्वं घृतकलोलं^{९६} श्री-नवसारीं^{९७} च नौम्यहम् ।
 नाकोडा^{९८} पार्श्वनाथं वै, नौमि नित्यं जिनेश्वरम् ॥ २६ ॥
 श्रीसहस्रफणा^{९९} पार्श्वं, नौम्यहं कुकुटेश्वरम्^{१००} ।
 वन्दे महेमदाबादीं^{१०१} स्तुवे कुरकडुं^{१०२} जिनम् ॥ २७ ॥
 अहिछत्राभिधं^{१०३} स्तौमि, श्रीहमीरपुरां^{१०४} प्रभुम् ।
 घृतकलोलं^{१०५} पार्श्वं वै, कुणगेरं^{१०६} स्तुवे जिनम् ॥ २८ ॥
 गंगाणीयाभिधं^{१०७} पार्श्वं, प्रणौमि परमेश्वरम् ।
 तथा गुणगरीसां^{१०८} वै, स्तुवेऽहं जगदीश्वरम् ॥ २९ ॥

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ
 ॐ प्रशस्तिः ॐ
 ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

श्रीविक्रमे वरे वर्षे, निधिवेदनभाक्षिके ।
 ज्येष्ठमासे तिथौ शुक्ल-कादश्यां सोमवासरे ॥ ३० ॥
 प्रख्याते भारते देशे, राजस्थाने हि प्रान्तके ।
 मरुधरे प्रदेशे वै, श्रीमेवानगरे वरे ॥ ३१ ॥

नाकोडातीर्थमध्ये वै, पार्श्वनाथप्रभोः परम् ।
समवसरणस्यापि, खातमुहूर्तकोत्सवे ॥ ३२ ॥
स्वजिनोत्तम - शिष्यस्य, पंग्यास - गणिनोऽपि वै ।
शिष्यस्य रविचन्द्रस्य, प्रार्थनायाश्च भावतः ॥ ३३ ॥
पूज्यानां गुरुदेवानां, सूरीशानां महीतले ।
नेमि - लावण्य - दक्षाणां, सुशीलसूरिणा मया ॥ ३४ ॥
पार्श्वनाथ - जिनेन्द्रस्या - षोत्तरशतनामकम् ।
स्तोत्रमिदं कृतं रम्यं, नित्यं मङ्गलकारकम् ॥ ३५ ॥
भक्त्येदं यः पठेन्नित्यं, सः प्राप्नोति शिवश्रियम् ।
सुमेरुः रविचन्द्रो च, तावद् स्तोत्रमिदं स्फुरेत् ॥ ३६ ॥

॥ श्रीरस्तु ॥



卐 जैनधर्मध्वज अभिवादन—गीत 卐

[कर्त्ता—पूज्याचार्य श्रीमद् विजयसुशीलसूरीश्वरजी म०]

(जन गण मन अधिनायक—तर्ज राष्ट्र गीत)

जन - जन - रंजन दुःख - विनाशक, जैनधर्म सुखदाता ।
भवोदधितारक सुमुक्तिदायक, नित मंगल कर्त्ता ॥ १ ॥

पंच परमेष्ठी नवकार मन्त्र का, पंचरंगी रंग सुहाया ।
अनादि अनन्त काल में ये है, विश्व मध्य फहराया ॥ २ ॥

अहिंसा - संयम - तपोभूमि पर, क्षमादि जल बरसाता ।
श्रमण ध्वज लहराये हरदम, समता भाव सुहाता ॥ ३ ॥

जन - जन - रंजन दुःख - विनाशक, जैनधर्म सुखदाता ।
जय हे ! जय हे ! जय हे ! जय, जय, जय, जय हे ! ॥ ४ ॥

[“जैनधर्म की जय”]

✽ जैनधर्म का गीत ✽

[कर्त्ता—पूज्याचार्य श्रीमद् विजयसुशीलसूरीश्वरजी म०]

(देख तेरे संसार की हालत—ए तर्ज)

जैनधर्म है जग में हमारा, अद्वितीय सनातन न्यारा ।
है हमको प्राणों से प्यारा (२) जैनधर्म० [१]

चमक रहा है विश्वाकाश में, जैसे चन्द्र सूरज और तारा । (२)
अहिंसा ध्वज फहराने वाला सत्य मार्ग बतलाये । है हमको० [२]

न्याय नीति आदि दिखलाकर, सदाचार सिखलाने वाला । (२)
अज्ञान तिमिर दूर करे ये, ज्ञान प्रकाश फैलाये ॥ है हमको० [३]

दुःख संकट ये हरता सब के, सुख - सम्पत्ति नित देने वाले (२)
भव-भ्रमण को दूर हटाकर, जन्म-मरण मिटाये ॥ है हमको० [४]

अष्ट कर्म क्षय करे हमारे, मुक्तिधाम पहुँचाने वाला । (२)
कहत सुशील जिन आगम से, अक्षय सुख दिलवाये ॥ है हमको० [५]

ॐ ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः ॐ

शासनसम्राट् — तपोगच्छाधिपति परम पूज्य आचार्य—
महाराजाधिराज श्रीमद् विजय नेमि — लावण्य — दक्ष —
सूरीश्वर जी महाराज साहब के पट्टधर —
राजस्थानदीपक — तीर्थप्रभावक — प्रतिष्ठाशिरोमणि
श्री अष्टापद जैन तीर्थ के संस्थापक

परम पूज्य आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय
सुशील सूरीश्वरजी महाराज साहब

के



पावन चरणों में भावपूर्ण कोटिशः वन्दना



संक्षिप्त जीवन परिचय

श्री सुशील साहित्य प्रकाशन समिति
साहित्य प्रकाशन योजना



सुशील—सन्देश
(हिन्दी मासिक पत्र)



★ निर्माणाधीन ★

श्री अष्टापद जैन तीर्थ, सुशील विहार, रानी,
परिचय एवं प्रारूप



**श्री जैन धर्म दिवाकर
प.पू. आचार्य श्री सुशील सूरि जी म.सा.**

महापुरुषों के विषय में महर्षि भर्तृहरि ने कहा है: 'अलंकार : भुवः' निरसन्देह वे धरती के अलंकार होते हैं। उनका समस्त जीवन लोक-कल्याण के लिए समर्पित होता है। ऐसी ही लोक-मंगल-विभूति **जैन धर्म दिवाकर आचार्य श्री सुशील सूरि जी हैं**। उन्होंने अपना जीवन मानवीय मूल्यों को मानव समाज में प्रतिष्ठित करने के लिए अर्पित किया है। पूज्य आचार्यश्री ने अपने उदात्त मिशन के क्रियान्वयन हेतु पंचसूत्री कार्यक्रम बनाया है।

* पंचसूत्री कार्यक्रम *

१. सप्त व्यसन — मुक्त समाज की रचना
२. समाज की एकता
३. जिनमन्दिरों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार
४. सत् साहित्य—सृजन
५. चरित्र—निर्माण

सात व्यसन हैं — मदिरापान, मांसाहार, शिकार, जुआ (धूल क्रीड़ा), परस्त्रीगमन, वेश्यागमन, चोरी। व्यसन—मुक्त मानव समाज धरती पर स्वर्ग की कल्पना को साकार करता है। समाज की एकता के लिए जाति, धर्म, सम्प्रदाय आदि से ऊपर उठना आवश्यक है। सभी मनुष्य समान हैं, प्राणिमात्र अपनी आत्मा के समान है—

‘आत्मवत् सर्वभूतेषु’ यह भारतीय संस्कृति का महान् सन्देश है।

आचार्यश्री ने **‘श्री महादेव स्तोत्र काव्य’** में ईश्वर को शिव—शंकर, ब्रह्मा, विष्णु ईश्वर, बुद्ध, अल्लाह आदि बताकर करुणा—निधान, विश्व—वात्सल्य—मूर्ति वीतराग परमात्मा का गुणगान किया है। उन्होंने कहा है कि प्राणिमात्र के प्रति प्रेम रखना ही धर्म है, प्रभु—सेवा है। उन्होंने कहा— ‘धर्म फूल है जो सुगन्ध और सुन्दरता से सबको सम्मोहित करता है, वह काँटा नहीं जो चुभकर किसी को दुःख पहुँचाता है। अतः मानव प्रेम के सूत्र में गुम्फित होकर जगत् सुख का निर्माण करे।’

पूज्य श्री सुशील गुरुदेवश्री संस्कृत, प्राकृत एवं गुजराती भाषाओं के मर्मज्ञ एवं अधिकारी विद्वान् हैं। स्वयं गुजराती भाषा—भाषी होते हुए भी वे हिन्दी में साहित्य रचते हैं। उन्होंने **लगभग १२५ पुस्तकें** लिखी हैं जिनमें अधिकांश हिन्दी भाषा में हैं।

उनकी दृष्टि में आधुनिक युग की नवपीढ़ी को सस्ते कामुक साहित्य से बचाने के लिए साहित्यकारों को सत् साहित्य का निर्माण करना चाहिए। आचार्यश्री स्वयं इस दिशा में विशेष योगदान कर रहे हैं। नवपीढ़ी को संस्कारित करने के लिए समाज के अग्रगण्य, शिक्षक, व्यापारी, धर्माचार्य, नेतागण आदि स्वयं उच्च एवम् आदर्श—जीवन—यापन करें।

जिन पडिमा जिन सारिखी संसार—समुद्र से तिरने के लिए एवं मुक्ति—मन्दिर में पहुँचने के लिए जिनप्रतिमा अलौकिक एवं अद्वितीय नौका तुल्य है।

जिनमन्दिर के निर्माण एवं प्राचीन मन्दिरों के जीर्णोद्धार का पुनीत कार्य सदगृहस्थों को अवश्य करवाना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री के वरद—करकमलों द्वारा अनेक प्रसिद्ध तीर्थों एवं जिनप्रासादों की अंजनशलाका—प्रतिष्ठायें सम्पन्न हुई हैं।

११८ जिनमन्दिरों की प्रतिष्ठायें एवं अंजनशलाका करवाने का महान् श्रेय पूज्य श्री सुशील गुरुदेवश्री को प्राप्त है।

आचार्यश्री का निर्मल, तपशील एवं निस्पृह जीवन कमल के समान निर्लेप **पोक्खर पत्तं व निरुवलेवे** और धरती के समान क्षमाशील **‘पुढवीसमोमुणी हवेज्जा’** है।

卐 जीवन झलक 卐

इन महर्षि का जन्म चाणरमा (गुजरात) में वि. सं. १६७३ भाद्रपद शुक्ला १२ के शुभ दिन हुआ था। पिताजी का नाम **चतुरभाई** था और माताजी का नाम **चंचलबेन** था। माता-पिता के धार्मिक संस्कारों, ज्ञानी-महात्माओं के प्रवचनों एवं ज्ञान-वैराग्य की सत्पुस्तकों से इनकी वैराग्य-भावन परिपुष्ट हुई; फलस्वरूप १४ वर्ष की लघु आयु में इन्होंने वि. सं. १६८८ में दीक्षा ग्रहण की। ये परम पूज्य शासनसम्राट के समुदाय के **प. पू. आचार्य श्री दक्षसूरिजी म. सा.** के शिष्य हुए।

गौरवमय परिवार : चाणरमा के श्रेष्ठिवर्य **श्री चतुरभाई मेहता** का सम्पूर्ण परिवार गौरवशाली है। इस परिवार के सभी सदस्य दीक्षित हुए। बड़े पुत्र **दलपत भाई (प. पू. आचार्यश्री दक्षसूरीश्वरजी म.)** सर्वप्रथम दीक्षित हुए। तत्पश्चात् लघुपुत्र **श्री गोदड़ भाई (प. पू. आचार्यश्री सुशील सूरेश्वरजी म.)** दीक्षित हुए। छोटे पुत्रवर **विक्रम भाई** की भी दीक्षा की पुनीत भावना थी, परन्तु वे असमय स्वर्गवासी हुए। लघु पुत्री **श्री तारा बहन (पू. साध्वीश्री रवीन्द्रप्रभाश्री जी म.)** भी दीक्षित हुई। स्वयं **चतुर भाई** ने भी **पू. मुनिश्री चन्द्रप्रभ विजय जी म.** के रूप में दीक्षित होकर आत्मकल्याण किया था।

पू. श्री सुशील गुरुदेवश्री जी साहित्यरत्न, कविभूषण आदि अलंकरणों से विभूषित हुए। साथ ही जैनधर्मदिवाकर, मरुधर-देशोद्धारक, तीर्थ-प्रभावक, राजस्थान-दीपक, शासन रत्न आदि अनेक विरुदों से विभूषित हुए। इन अलंकरणों का आपने केवल जनता के प्रेम के कारण स्वीकार किया है। आप ही के शब्दों में "अलंकरण भार रूप हैं। मैं तो प्रभु के चरण कमलों में समर्पित एक नन्हा पुष्प पल्लव हूँ।"

आपश्री के पट्टधर **पूज्य पंन्यासप्रवर श्री जिनोत्तम विजय जी गणिवर्य महाराज** भी सुमधुर प्रवचनकार एवम् प्रभावशाली सन्त हैं। आपकी प्रेरणा से **सुशील-सन्देश मासिक पत्र** का सुन्दर रूप से प्रकाशन हो रहा है। सर्वजनहिताय सर्वजनसुखाय की सत्प्रेरणा से प्रकाशित मासिक जन-जन के लिए अभिप्रेरक है।

सुशील वचनमृत

१. अनन्त शान्ति की प्राप्ति हेतु दूसरों का हित करो।
२. **सादा जीवन और उच्च विचार** मानव का सिद्धान्त होना चाहिए। इससे सफलता मिलती है।
३. पृथ्वी के तीन रत्न हैं— जल, अन्न और मधुर वाणी।
४. दयापूर्ण हृदय मनुष्य की अनन्त मूल्यवान सम्पत्ति है।
५. धर्म का अर्थ है प्रेम।
६. परोपकार करना प्रभु की सर्वोत्तम सेवा है।
७. चरित्रवान् व्यक्ति कुबेर के अनन्त कोषों से भी अधिक मूल्यवान है।

भारतीय संस्कृति में निहित अहिंसा, प्रेम आदि सिद्धान्तों व जैन दर्शन की सहिष्णुता व क्षमाशीलता का अमृत पिलाने वाली लोक मंगल-विभूति को अनन्त प्रणाम।

पूज्य श्री सुशील गुरुदेवश्री

की जीवन-झलक

- ❖ **जन्म** - वि. सं. १९७३, भाद्रपद शुक्ला द्वादशी,
त्राणस्मा (उत्तर गुजरात) २८-६-१७
- ❖ **दीक्षा** - वि. सं. १९८८, कार्तिक (मृगशीर्ष) कृष्णा २,
उदयपुर (राज. मेवाड़) २७-११-३१
- ❖ **गणि पदवी** - वि. सं. २००७, कार्तिक (मृगशीर्ष) कृष्णा ६,
वेरावल (गुजरात) १-१२-५०
- ❖ **पंन्यास पदवी** - वि. सं. २००७, वैशाख शुक्ला ३ (अक्षय तृतीया)
भ्रमदाबाद (गुजरात) ६-५-५१
- ❖ **उपाध्याय पद** - वि. सं. २०२१, माघ शुक्ला ३,
मुंडारा (राजस्थान) ४-२-६५
- ❖ **आचार्य पद** - वि. सं. २०२१, माघ शुक्ला ५ (वसन्त पंचमी)
मुंडारा ६-२-६५

* अलंकरण *

१. साहित्यरत्न, शास्त्रविशारद एवं कविभूषण अलंकरण - श्री चरित्रनायक को मुंडारा में पूज्यपाद आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय-दक्ष सूरेश्वरजी म. सा. के वरदहस्त से अर्पित हैं।
२. जैनधर्मदिवाकर - वि. सं. २०२७ में श्री जैसलमेर तीर्थ के प्रतिष्ठा-प्रसंग पर श्रीसंघ द्वारा।
३. मरुधरदेशोद्धारक - वि. सं. २०२८ में रानी स्टेशन के प्रतिष्ठा प्रसंग पर श्रीसंघ द्वारा।
४. तीर्थप्रभावक - वि. सं. २०२६ में श्री चंवलेश्वर तीर्थ में संघमाला के भव्य प्रसंग पर श्री केकड़ी संघ द्वारा।
५. राजस्थान-दीपक - वि. सं. २०३१ में पाली नगर में प्रतिष्ठा प्रसंग पर श्रीसंघ द्वारा।
६. शासनरत्न - वि. सं. २०३१ में जोधपुर नगर में प्रतिष्ठा-प्रसंग पर श्रीसंघ द्वारा।
७. श्री जैन शासन शणगाार - वि. सं. २०४६ मेड़ता शहर में श्री अंजनशलाका प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रसंग पर।
८. प्रतिष्ठा शिरोमणि - वि. सं. २०५० श्री नाकोड़ा तीर्थ में चातुर्मास के प्रसंग पर।

श्री सुशील साहित्य प्रकाशन समिति
का
सप्रेम निवेदन

मान्यवर श्री

साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब कहा जाता है।
जिसमें मौलिक साहित्य का महत्त्व सर्वाधिक है।
मौलिक साहित्य के पठन से आपके
परिवार में अच्छे संस्कारों का सिंचन होगा,
जिससे जीवन में प्रेम और शान्ति के फूल खिलेंगे।

- ❖ आध्यात्मिक विकास के लिए तत्त्व-चिन्तन का साहित्य।
- ❖ स्वस्थ जीवन के लिए मौलिक चिन्तन का साहित्य।
- ❖ जीवन के शाश्वत मूल्यों को उजागर करने वाला कथासाहित्य।
- ❖ भीतरी समस्या को सुलझाने वाला प्रेरक साहित्य।

यह सब प्राप्त करने के लिए आप श्री सुशील साहित्य प्रकाशन समिति (रजि.) द्वारा प्रकाशित धार्मिक साहित्य पढ़िये।

- * सुन्दर — सरल — सरस
- * सुरुचिपोषक — सुसंस्कारवर्धक
- * शुभ और शुद्ध विचारों से समृद्ध
- * साहित्य की नियमित प्राप्ति हेतु

आप आजीवन सदस्य अवश्य बनें।

सम्यक् साहित्य के प्रचार और प्रसार में सहभागी बनने हेतु
हमारा सप्रेम भावपूर्ण निमन्त्रण है।

आजीवन सदस्यता शुल्क-२७९९ रुपये

आचार्य श्री सुशील सूरि जी जैन ज्ञान मन्दिर, सिरौही

श्री सुशील साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर

भूत-भावी तमाम उपलब्ध प्रकाशनों की एक-एक प्रति निःशुल्क भेजी जायेगी।

भावी तमाम प्रकाशनों में आजीवन सदस्य के रूप में नाम छपेगा व एक-एक प्रति निःशुल्क प्रेषित की जायेगी।

श्री सुशील साहित्य प्रकाशन समिति, जोधपुर के नाम का चैक/ड्राफ्ट/रोकड़ से निम्न पते पर 2711 रुपये भेजें।

श्री सुशील साहित्य प्रकाशन समिति

C/o श्री गुणदयालचन्द जी भण्डारी
राइकाबाग, पुरानी पुलिस लाइन के पास,
मु. जोधपुर (राज.),
फोन नं. : 23829, 36821

दानवीर महानुभाव, आजीवन सदस्य बनकर सम्यग्ज्ञान के प्रचार-प्रसार में सहयोगी बनें।

—विनीत—

ट्रस्ट मण्डल

श्री सुशील साहित्य प्रकाशन समिति

श्री गुणदयालचन्दजी भण्डारी, जोधपुर

श्री मांगीलाल जी सी. जैन, तखतगढ़ (नेल्लोर)

श्री गणपतराज जी चौपड़ा, पचपदरा (बम्बई)

श्री हुक्मीचन्द जी कटारिया, रुण (बैंगलोर)

डॉ. जवाहरचन्द्र जी पटनी, कालन्दी

श्री नैनमल विनयचन्द जी सुराणा, सिरौही

श्री मांगीलाल जी तातेड़, मेड़ता सिटी

१. सुशील नाममाला (संस्कृत शब्दकोश)
२. श्रीषड्दर्शनदर्पणम् (संस्कृत ग्रन्थ)
३. श्री तीर्थकरचरित्रम् (संस्कृत ग्रन्थ)
४. सुशील स्वाध्याय रत्नाकर (श्री पंच प्रतिक्रमण सूत्रादि संग्रह हिन्दी सरलार्थ युक्त)
५. स्वाध्याय सुधा (नवस्मरण-त्रण भाष्य, छः कर्म ग्रन्थ - तत्त्वार्थ सूत्र - दशवैकालिक - कुलक संग्रह - ऋषि मण्डलादि स्तोत्रों का संग्रह)
६. श्री तीर्थकर परमात्माओं के पाँचों कल्याणकों की अलौकिकता
७. शीलदूतम् (सुशीलाभिधावृत्ति सहितम्)
८. श्री सरस्वती स्तोत्रम् (सार्थ)
९. विधियुक्त श्री पंच प्रतिक्रमण सूत्रादि संग्रह
१०. सुशील जीवन सौरभ (सचित्र हिन्दी)
११. मंगल स्मरण
१२. स्मरणिका (गुजराती)
१३. श्री वीतराग स्तोत्रम् (हिन्दी)
१४. सुशील गुरुवन्दना (हिन्दी)
१५. श्री सिद्धचक्र-नवपद स्वरूप दर्शन (हिन्दी)
१६. सार्थ श्री श्रमण क्रिया ना सूत्रो
१७. श्री महादेव स्तोत्रम् (संस्कृत टीकायुक्त)
१८. श्री चौदह नियम मार्गदर्शिका (हिन्दी)
१९. श्री जैन सिद्धान्त प्रवेश मार्गदर्शिका (हिन्दी)
२०. श्री तीर्थयात्रा संघ की महत्ता (हिन्दी)
२१. मंगलाचरणम् (संस्कृत टीकायुक्त)
२२. श्री सुशील गीत गँहुली संग्रह
२३. दीक्षा का दिव्य प्रकाश
२४. मासिक धर्म अर्थात् ऋतु सम्बन्धी प्राचीन मर्यादा
२५. श्री गणधरवाद काव्यम्
२६. छन्दोरत्नमाला
२७. मूर्ति की सिद्धि एवं प्राचीनता
२८. पढ़ो और पाओ
२९. श्री तत्त्वार्थसूत्रम् (भाग-१,२)
३०. सुशील विनोद कथा संग्रह
३१. साहित्य-रत्नमञ्जूषा
३२. जिनदर्शन-पूजन विधिसंग्रह
३३. जिनभक्ति भावना स्तोत्रम्
३४. सुशील महाकाव्यम्
३५. गुणस्थान क्रमारोह का स्वरूप
३६. जिनमूर्ति पूजा सार्द्ध शतक
३७. श्री तिलकमञ्जरी
३८. धर्मोपदेशश्लोक
३९. पर्युषण पर्व की महिमा



अवश्य पढ़ें ॐ ह्रीं श्रीं नमो नाणस्स पढ़कर ज्ञान प्राप्त करें

सर्वजनहिताय—सर्वजनसुखाय की सत्प्रेरणा से प्रकाशित,
मानव—जीवन में आध्यात्मिक चेतना का सजग प्रहरी, जीवन में
सुसंस्कारों की सौरभ प्रवाहित करने वाला हिन्दी मासिक पत्र

सुशील सन्देश

(स्थापित सन् १९८७)

प्रेरक :

परम पूज्य आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय
सुशीलसूरीश्वरजी महाराज साहब के शिष्यरत्न
पूज्य पंन्यासप्रवर श्री जिनोत्तम
विजयजी गणिवर्य महाराज

मानद सम्पादक :

नैनमल विनयचन्द्र सुराणा
सिरोही (राज.)

प्रकाशक :

सुशील फाउण्डेशन (रजि.)



सुशील सन्देश में आप क्या पढ़ेंगे?

जीवन में गुणगुनाहट कराने वाले गीत-संगीत-कविता

— काव्यकुञ्ज

जैन संस्कृति की गौरव गाथा गाने वाली मधुर शिक्षाप्रद कहानियाँ

— पढ़ो और पाओ

जैन तत्त्वज्ञान की विशद जानकारी हेतु स्वाध्याय-प्रश्नोत्तरी

— समाधान के आयाम

सुवचनों का अपूर्व संग्रह

— अनमोल मोती

ज्ञान के साथ में विविध चुटकुलों का संग्रह

— आओ आनन्द करें

प्रकाशित पुस्तक ग्रन्थों की समीक्षात्मक टिप्पणी

— साहित्य समीक्षा

विविध शासन-प्रभावना के अनुमोदनीय समाचार

— धन्य जिनशासन एवं

श्री वीतराग शासन प्रभावना

पाठकों के विविध विचार

— प्रतिक्रिया-मत-सम्मत

इन स्थायी स्तम्भों के अतिरिक्त विविध लेख, ऐतिहासिक कथाएँ, जीवन-निर्माण के उपयोगी लेख, तीर्थ महिमा, स्वास्थ्य चिन्तन पर लेख आदि का प्रकाशन होता है। सुशील सन्देश के ८ वर्ष में १८ भव्य विशेषांक प्रकाशित हुए हैं।

सदस्यता शुल्क :

एक वर्ष : १११/- रुपये

पाँच वर्ष : ४११/- रुपये

आजीवन : ७११/- रुपये

आजीवन स्थायी स्तम्भ : १५११/- रुपये

कार्यालय व सम्पर्क सूत्र :

सुशील सन्देश प्रकाशन मन्दिर

सुराणा कुटीर, रूपाखान मार्ग

पुराने बस स्टैण्ड के पास,

सिरोही - ३०७ ००१ (राज.)

S.T.D. 02972

फोन नं. 3330



विनीत :

सुशील फाउण्डेशन

❖ संघवी श्री जौहरीलाल-सुरेन्द्रकुमार पटवा, जैतारण

❖ शा. बाबु भाई पूनमचन्द जी, जावाल (ऊंझा)

❖ शा. सुखराज कपूरचन्द जी, अगवरी (बम्बई)

❖ शा. हनवन्तलाल जी मेहता, पाली

❖ शा. किशोरचन्द मीठालाल जी (जालोर वाला), पाली

॥ चउतिसापि जिणवरा तित्थरा मे पसीयन्तु ॥



श्रद्धा एवं समर्पण का आगार....

शांत-प्रशांत पुण्य भूमि में तीर्थ निर्माण....

एक स्वर्णिम इतिहास को सृजन करने वाला....

तन-मन के संताप को प्रशांत करने वाला....

आपका अपना प्यारा प्रभावी अभिनव तीर्थ....

आपकी श्रद्धा-भक्ति-समर्पण का अनूठा केन्द्र....



भारतभूषण

राजस्थान शणगार

गोड़वाड़गौरव

श्री अष्टापद जैन तीर्थ

सुशील विहार

वरकाणा रोड, मु. रानी स्टेशन

जिला- पाली (राजस्थान)

* सम्पूर्ण भारतवर्ष में अपने ढंग का प्रथम प्रयास *

* अभिनव तीर्थ-निर्माण योजना *

प्रेरक : परमपूज्य आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी महाराज साहब
 एवं पूज्य पन्थास प्रवर श्री जिनोत्तम विजयजी गणिवर्य महाराज साहब



卐 परिचय एवं प्रारूप 卐

- श्री अष्टापद जी तीर्थ जिनमन्दिर का नव-निर्माण
- श्री वर्द्धमान जिन पट्टपरम्परा-देव-गुरु मन्दिर
- चमत्कारिक अधिष्ठायक देवी-देवताओं का रमणीय मन्दिर
- आचार्य श्री लावण्यसूरि जैन ज्ञान मन्दिर
- आराधना धाम, श्रावक-श्राविका उपाश्रय, प्रवचन हॉल
- यात्रीगण सुविधा भक्ति योग्य धर्मशाला-आयंबिलशाला-भोजनशाला
- श्री जैन तीर्थ देवस्थान पेढी, प्याऊ आदि उपयोगी निर्माण
- श्री शान्तिधाम-वृद्धाश्रम तथा श्री साधर्मिक भक्ति सेवा योजना



卐 श्री अष्टापद तीर्थ 卐

卐 तीर्थ - महिमा 卐

प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव—आदिनाथ भगवान के निर्वाण—स्थल पर **चक्रवर्ती महाराज श्री भरत** ने वर्द्धकी रत्न द्वारा **“सिंह निषद्या”** नामक मणिमय जिनप्रासाद बनवाया। तीन कोस ऊंचे और एक योजन विस्तृत इस प्रासाद में स्वर्ग मण्डप जैसे मण्डप, उसके भीतर पीठिका, देवच्छन्दिका तथा वेदिका का भी निर्माण करवाया। पीठिका में कमलासन पर आसीन आठ प्रातिहार्य सहित शरीर लांछनयुक्त वर्ण वाली **चौबीस तीर्थकरों** की मणियों तथा रत्नों की प्रतिमायें विराजमान कीं।

इस चैत्य में महाराज भरत ने अपने पूर्वजों, भाइयों, बहिनों तथा विनम्र भाव से भक्ति प्रदर्शित करते हुए स्वयं की प्रतिमा भी बनवाई।

इस जिनालय के चारों ओर **चैत्यवृक्ष—कल्पवृक्ष—सरोवर—कूप—बावड़ियाँ** और मठ बनवाये। तीर्थ रक्षा के लिये दण्डरत्न द्वारा एक—एक योजन की दूरी पर आठ पेड़ियाँ बनवाई, जिससे यह **प्रथम तीर्थ अष्टापद** के नाम से विख्यात हुआ।

लोक के इस प्रथम जिनालय में भगवान श्री आदिनाथ एवं शेष २३ तीर्थकरों की प्रतिष्ठा करवाकर भक्तिपूर्वक **महाराज भरत** ने आराधना, अर्चना और वन्दना कर अनन्त सुख प्राप्त किया।

श्री सगरचक्रवर्ती महाराज के ६० हजार पुत्रों द्वारा तीर्थरक्षा, रावण—मन्दोदरी द्वारा अद्वितीय जिनभक्ति, श्री गौतम स्वामीजी द्वारा १५०३ तापसों को प्रतिबोध आदि अनेक प्रसंगों का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है।



जिनशासन प्रेमी श्री

सादर जय जिनेन्द्रपूर्वक प्रणाम।

श्री अष्टापद तीर्थ का निर्माण श्री रानी स्टेशन पर श्री राणकपुर-गोड़वाड़ पंचतीर्थ की मुख्य सड़क पर सुकड़ी नदी के किनारे पर उत्तर दिशा में होने जा रहा है। यह पावन भूमि **श्री वरकाणा रोड** पर स्थित करीब ५१ हजार वर्ग फीट में स्थित है। आराधना-साधना योग्य बहुत ही सुन्दर भूमि है। यह जमीन तीर्थनिर्माण हेतु **श्री अचलचन्दजी हजारीमलजी तलेसरा** ने गाँव को प्रदान की है।

शासनसम्राट् प. पू. **आचार्यमहाराजाधिराज श्रीमद्विजय नेमि-लावण्य-दक्ष सूर्येश्वरजी म. सा.** के पट्टधर राजस्थानदीपक, प्रतिष्ठाशिरोमणि प. पू. **आचार्यभगवन्त श्रीमद् विजय सुशील सूर्येश्वरजी म. सा.** एवं प. पू. **पंन्यासप्रवर श्री जिनोत्तम विजय जी गणिवर्य म. ने.** श्री चौमुख जी भगवान की प्रतिष्ठा के समय श्रीसंघ को **श्री अष्टापद तीर्थ-निर्माण** हेतु शुभ प्रेरणा दी थी।

पूज्य उपकारी गुरुदेवों की महान् प्रेरणा व मार्गदर्शन से **श्रीसंघ ने श्री अष्टापद जैन तीर्थ, सुशील विहार** का नव निर्माण करवाने का मंगलकारी निर्णय किया है एवं श्रीसंघ द्वारा गठित **निर्माण समिति** द्वारा कार्य प्रारम्भ हो गया है।

विलुप्त **श्री अष्टापद तीर्थ** को मूर्त रूप देने के लिए समस्त भारत के गौरव रूप श्री गोड़वाड़ पंचतीर्थ यात्रा की सड़क पर यह भव्य निर्माण होने जा रहा है।

शास्त्रों में उपलब्ध वर्णन के आधार पर २४ तीर्थकरों के वर्ण एवं आकार के अनुरूप प्रतिमाएँ इस अभिनव तीर्थ का मुख्य आकर्षण होंगी।

हमें पूर्ण विश्वास है कि आप इस तीर्थ की वन्दना कर जहाँ मंत्र-मुग्ध हो जायेंगे, वहीं **श्री अष्टापद तीर्थ वन्दना** का पुण्य लाभ भी संचित कर पायेंगे।

जिन शासन देव की महान् कृपा

हमारा पुरुषार्थ

✽

आपका सहयोग

(१) तीर्थ-निर्माण के प्रथम चरण में—

● श्री अष्टापदजी तीर्थ जिनमन्दिर

(जिनमन्दिर—निर्माण ४५०० वर्ग फीट की भूमि पर होगा, इस अष्टकोणीय जिनप्रासाद के चारों ओर गुलाबी पत्थर में कमल फूल की भव्य रचना होगी, जो अत्यधिक रमणीय व नयनाभिराम होगी)

● श्री वर्धमान जिनपट्टपरम्परा देव-गुरुमन्दिर

(निर्माता—श्री नैनमल जी विनयचन्द्र जी सुराणा, सिरौही)

● आचार्य श्री लावण्य सूरि जैन ज्ञानमन्दिर व आराधना भवन

● श्री श्राविका आराधना भवन—उपाश्रय

[पू. साध्वी श्री दिव्यप्रज्ञाश्रीजी म. (पूज्य माताजी महाराज) तथा पू. साध्वी श्री शीलगुणाश्री जी म. के चल रही श्री वर्धमान तप की १०० ओली आराधना निमित्त]

● श्री अष्टापद जैन तीर्थ, सुशील विहार देवस्थान पेढ़ी, रानी

● धर्मशाला (१६ ब्लॉक युक्त) यात्री विश्रान्ति गृह (१६ कमरों युक्त)

● वारिगृह—प्याऊ

(२) तीर्थ-निर्माण के द्वितीय चरण में—

● श्री भैरव संघ भवन

● श्री वर्धमान आयम्बिल भवन

● श्री भोजनशाला भवन

● श्री अष्टापद जैन तीर्थ, सुशील विहार प्रवेश द्वार (जैन संस्कृति की महान् कलायुक्त)

● श्री शान्ति उपवन

आदि के निर्माण की योजना शीघ्र प्रारम्भ करने का आयोजन है।

(३) तीर्थ-निर्माण के तृतीय चरण में—

- धर्मशाला के उपरिभाग में कमरे, हॉल, ब्लॉक आदि का निर्माण—कार्य होगा। एवं श्री शान्तिधाम-वृद्धाश्रम का निर्माण तथा श्री साधर्मिक भक्ति सेवा फण्ड की स्थापना की जाएगी।



श्री अष्टापद जैन तीर्थ सुशील विहार का खनन मुहूर्त (भूमिपूजन समारोह) वैशाख शुक्ल १० शुक्रवार २० मई, १९६४ के शुभ दिन मरुधरदेशोद्धारक परमपूज्य आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय सुशील सूरीश्वरजी म. सा. एवं पूज्य पंन्यासप्रवर श्री जिनोत्तम विजय जी गणिवर्य म. की शुभ निश्रा में हुआ है एवं दोनों जिनमन्दिरों का शिलान्यास समारोह श्रावण शुक्ल ३, बुधवार १० अगस्त, १९६४ को सुसम्पन्न हुआ है। निर्माण कार्य तीव्र गति से प्रगति पर है।

हमारे अंतर की बात . . .

आइये... सब साथ मिलकर अभिनव तीर्थ—निर्माण करें

श्री अष्टापद तीर्थ—निर्माण के आयोजन की संक्षिप्त रूपरेखा आपके सामने है।

आप भी मानते होंगे कि वर्तमान काल में इस विलुप्त तीर्थ के नव निर्माण की आवश्यकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। सम्पूर्ण भारतवर्ष में अपने ढंग का यह प्रथम भव्य प्रयास है।

जो सकल संघों के सहयोग से ही पूर्ण होगा।

सुकृत में लाभ लेने की अनेक योजनाएँ हैं।

पुण्यशाली महानुभावों से सादर निवेदन है कि — इस महान् आयोजन में उदार हृदय से तन—मन—धन से सहयोग प्रदान कर पुण्यानुबन्धी पुण्योपार्जन का लाभ अर्जित करें।

इस कार्य हेतु इच्छुक भाग्यशाली परम पूज्य श्री सुशील गुरुदेव श्री एवं तीर्थ निर्माण समिति से सम्पर्क कर पुण्य लाभ लें।

卐 जयजिनेन्द्र 卐

श्रमणभगवान श्री महावीर परमात्मा के वर्तमान जैनशासन में उन्हीं के
पंचम गणधर श्री सुधर्मास्वामीजी म. की सुविहित पट्टपरम्परा के
७७वें पाट पर सुशोभित



श्री पंचप्रस्थानमय सूरिमंत्र समाराधक
परम पूज्य आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय सुशील
सूरीश्वरजी महाराज साहब

A portrait of a man with a full black beard and glasses, wearing a white shawl. He is holding a white book or paper in his hands. The background is a solid red color.

(प्रथम पक्ष का शेष)

को आपने विनय में समविष्ट कर लिया है। तीर्थोद्धार में आपकी रुचि अद्वितीय है। आप कहते हैं- तीर्थ संस्कृति के अनुपम केन्द्र है। समाज की सत्यव्यसनी से मुक्त करने हेतु वे कर्मयोगी सतत जागरूक हैं। कवि महर्षि भट्टहरि के शब्दों में वे 'अलंकरण भूयः' हैं। वे हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, गुजराती आदि भाषाओं के पण्डित हैं, तथा साहित्यशिरोमणि साहय, महर्षि हैं। आपश्री जी की शुभनिश्चा में १९८ जिनमन्दिरों की अंशजलाशय-प्रतिष्ठाप समपन्न हुई है। कर्णसागर की शत-शत प्रणाम।

१. साहित्यरत्न, शास्त्रविशारद एवं कविपूषण अलंकरण - श्री चरित्रनायक को मुंडारा में पूज्यपाद आचार्य भगवन्त श्रीमद विजय-दक्ष सूरिश्वरजी म. सा. के वरद हस्त से अर्पित है।

३. मरुधरदेशोद्धारक - वि. सं. २०२६ में रानी स्टेशन के प्रतिष्ठा प्रसंग पर श्रीसंघ द्वारा।

४. तीर्थप्रभावक - वि. सं. २०२८ में श्री चंडलेश्वर तीर्थ में संघमाला के भव्य प्रसंग पर श्री केकड़ी संघ द्वारा।

५. राजस्थान-दीपक - वि. सं. २०३१ में पाली नगर में प्रतिष्ठा प्रसंग पर श्रीसंघ द्वारा।

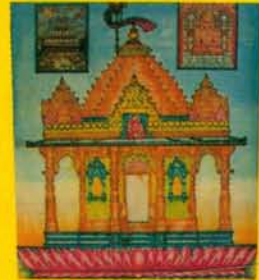
६. शासनरत्न - वि. सं. २०३१ में जोधपुर नगर में प्रतिष्ठा-प्रसंग पर श्रीसंघ द्वारा।

19. श्री जैन शासन शण्णगर - वि. सं. २०४६ मेडता शहर
में श्री अंजनशलाका प्रतिष्ठा महोत्सव के प्रसंग पर।

c. प्रतिष्ठा शिरोमणि - दि. सं. २०५० श्री नाकोडा तीर्थ पर चातुर्मास के प्रसंग पर नाकोडा ट्रस्ट मण्डल द्वारा।



सिरोही ज्ञान मन्दिर



श्री अष्टापद जैन तीर्थ



* प्रकाशन सौजन्य *

श्री श्वेताम्बर वीशा ओसवाल जैन संघ
बिजोवा नगर, जिला-पाली (राजस्थान)

॥ जैनं जयति शासनम् ॥